कोर्सकोड–**MSKTC-104**
(CBCS)

पाठ्यक्रम–चतुर्थ

एम०ए०संस्कृत, प्रथमसत्र

सांख्य तथा वेदान्त

इकाई1 से22

लेखक : डॉ. दीपलता

दूरवर्ती शिक्षा एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र

हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय,

समरहिल, शिमला - 171005

विषयानुक्रमणिका

क्र.सं.	इकाई	विषय	पृष्ठ संख्या
1	प्रथम	सांख्यदर्शन : एक परिचय	2–15
2	द्वितीय	इन्द्रिय महतादितत्त्वएवंसत्कार्यवाद	16–27
3	तृतीय	त्रिगुण, व्यक्त–अव्यक्त एवंप्रकृतिऔरपुरुष	28–40
4	चतुर्थ	कैवल्य, पुरुष प्रकृतिसंयोगतथाप्रमेय	41–50
5	पंचम्	इन्द्रिय ज्ञान एवंपंचतन्मात्रा ज्ञान	51–57
6	षष्ठ	करण एवंबुद्धि तत्त्व	58–67
7	सप्तम्	तत्त्वसृष्टि एवं शरीरविवेचन	68–75
8	अष्टम्	प्रत्यय सृष्टि	76–84
9	नवम्	तुष्टि एवंसिद्धि विवेचन	85–93
10	दशम्	प्रकृति–पुरुष विवेचन	94–100
11	एकादश	जीवात्माबन्धनमोक्ष	101–109
12	द्वादश	कैवल्य स्वरूप	110–117
13	त्रयोदश	वेदान्तसार : एक परिचय	118–135
14	चतुर्दश	प्रयोजन, समष्टि–व्यष्टि	136–154
15	पंचदश	सृष्टिप्रक्रिया	155–165
16	षोड्श	सूक्ष्म एवंस्थूल शरीर	166–177
17	सप्तदश	अध्यारोप एवंअपवाद	178–194
18	अष्टादश	महावाक्य	195–201
19	एकोनविंशति	तत्त्वमसि	202–212
20	विंशति	षड्लिंग	213–222
21	एकविंशति	समाधि	223–232
22	द्वाविंशति	जीवन्मुक्ति	233–245

प्रथम इकाई

सांख्यदर्षन : एक परिचय

संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3सांख्यकारिका

1.3.1 दर्षन एवं सांख्यदर्षन का वर्णन

1.3.2 सांख्यदर्षन का मूल उद्देष्य

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 1

1.4सांख्यकारिका के रचयिता एवं उनका स्थितिकाल

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 2

1.5 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (1 से 6 कारिका तक)

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 3

1.6 सारांष

1.7 कठिन शब्दावली

1.8 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

1.9 अनुषंसित ग्रन्थ

1.10 अभ्यास प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

दार्शनिक अरस्तु का कथन है–"Philosophy begins in Wonder"अर्थात् ''दर्शन का प्रारम्भ आश्चर्य से होता है। वस्तुतः इस अद्भुत संसार के क्रिया–कलापों को देखकर मानव मस्तिष्क चकित रह जाता है तथा वह यह विचार करने के लिए बाध्य हो जाता है कि इस सुप्रतिष्ठित एवं सुव्यवस्थित जगत् का कर्त्ता कौन है? यह विश्व कहां से आया है? हम कहां से आये हैं? यथार्थ सत्ता क्या है? आदि। इसी प्रकार के अगणित विस्मयकारी प्रश्नों के समाधानार्थ मानव–मस्तिष्क अनवरत रूप से विचारशील रहता है। निरन्तर चिन्तन की इस कला का नाम ही दर्शन है।

1.2 उद्देश्य

- सृष्टि के कल्याणार्थ

- सुख की प्राप्ति

- ऋषि–मुनियों द्वारा दर्शनशास्त्र का प्रादुर्भाव

1.3 सांख्यकारिका

1.3.1 दर्षन एवं सांख्यदर्षन का वर्णन

दर्शन

दर्शन शब्द के लिए आंग्लभाषा में फिलासफी शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है– ज्ञानानुराग। परमात्मा की इस सृष्टि में मनुष्य ही सर्वाधिक बुद्धिसम्पन्न एवं चिन्तन तथा मनन की क्षमता से युक्त प्राणी है। अपने मन की स्वाभाविक कोतूहल पूर्ण एवं संशयात्मक प्रवृत्ति की संतुष्टि हेतु ज्ञान को खोज निकालने की उसकी सदा से इच्छा रहती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी बौद्धिक प्रतिभा के अनुरूप उस चरमसत्य ज्ञान की खोज में प्रत्यनशील रहता है। मनुष्यों के अथक प्रयासशील एवं चिन्तनशील होने का एकीकृत रूप ही दर्शन है। मानव सभ्यता, संस्कृति और बौद्धिक विकास के साथ ही दार्शनिक विचारधारा भी दिन–प्रतिदिन विकासोन्मुख रही है। इरविन एडमन महोदय का विश्वास है– ''जब तक मनुष्य सांस लेता रहेगा और आँखों में देखने की शक्ति रहेगी। तब तक जीवन के ऐसे अन्तिम प्रतिमानों की खोज होती रहेगी। जिनसे ह्रदय और मस्तिष्क दोनों की स्वीकृति प्राप्त हो सकेगी।''

देश काल और परिस्थितियों के प्रभाववश मनुष्यों के विचारों रीति–रिवाजों और जीवनयापन की पद्धतियों में भले ही अन्तर हो जाये, किन्तु दर्शन एक ऐसा बिन्दु है, जहां देश काल और परिस्थितियों की सीमायें अर्थहीन हो जाती है यही कारण है कि दर्शन सम्बन्धी पाश्चात्य और पौर्वात्य विचारों में अन्तर नहीं है। पौर्वात्य बौद्धिक जगत् में दर्शन जीवन के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसके द्वारा अदृश्य विषयों का दर्शन होता हैं संस्कृत व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार भी दर्शन देखने का साधन है क्योंकि इसका निर्माण दृश् धातु में लयुट् प्रत्यय लगाने से हुआ। दर्शन की क्रिया तथा उसके फल दोनों ही अलौकिक हैं। इन्हें चर्म चक्षुओं की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि की अधिक आवश्यकता है, किन्तु जिज्ञासा के अभाव में अन्तर्दृष्टि मात्र पंगु है। जिज्ञासा की प्रेरक शक्ति तथा अन्तर्दृष्टि के द्वारा ही बालक नचिकेता और ऋषिकुमार श्वेतकेतु उस गूढ़तर ज्ञान को उपलब्ध कर सके जो उन्हें जीवन तथा मृत्यु की शृंखला के पार ले जा सका।

सांख्यदर्शन

सांख्यदर्शन आस्तिक एवं श्रेष्ठ दर्शन है। इसके प्रवर्त्तक कपिल मुनि माने जाते हैं। सांख्य की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। व्युत्पत्ति के आधार पर सांख्य शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'चक्षिङ्' धातु से अङ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है। सम्यक् ख्याति अर्थात् सम्यक् दर्शन या सम्यक् ज्ञान सांख्य शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ होता है। कुछ दार्शनिकों ने 'सांख्य' शब्द के दो अर्थ किए हैं– सांख्य तथा ज्ञान। यथा–**संख्यायन्ते गणयन्ते येन तत् सांख्यम् संख्यायते। प्रकृतिपुरुषान्यताख्यातिरूपोऽवबोधो सम्यक् ज्ञायते येन तत्सांख्यम्।**

1.3.2 सांख्यदर्षन का मूल उद्देष्य

त्रिगुणात्मिका प्रकृति का परिणामस्वरूप यह जगत् त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) दुःखों से सन्तप्त है। इस भूमण्डल का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होगा जो इस त्रिविध दुःखों का विषय न बना हो, या ऐसा कोई पदार्थ नहीं इस संसार में जो त्रिगुणात्मक (सत्व, रजस्, तमस् स्वरूप) न हो प्रत्येक प्राणी तथा प्रत्येक पदार्थ में अनुस्युत ये गुण क्रमशः सुख, दुःख मोहात्मक हैं, यदि संसार में कहीं सुख है तो वह भी दुःख से रहित (अमिश्रित) नहीं है। ऐसी दशा में यह कहना पड़ेगा कि यह संसार दुःख बहुल है। इन्हीं दुःखों के निवारण के लिए प्रत्येक प्राणी सचेष्ट रहता है, क्योंकि प्राणीमात्र की प्रवृत्ति सुख के लिए होती है एतदर्थ ही मनुष्य के जितने भी कार्यकलाप हैं इन सबका उद्देश्य यही है कि वह आनन्द की प्राप्ति करे, परन्तु जब तक यह नश्वर शरीर है, तब तक दुःखामिश्रित (विशुद्ध) सुख की उपलब्धि कहां? जो सुख हमें यहां प्राप्त है, वह भी ऐकान्तिक व आत्यन्तिक नहीं है। हमें तो ऐसे निरतिशय नित्य सुख की कामना करनी है जिसमें किसी देश विशेष व काल विशेष में भी दुःख की छाया तक न दिखाई दे। वही सुख त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्तिस्वरूप परमपुरुषार्थ माना जाएगा। सांख्य दर्शन के अनुसार इसी परम पुरुषार्थ को प्राप्त करना मानव मात्र का परम कर्त्तव्य है।

इस निरतिशय सुखस्वरूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति तभी सम्भव है जब त्रिगुणात्मक प्रकृतिजन्य त्रिविध दुःखों का कारण मालूम नहीं होगा, तब तक उनकी निवृत्ति भी सम्भव नहीं है। अतः इन दुःखों का हमें मूल कारण ढूंढ लेना चाहिए, क्योंकि बिना निदान जाने किसी रोग की समुचित चिकित्सा नहीं हो सकती है इन दुःखों का कारण है अज्ञान (अविवेक, अविद्या) ज्ञान का विरोधी है। 'सांख्य–दर्शन' में ज्ञान का अभिप्राय विवेकज्ञान अर्थात् प्रकृतिपुरुष का भेदज्ञान है। ज्ञान विवेक का ठीक उल्टा अविवेक हुआ। इसी अविवेक के कारण प्राणी संसार की वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान सकता है अर्थात् यह प्रकृति है, ये गुण है– यह इनसे पृथक पुरुष है, इस प्रकार का भेद ज्ञान नहीं होता हैं। फलतः वह गुणों में या उनके परिणामस्वरूप कारणों में विद्यमान दुःख को अपनी आत्मा का दुःख समझ बैठता है– यही अविवेक दुःखों का मूल कारण है। इसी अविवेक अविद्या भ्रम आदि के मूलोच्छेद के लिए ही सांख्यदर्शन का उदय हुआ है जिससे कि विवेकज्ञानपूर्वक तत्त्वज्ञान से मोक्ष अर्थात् चार पुरुषार्थों की उपलब्धि हो सके।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. सांख्यदर्शन किस प्रकार का दर्शन है?
2. दुःखत्रय की चर्चा किस ग्रन्थ में की गई है?

1.4 सांख्यकारिका के रचयिता एवं उनका स्थितिकाल

सांख्कारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण हैं। परमार्थ नाम के किसी चीन देश के पण्डित ने सांख्यकारिका का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। यह कार्य ईस्वीसंवत् की छठी शताब्दी में हुआ था। अतः ईश्वरकृष्ण का छठी शताब्दी के पूर्व होना निश्चित है। वार्षगण्य के शिष्य विन्ध्यवासी ने हिरण्यसप्तति नाम के ग्रन्थ की रचना की थी। कुछ विद्वान् इस हिरण्यसप्तति को ही सांख्यकारिका तथा

विन्ध्यवासी को ही ईश्वरकृष्ण मानते हैं। वसुबन्धु का आविर्भाव ईस्वी संवत् के चतुर्थ शतक में हुआ था। अतः कुछ विद्वानों के मतानुसार ईश्वरकृष्ण का काल चतुर्थ शतक के पूर्व तृतीय शतक है अन्य ऐतिहासिक इस मत को नहीं मानते। उनके अनुसार हिरण्यसप्तति तो सांख्यकारिका है परन्तु विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण नहीं। उनका कथन है कि विन्ध्यवासी का असली नाम रूद्रिल था। विन्ध्य के जगंलों में रहने के कारण उनका नाम विन्ध्यवासी पड़ गया था, वे अपने मत का समर्थन करने के लिए तत्त्वसंग्रह से–

यदेव दधि तत् क्षीरं यत् तद्दधीति च।

वदता रूद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिता।।

यह पद्य उपस्थित करते हैं। इसके अतिरिक्त शान्तरक्षित ने अपने ग्रन्थों में ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी का अलग–अलग उल्लेख किया है। इन कारणों से विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्ण एक ही पुरुष नहीं माने जा सकते। यह तो ईश्वरकृष्ण के काल के विषय में इन लोगों का कथन है कि जैनों के 'अनुयोगद्वार सूत्र' नाम के ग्रन्थ में 'कणगसतरी' का उल्लेख मिलता है। यह 'कणगसतरी' हिरण्यसप्तति या सांख्यकारिका है। 'अनुयोगद्वार सूत्र' का निर्माण काल ईस्वी सम्वत् के प्रथम शतक के नीचे नहीं जाया जा सकता। पूर्व विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि ईश्वरकृष्ण सांख्य के मूल द्वारा संवर्धित मुख्य सांख्यीय विचारधारा के अनुयायी थे एवं एक विशिष्ट धारा के पोषक आचार्य वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण से कई शताब्दी पूर्व तथा उस धारा के अनुयायी विन्ध्यवास उनके पश्चात् हुए थे। यह बात स्पष्ट कर आए है कि विन्ध्यवास का समय बौद्ध परम्परा तथा कुछ विद्वानों के अनुसार ईस्वी पंचम शतक के मध्य तक तथा बेल्वल्कर के अनुसार तृतीय शतक के मध्य सिद्ध होता है। ईश्वरकृष्ण का समय कुशान–काल अर्थात् ईस्वी प्रथम शतक के अन्त से पूर्व प्रतीत होता है। ईश्वरकृष्ण की कुशान–काल से पर्याप्त पूर्ववर्तिता केवल उनके टीकाकार माठर के कनिष्ठ के शासन–काल में रखे जाने पर ही आधारित नहीं है। अपितु इस सुदृढ़ तथ्य पर भी आधारित है कि आधुनिक विद्वानों द्वारा ईस्वी प्रथम शतक का अनुमान किए जाने वाले प्राचीन जैन–ग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' में कनगसतरी (संस्कृत कनकसतति) नामक ग्रन्थ का उल्लेख है, जो पं. गोपीनाथ कविराज, पं. उदयवीर शास्त्री तथा अन्य अनेक विद्वानों के अनुसार ईश्वरकृष्ण का सांख्यसप्तति या सांख्यकारिका नामक ग्रन्थ ही है जब विन्ध्यवास का समय किसी भी प्रकार से 250 ई. पूर्व का नहीं हो सकता किन्तु इसके विपरीत ईश्वरकृष्ण का समय 100 ई. से पर्याप्त पूर्व का सिद्ध होता है, तब ईश्वरकृष्ण का विन्ध्यवास से कई शताब्दी पूर्व का होना ध्रुव सत्य है। किन्तु इसके विपरीत कुछ विद्वान ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवास से परवर्ती आचार्य मानते है। जरनल आव् इण्डियन हिस्ट्र, भाग–6 से पृ. 36 पर मुद्रित अपने एक लेख में श्रीयुत विनयतोष भट्टाचार्य ने ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवास से परवर्ती सिद्ध करने में यह हेतु दिया है कि ईश्वरकृष्ण ने सम्पूर्ण सांख्य–अर्थों को प्रस्तुत करने के लिए रचित केवल 72 आचार्यों के संक्षिप्त ग्रन्थ में तीन आर्यायें सूक्ष्म शरीर के ही प्रतिपादन में लिखी है, जिससे प्रकट होता है कि ये विन्ध्यवास द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म शरीर के निषेध या अभाव का खण्डन करना चाहते हैं। किन्तु भट्टाचार्य महोदय का यह कथन नितान्त असत्य है। न तो सूक्ष्म शरीर का वर्णन ही तीन कारिकाओं में है और न सूक्ष्म शरीर का वर्णन प्रस्तुत करने वाली 40वीं कारिका में

विरोधी मत के खण्डन की भावना ही ध्वनित होती है। इसमें तो विषय का केवल साधारण रूप में वर्णन है, जैसा कि अन्य कारिकाओं में अन्य विषयों का ऐसी स्थिति में भट्टाचार्य महोदय का कथन अप्रमाणिक एवं असत्य ही कहा जायेगा। कारिका दर्शनीय है–

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।

संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्।।

विद्वानों के अनुसार 'कनकसप्तति' के 'सांख्यकारिका' से अभिन्न ग्रन्थ होने का उल्लेख किया जा चुका है। इसके विपरीत डॉ. बेल्वल्कर का मतहै कि ईश्वरकृष्ण–रचित 'सांख्यकारिका' या 'सांख्यसप्तति' का हिरण्यसप्तति सुवर्णासप्तति नाम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। भोजकृत राजमातण्ड नाम योगसूत्र वृति में 4122 सूत्र पर विन्ध्यवास के दो वाक्य उद्धत है, जिनकी रचना से प्रतीत होता है कि वह व्याख्या ग्रन्थ रहा होगा। इसीलिए यह अधिक सम्भव है कि ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं पर विन्ध्यवास ने हिरण्यसप्तति नाम व्याख्या लिखी हो। हिरण्यसप्तति नाम के सम्बन्ध में डॉ. बेल्वल्कर का सुझाव है कि सांख्य के मौलिक सिद्धान्तों में से एक हिरण्य या हिरण्यगर्भ के आधार पर सांख्यकारिका का नाम हिरण्यसप्तति हो सकता है। बेल्वल्कर महोदय का मत समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि सांख्य में इस प्रकार का कोई भी सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में कुई–ची (Kuei-chi)का यह कथन ही अधिक सम्भव एवं समीचीन प्रतीत होता है कि सांख्य सप्तति के रचयिता को स्वर्ण भेंट किए जाने के कारण इसी ग्रन्थ के 'हिरण्यसप्तति' 'कनकसप्तति' अथवा सुवर्णा सप्तति नाम पड़ गए होंगे। विन्ध्यवास के जो उद्धरण पीछे संगृहीत है, वे किसी व्याख्या ग्रन्थ के नहीं ज्ञात होते और सांख्य सप्तति की व्याख्या के तो और भी नहीं क्योंकि सांख्य सप्तति एवं कई उद्धरणों के विषयों में बहुत वैषम्य या भेद दिखाई पड़ता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि विन्ध्यवास का ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण की कृति की व्याख्या है, तब तो डॉ. बेल्वल्कर को भी यह बात माननी पड़ेगी किवह व्याख्या गद्य में लिखी गई होगी क्योंकि योगवृति में उद्धत विन्ध्यवास वचन गद्यात्मक ही हैं। जब वह व्याख्या गद्य में रही होगी तब उसका हिरण्य सप्तति नाम कैसे सम्यक् होगा? क्योंकि 'सप्तति' यह गणनापरक शब्द गद्य के सम्बन्ध में कदापि प्रयुक्त नहीं कहा जा सकता तथा गद्य की गणना कभी भी पद्यवत् नहीं हो सकती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हिरण्य सप्तति विन्ध्यवास–कृत व्याख्या का नाम अपितु सांख्य या सांख्यकारिका का ही नामान्तर रहा होगा।

डॉ. तकाकुसु ने सांख्यकारिका और उसकी संस्कृत–टीका, जो परमार्थ कृत चीनी अनुवाद का मूल रूप कही जाती है, दोनों का कर्त्ता ईश्वरकृष्ण को ही माना है। चीन और जापान की परम्परा में सामान्यतः ईश्वरकृष्ण को कारिकाकार तथा बोधिसत्व वसुबन्धु को टीकाकार मानते हैं।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सांख्य –कारिकाओं की संख्या के सम्बन्ध में उठाया जाता है। स्वयं ग्रन्थकार ने ही ग्रन्थ के अन्त में कारिकाओं की संख्या 70 बताई है और उनका स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध होने पर इस विषय में किसी प्रकार की शंका के लिए स्थान नहीं रह जाता। चूंकि वर्तमान रूप में इस

ग्रन्थ की सांख्य–सिद्धान्त विषयक 68 ही कारिकायें उपलब्ध है 69 वीं कारिका में इस सिद्धान्त के कपिलोपदिष्ट होने की बात कही गई है, सांख्यकारिका का अध्ययन करके एक संशय मन में यह भी उठता है कि ईश्वरकृष्ण ने दूसरी कारिका में कहा है–

"तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात्।"

अर्थात् दुःख निवारण के उपाय बताते हुए उन्होंने कहा कि सदैव के लिए त्रिविधतापों का उन्मूलक व्यक्ताव्यक्त और 'ज्ञ' का ज्ञान है अग्रिम कारिकाओं में उन्होंने व्यक्ताव्यक्त की व्याख्या दी है परन्तु 'ज्ञ' के विषय में कोई पृथक् एवं स्पष्टोल्लेख नहीं है ऐसा प्रतीत होता है कि एक कारिका कहीं–गुम या प्रारम्भिक गुरु–शिष्य परम्परा में लुप्त हो गई है। यद्यपि पुरुष की विशेषताएं अवश्य है परन्तु जैसा वर्णन व्यक्त एवं अव्यक्त का है वैसा सटीक वर्णन 'ज्ञ' का नहीं है। ईश्वरकृष्ण जैसा अद्वितीय प्रतिभाशाली दार्शनिक ऐसी त्रृुटि नहीं कर सकता है यह विचारणीय विषय है। 70वीं कारिका में सांख्य शास्त्र की गुरु परम्परा दी गई है। शेष 2 कारिकायें प्रस्तुत ग्रन्थ के ही विषय में कही गई है जो यह बताती है कि ईश्वरकृष्ण ने शिष्य परम्परा से प्राप्त हुए सांख्य–शास्त्र के 70 ही कारिकाओं में संक्षिप्त करके रख दिया है और इनमें सन् 1923 ई. के इण्डियन ऐण्टीक्वैरी के जुलाई वाले अंक में पं. श्रीधर शास्त्री पाठक ने इस विषय पर जो विचार प्रस्तुत किये है, वे बड़े संगत है।

ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका की 71वीं तथा 72वीं कारिका में स्वयं अपने नाम का परिचय देते हुए यह स्वीकार किया है कि उसने गुरु–शिष्य परम्परा से सांख्य का ज्ञान प्राप्त करके अपनी तीव्र बुद्धि से आर्या छन्दों में आख्यायिकाओं तथा खण्डन–मण्डनों या बाद –पदवादों को छोड़ कर सांख्य के प्रमुख तत्त्वों का प्रतिपादन 70 कारिकाओं में अत्याधिक निपुणता के साथ किया है।

स्वयं आंकलन प्रष्न – 2

1. सांख्यकारिका के रचयिता कौन हैं?
2. ईश्वरकृष्ण का स्थिति काल कब है?

1.5 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (1 से 6 कारिका तक)

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्।। 1।।

अन्वयः–दुःखत्रयाभिघातात्, तदपघातके, हेतौ, जिज्ञासा, एकान्तात्यन्ततः, अभावात्, दृष्टे, सा, अपार्था, चेत्, न।।

शब्दार्थः– दुःखत्रयाभिघातात् – आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक– इन तीन प्रकार के दुःखों के प्रहार के कारण, **तदपघातके** –उनको दूर करने वाले, **हेतौ** –साधन या उपाय के विषय में, जिज्ञासा जानने की इच्छा, **एकान्तात्यन्ततः–एकान्ततः** – अवश्य ही, तथा, **अत्यन्तत** –पूर्णरूप से या सर्वदा के लिए, अभावात् न होने के कारण, **दृष्टे** –प्रत्यक्ष या लौकिक उपाय में, **सा** –वह जिज्ञासा अपार्था निरस्त अर्थात् हल हो जाती है, **चेत्** –यदि, **इति** –इस प्रकार, **न** –नहीं।।

अर्थः—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक— इन तीन प्रकार के दुःखों के प्रहार के कारण उनको दूर करने वाले साधन या उपाय के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए। अवश्य ही तथा सर्वदा के लिए न होने के कारण प्रत्यक्ष या लौकिक उपाय से वह जिज्ञासा हल हो जाती है; यदि ऐसा कोई कहता है इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है।।

व्याख्या —इस संसार में तीन प्रकार के दुःखों से प्रायः सभी पुरुष दुःखित देखे जाते हैं। वे तीन प्रकार के दुःख ये हैं— 1. आध्यात्मिक दुःख। यह भी दो प्रकार का होता है — 1. शरीर आध्यात्मिक दुःख एवं 2. मानस आध्यात्मिक दुःख। इनमें शरीर दुःख ज्वर, अतिसार आदि हैं। मानस दुःख—प्रिय के वियोग से एवं अप्रिय शत्रु आदि के संयोग आदि से मन में सन्ताप, क्लेश आदि का होना है। इन दोनों प्रकार के दुःखों की — औषध—सेवन, मनोज्ञ स्त्रीसेवन आदि आभ्यन्तर उपायों से ही शान्ति होती है; अतः ये 'आध्यात्मिक दुःख' कहलाते हैं। साथ ही बाह्य उपाय साध्य दुःख भी दो प्रकार के हैं— 1. आधिभौतिक एवं 2. आधिदैविक। इनमें आधिभौतिक दुःख— मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प आदि से पीड़ा आदि कहलाता है। आधिदैविक दुःख— ग्रह, भूत, प्रेत, पिशाच आदि के आवेश से तथा शीत, उष्ण, वर्षा, वायु आदि से होता है। ये सभी दुःख अन्तःकरण वृत्ति हैं और इन दुःखों के आघात का अनुभव प्रत्येक आत्मा को होता है। अतः ये दुःख सभी को क्लेश और सन्ताप देने वाले हैं। इसलिए इनको दूर करने की इच्छा भी सभी को होती है और सभी लोग अपने—अपने दुःखों को दूर करना चाहते हैं और होनी भी चाहिए; क्योंकि इन दुःखों के दूर करने का सच्चा और अचूक उपाय केवल तत्त्वज्ञान ही है और वह तत्त्वज्ञान इस सांख्यशास्त्र से ही हो सकता है। अतः सभी को इस सांख्य शास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। यद्यपि शरीर दुःख ज्वर आदि रोगों की निवृत्ति सेवन, रसायन—भक्षण आदि से भी हो सकता है। मानस दुःख—प्रिया—वियोग आदि की निवृत्ति, प्रिया—संगम आदि से भी हो सकती है। आधिभौतिक दुःखों की निवृत्ति निर्भय स्थान में रहना, नीति से चलना आदि लौकिक सुगम उपायों से भी हो सकती है। आधिदैविक दुःख—ग्रहपीड़ा, भूत आदि की बाधा आदि की निवृत्ति मन्त्र, तन्त्र, मणिधारण आदि सरल उपायों से भी हो सकती है। अतः सांख्यशास्त्र में कहे हुए कठिन उपाय के उपार्जन में प्रवृत्त होना आवश्यक नहीं है, तथापि इन लौकिक उपायों से निश्चित रूप से सर्वथा इन दुःखों की निवृत्ति नहीं होती है; क्योंकि औषध आदि के सेवन करने पर भी रोग आदि प्रायः निवृत्त नहीं होते— ऐसा देखा जाता है और यदि रोग, सन्ताप, पीड़ा आदि कुछ काल के लिए लौकिक उपायों से निवृत्त हो भी जाते हैं, तो भी वे पुनः उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं; क्योंकि लौकिक उपाय इन दुःखों को निश्चय रूप से तथा सदा के लिए कभी नष्ट नहीं कर सकते; अपितु केवल शास्त्रीय उपाय से ही इन दुःखों की सच्ची और सदा के लिए निवृत्ति की जा सकती है। अतः इस सांख्यशास्त्र को पढ़कर, तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर अपने त्रिविध दुःखों को दूर करना प्रत्येक प्राणी का आवश्यक कर्त्तव्य है— यह सिद्ध हो जाता है।।

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।। 2।।

अन्वयः—आनुभविक, दृष्टवत्, हि, सः, अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्, तद्विपरीतः, श्रेयान्।।

शब्दार्थः— आनुश्रविकः —वैदिक कर्मकलापरूप, **दृष्टवत्** —लौकिक उपाय के सदृश ही, **हि** —क्योंकि, **सः** —वैदिक कर्मकलापरूप उपाय, **अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः—अविशुद्धिः** —अशुद्धता, **क्षयः** —नाश अर्थात् नष्ट हो जाने वाले फल, **तथा अतिशयः** —कमी—पेशी अर्थात् न्यूनाधिक परिणाम से युक्त है, **व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्—व्यक्त** —कार्य, **अव्यक्त** —कारणरूप प्रकृति, **ज्ञ** —पुरुष के, **विज्ञानात्** —विवेक ज्ञान से अर्थात् विवेक ज्ञान कराने के कारण, **तद्विपरीतः** —लौकिक तथा वैदिक उपायों से विपरीत, **श्रेयान्** —श्रेयस्कर।।

अर्थः—वैदिक कर्म—कलापरूप उपाय भी लौकिक उपायों के समान ही है। क्योंकि वह अशुद्धि, विनाश तथा विषमतारूप दोषों से युक्त है। अतः व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के विवेकज्ञान को कराने के कारण लौकिक तथा वैदिक उपायों से विपरीत अधिक श्रेयस्कर है।।

व्याख्या —यद्यपि दुःख की निवृत्ति और स्वर्गीय सुख की प्राप्ति के उपाय सोमयाग आदि वेदों में कहे हैं और उनके करने से स्वर्ग की प्राप्ति होने से सब दुःख दूर हो जाते हैं; क्योंकि सर्वविध दुःखों से रहित, निरन्तर एवं अनायास इच्छामात्रलभ्य सुखविशेष का तथा उस प्रकार के विलक्षण सुख को देने वाले स्थान—विशेष का ही नाम 'स्वर्ग' है और स्वर्ग में दुःख कैसे हो सकता है? और दुःख—निवृत्ति के ये वैदिक उपाय ज्योतिष्टोम याग आदि थोड़े से समय— दिन, मास, वर्ष आदि में ही सम्पन्न भी हो जाते हैं; अतः सुखसाध्य भी हैं। साथ ही शास्त्रीय ज्ञानरूप उपाय तो अनेक जन्म तक अभ्यास करते—करते कहीं प्राप्त होता है। कहा भी है— 'अनेकजन्मसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'। इसलिए शास्त्रीय ज्ञानरूप उपाय की अपेक्षा यज्ञ—याग आदि करना— यही दुःखनिवृत्ति का ठीक उपाय मालूम होता है, तथापि यज्ञ में तो हजारों पशुओं (जीवों) की हिंसा करनी पड़ती है, इसलिए यज्ञ करने में पुण्य की तरह पाप भी होता है और उस पाप का फल भी (दुःख) अन्त में कर्त्ता को भोगना ही पड़ता है; अतः यज्ञ करना विशुद्ध उपाय नहीं है और यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होने पर भी कुछ काल में ही पुण्य—क्षीण हो जाने से वह स्वर्गीय सुख नष्ट भी हो जाता है; अतः यज्ञ करना विशुद्ध उपाय नहीं है और यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होने पर भी कुछ काल में ही पुण्य—क्षीण हो जाने से वह स्वर्गीय सुख नष्ट भी हो जाता है; अतः पुनः संसार में आकर उस प्राणी को कष्ट भोगना ही पड़ता है और स्वर्ग में भी पुण्य की अधिकता से किसी को ऊँचा पद प्राप्त होता है और पुण्य की मात्रा कम होने से स्वर्ग में भी किसी को साधारण पद मिलता है, अतः वहां भी छोटा—बड़ा पद होने से बड़े की सम्पत्ति व सुख को देखकर छोटे को कष्ट होना स्वाभाविक ही है। अतः स्वर्ग में कष्ट नहीं है— यह कहना भी ठीक नहीं है। स्वर्ग में भी कुछ न कुछ कष्ट रहेगा ही। इसलिए दुःखनिवृत्ति को दृष्ट उपायों की तरह ही, वैदिक यज्ञ—यागादि उपायों से भी सदा के लिए सर्वथा दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती है; फलस्वरूप दृष्ट उपायों की तरह ही वैदिक उपाय भी सच्चे सुख को नहीं दे सकते; इसलिए प्रकृति और पुरुष के विवेक—ज्ञान से ही सच्चा और निश्चित सुख प्राप्त हो सकता है और यह विवेक—ज्ञान ही सांसारिक तीनों प्रकार के दुःखों से सदा के लिए पुरुषों को छुटकारा दिला सकता है और यह ज्ञान—लौकिक और वैदिक उपायों से सर्वथा भिन्न है। इसमें न पशु—हिंसा आदि करनी होती है और न इससे प्राप्त हुआ सुख कभी नष्ट ही होता है और न इसमें

नीचे–ऊँचे का कोई भेद ही है। अतः सत्त्व और पुरुष के भेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए समझदार लोगों को इस सांख्यशास्त्र का मनन करना चाहिए और इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए जिज्ञासा करनी चाहिए; क्योंकि इस उपाय से ही सच्चा और उत्कृष्ट सुख प्राप्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय दुःखों को दूर करने का जगत् में नहीं है। इसलिए हम इस सांख्यशास्त्र में उस उपाय को– दुःखनिवृत्ति के हेतु को कहते हैं।।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

षोडषकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।। 3।।

अन्वयः–मूलप्रकृतिः, अविकृतिः, महदाद्याः, सप्त, प्रकृतिविकृतयः, षोडशकः, तु, विकारः, पुरुषः, न, प्रकृति, न, विकृतिः।।

शब्दार्थः– मूलप्रकृतिः –संसार का मूल कारण प्रकृति, **अविकृतिः –**विकार अथवा कार्य नहीं, **महदाद्याः महत् इत्यादि –**महान्, अहंकार, **पंच तन्मात्राएं –**शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र तथा गन्धतन्मात्र, **सप्त –**सात, **प्रकृतिविकृतयः –**प्रकृति और विकृति, **षोडषकः –**16 तत्त्वों का समुदाय, **तु –**ही, विकारः कार्य, **पुरुषः –**पुरुष, **न –**न तो, **प्रकृतिः –**कारण, **न –**न तो, **विकृतिः –**कार्य।।

अर्थः–मूलकारण रूप प्रकृति किसी का विकार अथवा कार्य नहीं है। महत् इत्यादि बाद के सात तत्त्व कारण और कार्य दोनों ही हैं 16 तत्त्वों का समुदाय ही केवल कार्य है। पुरुष न कारण है और न कार्य है।।

व्याख्या –इस सांख्यशास्त्र में पच्चीस तत्त्व माने गए हैं। जैसे 1. पुरुष, 2. प्रकृति, 3. महान्, 4. अहंकार, 5. शब्दतन्मात्र, 6. स्पर्शतन्मात्र, 7. रूपतन्मात्र, 8. रसतन्मात्र, 9. गन्धतन्मात्र, 10. मन, 11. श्रोत्र, 12. त्वक्, 13. चक्षु, 14. रसना, 15. घ्राण, 16. वाक्, 17. पाणि, 18. पाद, 19. पायु, 20. उपस्थ, 21. आकाश, 22. वायु, 23. तेज, 24. जल, 25. पृथिवी। इनमें– पुरुषतत्त्व नित्य और निर्लेप है; अतः वह न किसी दूसरे तत्त्व का प्रकृति है और न किसी तत्त्व का वह विकृति ही है। प्रकृतितत्त्व को ही सत्त्व, प्रधान और अव्यक्त भी कहते हैं और इसी से बाकी के 23 तत्त्व उत्पन्न होते हैं; अतः इसे 'मूलप्रकृति' भी कहते हैं। यह नित्य है, अतः यह किसी की विकृति नहीं है, किन्तु इसी की विकृतियाँ बाकी के 23 तत्त्व हैं। 1. महान्, 2. अहंकार, पंचतन्मात्रा– ये सात तत्त्व प्रकृति भी हैं और विकृति भी हैं; क्योंकि महत्तत्त्व प्रकृति का तो विकार है और अहंकार की प्रकृति है। अहंकार भी महान् का विकार है, पंचतन्मात्राओं की प्रकृति है और पंचतन्मात्राएं भी अहंकार की विकृति है और पंचमहाभूतों की प्रकृति हैं। अतः ये सातों प्रकृति–विकृति कहलाते हैं। मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँचों कर्मेन्द्रिय, पंचमहाभूत– ये 16 तत्त्व किसी के भी प्रकृति नहीं है; किन्तु ये 16 तत्त्व अहंकार से ही उत्पन्न होते हैं, अतः ये अहंकार की विकृति हैं। इसलिए इनको 'विकार' कहा जाता है। किसी जगह 1. मूल प्रकृति, 2. महत्तत्त्व, 3. अहंकार, पंचतन्मात्रा– इनको 'प्रकृति' कहा गया है। इसीलिए प्रधान– प्रकृतितत्त्व के लिए मूल शब्द लगाया जाता है।

इस प्रकार इन 25 तत्त्वों में सभी जगत् आ जाता है; क्योंकि सर्वत्र ये ही 25 तत्त्व व्याप्त हैं। इनमें से प्रथम पुरुषतत्त्व 'ज्ञ' कहलाता है। इसे दृक् शक्ति, चिति शक्ति, चैतन्य आदि नामों से भी कहा जाता है और प्रकृति 'अव्यक्त' कहलाती है; क्योंकि समस्त जगत् इस प्रकृति तत्त्व में ही अव्यक्त अवस्था में विद्यमान रहता है। महत्तत्त्व आदि के बाकी 23 तत्त्व व्यक्त कहलाते हैं। इसी प्रकार इन व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ के तत्त्व को ठीक–ठीक जान लेने से, सब दुःखों की निवृत्ति होकर परम सुख की प्राप्ति होती है। इन 24 तत्त्वों का ही विशद विवेचन आगे की कारिकाओं में यथास्थान किया जाएगा।।

दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ।। 4।।

अन्वयः–सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्, दृष्टम्, अनुमानम्, आप्तवचनम्, च, त्रिविधम्, प्रमाणम्, इष्टम्, हि, प्रमेयसिद्धिः, प्रमाणात्।।

शब्दार्थः– सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् –अन्य सभी प्रमाणों की बातें इन्हीं से सिद्ध हो जाने के कारण, **दृष्टम्** –प्रत्यक्ष, **अनुमानम्** –अनुमान, **आप्तवचनम्** –कपिल आदि ऋषि और वेदों के वचन, **च** –इस प्रकार, **त्रिविधम्** –तीन प्रकार का ही, **प्रमाणम्** –प्रमाण, सही बात तक पहुंचने का हेतु, **इष्टम्** –मान्य है, **हि** –क्योंकि, **प्रमेयसिद्धिः– प्रमेयस्य** – यथार्थरूप से जानने के योग्य पदार्थ का, **सिद्धिः** –ज्ञान, **प्रमाणात्** –प्रमाण से, **प्रथमम्** –पहले, **प्रमाणम्** –प्रमाण, **निगद्यते** –कहा जा रहा है।।

अर्थः–अन्य सभी प्रमाणों की बातें इन्हीं से सिद्ध हो जाने के कारण प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द ये तीन ही प्रमाण सांख्यशास्त्र के आचार्यों को अभीष्ट हैं। यतः प्रमेय का ज्ञान प्रमाण से ही होता है।।

व्याख्या –प्रमेय की सिद्धि और प्रमाणों से ही हो सकती है, अतः प्रमेय के साधन के लिए इस सांख्यशास्त्र में तीन ही प्रमाण माने गए हैं– 1. दृष्ट – प्रत्यक्ष, 2. अनुमान और 3. आप्तवचन अर्थात् शब्द। आशय यह कि प्रकृति, पुरुष आदि तत्त्वों की सिद्धि प्रमाणों से ही हो सकती है, अतः इस सांख्यशास्त्र में तीन प्रमाण माने गए हैं– 1. दृष्ट – प्रत्यक्ष प्रमाण, 2. अनुमान, 3. आप्तवाक्य। अन्यायन्य दर्शनों में स्वीकृत किए गए उपमान, अर्थापत्ति, ऐतिह्य, अभाव, संभव आदि अन्य प्रमाण भी इन्हीं तीन प्रमाणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं, अतः इन्हें यहां अलग प्रमाण नहीं माना गया है। इन तीनों प्रमाणों से प्रमाज्ञान उत्पन्न होता है, जो क्रमशः 1. प्रत्यक्षज्ञान, 2. अनुमिति और 3. शाब्दबोध कहलाता है।

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।

तल्लिंगलिंगिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु।। 5।।

अन्वयः:–प्रतिविषयाध्यवसायः, दृष्टम्, अनुमानम्, त्रिविधम्, आख्यातम्, तत्, लिंगलिंगिपूर्वकम्, आप्तश्रुतिः, तु, आप्तवचनम्।।

शब्दार्थः– प्रतिविषयाध्यवसायः –चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों का रूप आदि विषयों में अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का अपने–अपने विषयों में व्यापार करना ही, **दृष्टम्** – प्रत्यक्ष प्रमाण, **अनुमानम्** –अनुमान, **त्रिविधम्** –तीन प्रकार का, **आख्यातम्** –कहा गया है, **तत्** –वह, **लिंगलिंगिपूर्वकम्** –लिंग के ज्ञान से लिंगि के ज्ञान से

उत्पन्न होता है, **आप्तश्रुतिः** –कपिल आदि प्रामाणिक आचार्यों का वचन तथा वेद, **तु**–ही, **आप्तवचनम्** –शब्दप्रमाण।।

अर्थः–चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों का रूप आदि अपने–अपने निर्धारित विषयों में व्यापार करना प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। अनुमान–पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट रूप से– तीन प्रकार का कहा गया है। वह अनुमान कहीं पर लिंग पूर्वक होता है और कहीं पर लिंगी के द्वारा लिंग का अनुमान किया जाता है। कपिलादि आप्त पुरुषों का वचन तथा वेद ही शब्दप्रमाण है।।

व्याख्या –घट, पट, शब्द, सुख आदि पदार्थों से चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने से जो बुद्धि की वृत्ति होती है, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है; क्योंकि बुद्धितत्त्व सत्त्व, रज आदि तीनों गुणों से युक्त है, अतः उसमें तमोगुण भी है और तमोगुण का स्वभाव आवरण है। इसीलिए घट आदि विषयों का ज्ञान नहीं होता है; परन्तु इन्द्रियों का विषय घट आदि से जब सन्निकर्ष होता है, तब उससे बुद्धितत्त्व में तमोगुण का अभिभव – आवरणभंग हो जाता है और सत्त्वगुण की वृद्धि हो जाती है तब बुद्धि की अध्यवसायात्मिका – निश्चयात्मिका वृत्ति होती है। वही वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमा का कारण होने से प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती है।

बुद्धि की वृत्तियाँ और स्वयंबुद्धि तत्त्व भी प्रकृति जड़ का कार्य होने से जड़ है। उस बुद्धि में बुद्धि की दर्पणतुल्य अत्यन्त स्वच्छता के कारण ही चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। पुरुष के उस प्रतिबिम्ब के प्रभाव से ही वह जड़ बुद्धि भी चैतन्य की तरह मालूम होती है और विषयाकार वृत्ति से युक्त बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष को जो घटादि विषयों का ज्ञान होता है, वह ज्ञान यद्यपि बुद्धि का ही है; परन्तु पुरुष भी बुद्धि में प्रतिबिम्बित है और तादात्म्यभावापन्न भी है, अतः वह ज्ञान पुरुष का कहलाता है और वही पुरुष का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमा कहलाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का 'इन्द्रियविषयसन्निकर्षजन्या घटादिविषयाकारा बुद्धिवृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्' यह लक्षण हुआ और विषयसंनिकृष्टेन्द्रियजन्यबुद्धिवृत्तिरूप व्यापारजन्य जो पुरुष का ज्ञान है, वही प्रत्यक्ष प्रमा कहलाता है और वही बोध मुख्य है। क्योंकि वही बोध प्रमाणरूप व्यापार का फलस्वरूप है और फल ही मुख्य होता है (पुरुष भी स्वच्छ है, उसमें विषयाकार वृत्ति वाली बुद्धि का भी सम्पर्क होता हैः अतः उसके साथ तादात्म्यभावापन्न होने से ही पुरुष अपने को कर्त्ता, ज्ञाता, भोक्ता आदि समझता है)। वस्तुतः पुरुष न तो ज्ञाता है और न वह उसके फल का भोक्ता है एवं न तो वह कर्त्ता ही है।

नैयायिकों के सिद्धान्त से तो चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती हैं और उनसे आत्मा को ज्ञान होता है; अतः वही ज्ञान प्रत्यक्षप्रमा कहलाता है। यही सांख्यमत से नैयायिकों के मत में भेद है। अतः सांख्यमत में इन्द्रियों का प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाना गौण ही है। मुख्य प्रमाण तो बुद्धिवृत्ति ही है। इन्द्रियों के द्वारा ही वह घटादि विषयाकार बुद्धि की वृत्ति होती है, अतः परम्परया तो इन्द्रियाँ भी सांख्यमत में भी प्रमाण कही जा सकती है।

सामान्यतस्तु दृष्टात् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।

तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्।। 6।।

अन्वयः–सामान्यतः, दृष्टात्, तु, अतीन्द्रियाणाम्, प्रतीतिः, अनुमानात्, तस्मात्, अपि, असिद्धम्, च, परोक्षम्, आप्तागमात्, सिद्धम्।।

शब्दार्थः– सामान्यतः –इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य सभी अपेक्षित तथा अनपेक्षित विषयों की, **दृष्टात् –**प्रत्यक्ष प्रमाण से, **तु –**तथा, **अतीन्द्रियाणाम् –**अतीन्द्रिय पदार्थ की, **प्रतीतिः –**ज्ञान, **अनुमानात् –**अनुमान से, **तस्मात् –**उससे, **अपि –**भी, **असिद्धम् –**असिद्ध, **परोक्षम् –**परोक्ष अर्थात् अतीन्द्रिय पदार्थ, **आप्तागमात् –**शब्दप्रमाण से, **सिद्धम् –**सिद्ध होता है।।

अर्थः–इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य सभी अपेक्षित तथा अनपेक्षित विषयों की प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से तथा अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान से होता है। अनुमान से भी असिद्ध परोक्ष अर्थात् अतीन्द्रिय पदार्थ शब्दप्रमाण से सिद्ध होते हैं।।

व्याख्या –पूर्वोक्त 25 तत्त्वों में से पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों का ज्ञान तो प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है और 'पूर्ववत्' अनुमान से धूम को देखकर पर्वत आदि में वह्नि का ज्ञान होता है; परन्तु अतीन्द्रिय तत्त्व– 10 इन्द्रियाँ, 1 मन, 5 तन्मात्र, 1 अहंकार, 1 बुद्धि, 1 प्रकृति, 1 पुरुष का ज्ञान तो सामान्यतोदृष्ट अनुमान से तथा शेषवत् अनुमान से ही होता है और सामान्यतोदृष्ट तथा परिशेषानुमान भी जहां प्रमाण नहीं हो सकते हैं, ऐसे पदार्थों की जैसे– स्वर्ग–नरक, पुण्य–पाप, इन्द्र–विष्णु आदि देवता तथा महदादि तत्त्वों की क्रमिक उत्पत्ति आदि की सिद्धि आप्तवाक्यरूप तृतीय प्रमाण से ही होती है।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान –जहां हेतु का साध्य के साथ सहचार पहिले कहीं नहीं देखा गया हो, वहां सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है।

पूर्ववत् अनुमान –जहां हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति पहले कहीं देखी गई हो, जैसे धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति महानस में देखी गई है, तब फिर उसी व्याप्ति के ज्ञान से पर्वत में धूम को देखकर वह्नि का अनुमान होता है। अतः वह अनुमान 'पूर्ववत्' कहलाता है।

शेषवत् अनुमान –वह होता है, जहां हेतु और साध्य की व्याप्ति नहीं हो, परन्तु साध्याभाव और हेत्वभाव की व्याप्ति ही हो, वह शेषवत् अनुमान होता है। जैसे– पृथ्वी इतरभिन्ना, गन्धवत्त्वात्। यत्र इतरभिन्नं तत्र गन्धवत् यथा जलम्– यह व्यतिरेकव्याप्ति कहलाती है। व्यतिरेक नाम– अभाव। साध्याभाव और हेत्वभाव की व्याप्ति– व्यतिरेकव्याप्ति। इस विषय का विशेष परिचय तर्कसंग्रह–मुक्तावलि आदि न्याय के ग्रन्थों से हो सकता है।।

स्वयं आंकलन प्रष्न – 3

1. सांख्य में दुःख कितने प्रकार के हैं?
2. सांख्य में प्रमाणों की संख्या कितनी है?

1.6 सारांष

सांख्य–शास्त्र के पुरुषार्थ विषयक ज्ञान में भूतों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय पर विचार–विर्मश किया जाता है। यह ज्ञान अतीव गूढ़ और रहस्यात्मक है। इसका उपदेश पहले–पहले कपिल मुनि ने किया उसने इसकी दीक्षा आसुरि नामक शिष्य को दी। आसुरि ने इसका उपदेश पंचशिख को दिया पंचशिखाचार्य ने इस पर एक विशाल तन्त्र का निर्माण किया उस तन्त्र का नाम षष्टितन्त्र था। शिष्य परम्परा के द्वारा वह ज्ञान ईश्वर–कृष्ण को मिला। उसने सत्तर कारिकाओं में इस ज्ञान को संक्षेप में अभिव्यक्त किया बहत्तर कारिकाओं वाली उस सप्तति को ही सांख्य–कारिका कहते है। समस्त सुविशाल षष्टितन्त्र में जिन विषयों का ज्ञान भरा पड़ा है। उन सारे विषयों का ज्ञान इस सप्तति नाम के शास्त्र में भी व्यक्त किया गया है। केवल आख्यानों को और अन्य मतों की आलोचना को छोड़ दिया गया है। इनमें केवल सांख्य–शास्त्र के ही दर्शन सिद्धान्तों का पूरी तरह से निरुपण किया गया है।

1.7 कठिन शब्दावली

दृष्टे – प्रत्यक्ष या लौकिक उपाय में

आनुश्रविकः –वैदिक कर्मकलापरूप

श्रेयान् –श्रेयस्कर

त्रिविधम् –तीन प्रकार का

आख्यातम् –कहा गया है

आप्तवचनम् –शब्दप्रमाण

आप्तागमात् –शब्द प्रमाण से

प्रतीतिः –ज्ञान

1.8 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. आस्तिक
2. सांख्यकारिका

स्वयं आंकलन प्रष्न – 2

1. ईश्वरकृष्ण
2. चतुर्थ शतक के पूर्व तृतीय शतक

स्वयं आंकलन प्रष्न – 3

1. तीन– आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक
2. तीन– प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान।

1.9 अनुषंसित ग्रन्थ

1. सांख्यकारिका, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, बालकृष्ण त्रिपाठी, बी. 2/2, भदैनी, वाराणसी।
2. सांख्यकारिका, संस्कृत व्याख्याकार– म. म. श्री गुरुप्रसादशास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– आचार्य श्री सीतारामशास्त्री, प्रो. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

3. सांख्य तत्त्व प्रदीप, डॉ. अमल धारी सिंह, भारती विद्या प्रकाशन 1, यू.वी. बैंगलो रोड, दिल्ली–07।

1.10 अभ्यास प्रश्न

1. सांख्यशास्त्र में कौन–कौन से प्रमाणों को माना गया है? वर्णन करें।
2. सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष एवं प्रकृति के सम्बन्ध को स्पष्ट करें।
3. सांख्यकारिका के अनुसार दुःख कितने हैं? विस्तृत वर्णन करें।
4. सांख्यकारिका के अनुसार इन्द्रियों का विवेचन करें।

द्वितीय इकाई

इन्द्रिय महतादि तत्त्व एवं सत्कार्यवाद

संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्‌देश्य

2.3इन्द्रिय एवं महतादि तत्त्व

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

2.4सत्कार्यवाद

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

2.5 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (7 से 12 कारिका तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 3**

2.6 सारांष

2.7 कठिन शब्दावली

2.8 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

2.9 अनुषंसित ग्रन्थ

2.10 अभ्यास प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

इसमें 10 इन्द्रिय ज्ञान, 25 महत तत्त्व, सत्कार्यवाद, व्यक्त–अव्यक्त सहित त्रिगुण का विवेचन किया गया है। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण– ये तीन गुण हैं। इनमें सत्त्वगुण सुखात्मक है, रजोगुण दुःखात्मक है एवं तमोगुण मोहात्मक है। सत्त्वगुण प्रकाशक है, रजोगुण प्रवर्त्तक है और तमोगुण नियामक है। ये तीनों गुण परस्पर में एक–दूसरे को दबाते रहते हैं और ये तीनों गुण अन्योन्याश्रित भी हैं अर्थात् एक–दूसरे का सहारा लेकर ही कार्य करते हैं

2.2 उद्‌देश्य

- इन्द्रिय ज्ञानार्थक
- सुखार्थ
- 25 महतादि तत्त्वों की ज्ञान प्राप्ति
- त्रिगुणात्मक ज्ञान

2.3 इन्द्रिय एवं महतादि तत्त्व

महत्, अहंकार, मन सहित एकादशेन्द्रियां, पंचतन्मात्र तथा पंचमहाभूत– ये प्रकृति के कार्य हैं। प्रकृति अतीन्द्रिय है। महत् से लेकर पंचतन्मात्र तक अठारह कार्य भी अतीन्द्रिय हैं। इसिलए ये कार्य

प्रकृति के सरूप है। पंचमहाभूत स्थूल विशेष हैं, इन्द्रिय गम्य हैं। अतएव वे प्रकृति के विरूप कार्य हैं। इन्हीं कार्यों से प्रकृति की सत्ता का बोध होता है। इस प्रकार सांख्य में कारण–कार्य की अपेक्षा सूक्ष्म है। अर्थात् कार्य कारण का स्थल रूप है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. प्रकृति के कार्य क्या है?
2. इन्द्रियां कितनी हैं?

2.4 सत्कार्यवाद

सत्कार्यवाद, मुख्यतः सांख्य का सिद्धान्त है जिसके अनुसार कार्य (प्रभाव), अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान (सत्) रहता है। इसके अनुसार सत् (जिसका अस्तित्व है वह) असत् (जिसका अस्तित्व नहीं है) से उत्पन्न नहीं हो सकता।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. सत्कार्य किन शब्दों के योग से बना है?
2. सत्कार्यवाद में महदादि कितने कार्य हैं?

2.5 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (7 से 12 कारिका तक)

अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।

सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च।। 7।।

अन्वयः– अतिदूरात्, सामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोऽनवस्थानात्, सौक्ष्म्यात्, व्यवधानात्, अभिभवात्, समानाभिहारात्, च ।।

शब्दार्थः– अतिदूरात् –अत्यधिक दूर होने से, **सामीप्यात्** –समीप होने से, **इन्द्रियघातात्** –इन्द्रियों के नाश होने से, **मनोऽनवस्थानात्** –मन की चंचलता से, **सौक्ष्म्यात्** –सूक्ष्म होने से, **व्यवधानात्** –बीच में किसी रूकावट के आ जाने से, **अभिभवात्** –तिरस्कृत हो जाने से, **च** –तथा, **समानाभिहारात्** –एक जैसी वस्तुओं में मिल जाने से, **च** –भी, **पदार्थस्य** –पदार्थ का, **अनुपलब्धिः** –प्रत्यक्ष नहीं होता है।।

अर्थः–अत्यधिक दूर अथवा समीप होने से, इन्द्रियों के नाश तथा मन की चंचलता से, सूक्ष्म होने से, बीच में किसी रुकावट के आ जाने से, अभिभूत हो जाने से, और एक जैसी वस्तुओं में मिल जाने से।।

व्याख्या –यद्यपि प्रधान और पुरुष आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, तथापि प्रत्यक्षज्ञान नहीं होने मात्र से ही किसी वस्तु का अभाव कहीं नहीं हो सकता है। यदि नहीं दिखने मात्र से ही किसी वस्तु का अभाव हो जाय, तो घर से बाहर गए हुए मनुष्य को अपने घर के मनुष्य दिखाई नहीं पड़ रहे हैं, इसलिए वह अपने स्वजनों का घर में अभाव की कल्पना करने लगेगा। परन्तु ऐसी कल्पना तो कोई नहीं करता है। किन्तु दीखने योग्य वस्तु का किसी प्रकार के प्रतिबन्धक के अभाव में भी यदि प्रत्यक्ष नहीं होता है, तभी उसका अभाव माना जाता है। जैसे– गधे के सींग, आकाश के फूल, वन्ध्या का पुत्र आदि का। क्योंकि सींग, फूल, पुत्र आदि पदार्थ दीखने के योग्य हैं। परन्तु किसी प्रकार के प्रतिबन्धक के अभाव में भी किसी को गधे के शिर पर सींग नहीं दिखाई देता है, अतः गधे के सींग नहीं

है– यह अभाव माना जाता है। क्योंकि प्रत्यक्षयोग्य स्थूल द्रव्यों के भी प्रत्यक्ष नहीं होने में 'दूर होना' आदि कई कारण है। यथा–

1. अत्यन्त दूर होने से भी कोई वस्तु नहीं दिखाई देती है, जैसे आकाश में बहुत ऊंचे उड़ता हुआ पक्षी। 2. अत्यन्त निकट होने से भी कोई वस्तु नहीं दीखती है, जैसे– आँख का काजल या सुर्मा। 3. चक्षु आदि इन्द्रियों की खराबी से, आँख रहते हुए भी किसी को घट आदि स्थूल पदार्थ भी नहीं दीख पड़ते हैं। 4. मन ठिकाने नहीं होने से भी शोकातुर, कामातुर आदि को आँखों के सामने की वस्तु भी नहीं दिखाई देती है। कहा भी है– 'कामान्धो नैव पश्यति'। 5. सूक्ष्म होने से भी बहुत सी वस्तुएं नहीं दिखाई पड़ती है, जैसे परमाणु, रोगों के सूक्ष्म कीटाणु आदि। 6. व्यवधान हो जाने से भी कुछ वस्तुएं नही दिखाई देती है, जैसे दिवार, पर्दा आदि के पीछे की वस्तुएं। 7. सूर्य की प्रचण्ड किरणों आदि से अभिभूत हो जाने से भी बहुत सी वस्तुएं नहीं दिखलाई देती हैं; जैसे– दिन में आकाश के तारे आदि। 8. समान जातीय पदार्थों में मिल जाने से भी बहुत सी वस्तुएं नहीं दिखलाई पड़ती हैं, जैसे तालाब के जल में गिरी हुई वर्षा की बूंदे। 9. अप्रकट होने से भी कुछ वस्तुएं नहीं दिखाई देती है। जैसे– दूध व दही में घी और दुग्धावस्था में कारणरूप से विद्यमान दही, अनुद्भूत रूप, पत्थर, सत्तू आदि का अनुद्भूत गन्ध आदि। इन प्रतिबन्धकों के अभाव में भी गधे के व खरगोश के शिर पर सींग– गौ के शिर के सींग की तरह– दिखाई नहीं देता है; अतः उसके प्रत्यक्ष नहीं होने से उसका अभाव माना जाता है। परन्तु प्रधान, पुरुष आदि अप्रत्यक्ष वस्तुओं का तो नहीं दीखने मात्र से ही अभाव नहीं माना जा सकता; क्योंकि प्रतिबन्धक कारण–विशेष से ही उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है; परन्तु वे पदार्थ अवश्य हैं। इसलिए उनको शशश्रृंग, वन्ध्यापुत्र आदि की कोटि में नहीं रख सकते हैं। क्योंकि प्रधान, पुरुष आदि में तो प्रत्यक्ष की योग्यता ही नहीं है, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं होने से भी उनका अभाव नहीं कहा जा सकता है; परन्तु श्रृंग में तो प्रत्यक्ष योग्यता है। प्रत्यक्षयोग्य होने पर भी शश का श्रृंग दीखता नहीं है, अतः शशश्रृंग का अभाव मानना ठीक है। प्रधान आदि तो परमाणुओं की तरह प्रत्यक्ष के योग्य ही नहीं हैं, अतः उनका अदर्शन–मात्र से अभाव नहीं कहा जा सकता है। अतः उनकी अनुमान से सिद्धि होती है।।

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः।

महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपंच।। 8।।

अन्वयः–सौक्ष्म्यात्, तदनुपलब्धिः, अभावात्, न; कार्यतः, तदुपलब्धिः; तत्, कार्यम्, महदादिः, प्रकृतिविरूपम्, सरूपम्, च।।

शब्दार्थः– सौक्ष्म्यात् –सूक्ष्म होने के कारण, **तदनुपलिब्धः** –प्रकृति तथा पुरुष आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता; **अभावात्** –अभाव के कारण, **न** –नहीं, **कार्यत+** –कार्य से, **तदुपलिब्धः** –उसका ज्ञान होता है, **तत्** –वह, **कार्यम्** –कार्य, **महदादि** –महत्तत्व आदि, **तत्** –वह कार्य, **प्रकृतिविरूपम्** –प्रकृति के असमान, **सरूपम्** –समान, **च** –भी।।

अर्थः–सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति तथा पुरुष आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता, अभाव के कारण नहीं। कार्य से प्रकृति का ज्ञान होता है, अर्थात् उसके कार्यों को देखकर उसका अनुमान किया जाता है। वह कार्य बुद्धितत्त्व आदि है। यह कार्य अर्थात् बुद्धि आदि प्रकृति के समान भी है और उसके असमान भी।।

व्याख्या –अतः प्रधान की अनुपलब्धि में कारण उसकी अत्यन्त सूक्ष्मता ही है। जैसे अत्यन्त सूक्ष्म होने से परमाणु आदि का चक्षु आदि से प्रत्यक्ष नहीं होता है, वैसे ही प्रधान का भी उसके सूक्ष्मतम होने से ही प्रत्यक्ष नहीं होता है; इसलिए अप्रत्यक्ष होने मात्र से ही प्रधान का अभाव नहीं हो सकता है। शशश्रृंग आदि की सत्ता में तो कोई प्रमाण नहीं है और उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता है, अतः उसके अभाव की कल्पना करना तो ठीक है, परन्तु प्रधान तो शशश्रृंग की तरह अप्रामाणिक नहीं है, किन्तु प्रधान के अस्तित्व में तो कार्यहेतुक अनुमान ही प्रमाण हैं; क्योंकि उसका बुद्धिरूप कार्य सुख–दुःख मोहात्मक त्रिगुणात्मक उपलब्ध होता है, उस बुद्धिरूप कार्य में कारण से ही गुण आए हैं; अतः उसका उपादान कारण कोई अवश्य ही मानना पड़ेगा। वह 'प्रधान' ही सिद्ध होता है; इसलिए प्रधान का अस्तित्व तो सिद्ध हो जाता है, पर शशश्रृंग, सातवां रस, वन्ध्यापुत्र आदि के अस्तित्व में तो कोई प्रबल प्रमाण है नहीं, फिर उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता है, अतः उनका अभाव मानना उचित ही है। प्रकृति के तो बुद्धि आदि कार्य उपलब्ध होते है; अतः प्रकृति है, परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने से ही वह दीखती नहीं है– यह कल्पना करना उचित है। प्रकृति के कार्य– महत्तत्त्व से लेकर पृथिवीपर्यन्त 23 तत्त्व हैं। वे तत्त्व कुछ अंशों में प्रकृति के समान हैं, कुछ अंशों में प्रकृति से असमान हैं, जैसे– प्रकृति भी त्रिगुणात्मक है और उसके कार्य भी त्रिगुणात्मक हैं, यह समानता उनकी है। प्रकृति का कोई कारण नहीं है, अतः वह नित्य है; परन्तु उसके कार्य सब अनित्य व जन्य हैं– यह उससे असमानता है। यह बात आगे की कारिकाओं में स्पष्ट हो जाएगी।

यद्यपि पुरुष का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है और उसमें कार्यहेतुक अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता है; क्योंकि पुरुष के तो कोई भी कार्य नहीं है, वह तो अपरिणामी, अकर्त्ता, निर्लेप है। परन्तु पुरुष के अस्तित्व में भी संघातपरार्थत्वरूप प्रमाण आगे (17वीं) कारिका में स्वयं ही कहेंगे। परस्पर मिलकर काम करने वाले पदार्थ किसी दूसरे के ही लिए काम करते देखे जाते हैं। जैसे सैनिक आदि राजा के लिए ही मिलकर काम करते हैं अपने लिए नहीं, वैसे ही प्रकृति आदि तत्त्व भी जिसके लिए भोग, मोक्ष आदि यह सब कार्य करते हैं, वही पुरुष है। यह बात आगे और भी स्पष्ट कही जाएगी। अव्यक्त–प्रकृति के तथा प्रकृति के व्यक्त कार्यों के साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से ही व्यक्त और अव्यक्त का विज्ञान होता है; इसी से पुरुष के साथ इनके भेद का भी ज्ञान होता है। इसी को सत्त्व पुरुषान्यताख्याति कहते हैं। इससे ही अपवर्ग रूप परमसुख की प्राप्ति होती है। इसलिए साधर्म्य और वैधर्म्य का ज्ञान आवश्यक है।।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। 9।।

अन्वयः—असदकरणात्; उपादानग्रहणात्; सर्वसम्भवाभावात्; शक्तस्य, शक्यकरणात्; कारणभावात्; च, कार्यम्, सत्।।

शब्दार्थः— असदकरणात् —असत् या अविद्यमान होने पर कार्य की उत्पत्ति के न होने से, **उपादानग्रहणात्** —उपादान कारण के ग्रहण करने से, **सर्वसम्भवाभावात्** —सभी कार्यों के सभी कारणों से उत्पन्न न होने से, **शक्तस्य** – समर्थ के, **शक्यकरणात्** —उत्पत्तियोग्य कार्य के करने से; **कारणभावात्** —कार्य में कारणात्मकता अर्थात् कारण के अभिन्नता के होने से, **च** —भी, **कार्यम्** —कार्य, **सत्** —वर्तमान रहता है।।

अर्थः—असत् या अविद्यमान होने पर कार्य की उत्पत्ति के न होने से; उपादान कारण के ग्रहण करने से; सभी कार्यों के सभी कारणों से उत्पन्न न होने से; जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में शक्त या समर्थ है, उससे केवल उसी कार्य की उत्पत्ति होने से; और कार्य में कारणात्मकता अर्थात् कारण से अभिन्नता के होने से भी कार्य वर्तमान रहता है।।

व्याख्या —यद्यपि बौद्ध लोग असत् से सत् की उत्पत्ति मानते हैं और वेदान्ती लोग सत् ब्रह्म का विवर्त्त ही जगत् है, अतः सत् से असत् की उत्पत्ति है, ऐसा मानते हैं। नैयायिक आदि भी सत् – परमाणुओं से असत् – पहले अविद्यमान घटादि रूप जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। इस प्रकार दर्शनान्तरों में नानामत देखे जाते हैं और कार्यहेतुक अनुमान से केवल घटादि कार्य का कोई सुखादिमान् कारण है, ऐसा सामान्य रूप से ही सिद्ध होता है। परन्तु 'प्रधान ही कारण है' ऐसा तो सिद्ध नहीं होता है; क्योंकि बौद्धमत में शून्य ही जगत् का कारण है और आपके कार्यहेतुक अनुमान से— सुखादि परिणामभूत, सुखाद्यात्मक शब्दादिरूप, जगत् अपने कारण को भी सुखादिमान् और सत् ही सिद्ध करता है और बौद्धमत में तो असत् ही कारण है, इस प्रकार सत् और असत् का तादात्म्य कैसे हो सकता है? क्योंकि असत् वस्तु तो सुख—दुःखादिमान् हो नहीं सकता है।

इसी प्रकार वेदान्तिमत में भी जगत् तो मिथ्या ही है, तब असत् का सत् के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता है। ब्रह्म का सुखादिमत्त्व होना भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार नैयायिक मत में भी कार्य असत् ही है, क्योंकि परमाणुओं से घटादि की उत्पत्ति होती है, घट पहले विद्यमान नहीं है। उनके मत में कारण के व्यापार से वह नया ही उत्पन्न होता है। अतः सत् कारण के साथ असत् कार्य का तादात्म्य सम्भव नहीं है।

अतः सांख्याभिमत प्रधान की सिद्धि तो कार्य से नहीं हो सकती है, तथापि सांख्यमतानुयायी लोग कारण की तरह कार्य को भी सत् ही मानते हैं। अर्थात् कार्य घटादि कारण दण्डादि के व्यापार से पहिले भी कारण— मृत्तिकारूप से विद्यमान है, वही घट कारणव्यापार से केवल अभिव्यक्त होता है, जैसे कि दूध और दही में पहले से ही स्थित— घृत।

शून्यवाद और बौद्धमत तो ठीक नहीं है; क्योंकि अभाव से ही भावों की उत्पत्ति मानने से तो सभी का अभाव तो सर्वत्र है ही, अतः सभी जगह सब कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिए। अतः बौद्धों का बीजादि के ध्वंस से अंकुर आदि भावपदार्थों की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है; किन्तु बीज के अवयवों से ही भाव की उत्पत्ति मानना ठीक है। वेदान्तियों का मत भी ठीक नहीं है; क्योंकि जगत् सत्य स्पष्ट

प्रतीत हो रहा है, उसको बिना किसी बाधक के मिथ्या मानना उचित नहीं है। अतः कार्य को भी कारण की तरह सत्य ही मानना ठीक है। इसलिए सांख्यानुयायी कार्य को भी सत् ही मानते हैं। पहले से ही घटादि कार्य कारणात्मना अनागतावस्थ है ही, वही दण्ड आदि कारणों के व्यापार से प्रकट होता है– यही सांख्यमत है। इसी को सिद्ध करने को तथा असत् कार्यवादी नैयायिकों के मत को खण्डन करने को ही यह 9वीं कारिका का प्रवृत्त हुई है। इसमें पाँच हेतु दिए हैं, जिनसे कार्य सत् है– यह सांख्यमत सिद्ध होता है। जैसे–

1. असदकरणात् –असत् वस्तु कभी सत् नहीं हो सकती है। यदि घट पहले मृत्तिका में विद्यमान नहीं रहता तो वह हजारों व्यापार करने से भी सत् नहीं हो सकता था; क्योंकि कितने ही व्यापार करने से भी नील कभी पीत नहीं हो सकता है। खरगोश के सींग उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। किन्तु जो पदार्थ पहले से ही अपने कारण में रहता है, वही प्रकट होता है, जैसे तिल से तेल, दही से घृत। बालू से तैल कभी नहीं निकलेगा; क्योंकि बालू में तेल पहले से विद्यमान नहीं है और विद्यमान वस्तु ही प्रकट हो सकती है और धर्मी घट यदि है ही नही ंतो वह 'असन् घटः' ऐसे कैसे कहा जा सकता है? धर्मी घट रहे बिना उसका धर्म असत्त्व उसमें कैसे रह सकता है? अतः धर्मी को भी पहले से विद्यमान मानना ही पड़ेगा। तभी 'असन् घटः' यह व्यवहार भी अनागतावस्थ घट को लेकर उपपन्न हो सकता है। अतः कार्य सत् है– यह मत सिद्ध हो जाता है।

2. उपादानग्रहणात् –घट बनाने के लिए घट के उपादान कारण मृत्तिका को ही कुम्हार लेता है, सूत को नहीं लेता है और कपड़ा बुनने के लिए जुलाहा सूत को ही ग्रहण करता है, मृत्तिका को नहीं लेता है। इससे भी सिद्ध होता है कि कार्य सत् है। वह कार्य जिसमें विद्यमान है, उसी वस्तु का ग्रहण होता है, सबका नहीं। अथवा उपादान– मृत्तिका आदि कारण भी अपने से सम्बद्ध घट आदि को ही उत्पन्न कर सकते हैं और सम्बन्ध तो सत् के साथ ही हो सकता है। अतः कार्य सत् है अर्थात् तन्तु आदि कारणों से जिस कार्य का सम्बन्ध होगा, उसी कार्य को कारण उत्पन्न कर सकता है। अतः तन्तु के साथ पट का सम्बन्ध है तभी तन्तु से पट होता है और सम्बन्ध सत् का ही हो सकता है। अतः कार्य भी सत् ही है क्योंकि बिना सम्बन्ध के कोई कारण किसी कार्य को उत्पन्न नहीं करता है। इसमें हेतु है–

3. सर्वसम्भवाऽभावात् –यदि कारण से असम्बद्ध भी कार्य उत्पन्न हो सकता तो चाहे जिस कारण से जो चाहे, वह सभी कार्य उत्पन्न होने चाहिए। तन्तु से असम्बद्ध पट यदि तन्तु से हो सकता है तो घट भी तन्तु से असम्बद्ध है, अतः वह भी तन्तुओं से उत्पन्न होना चाहिए। परन्तु सब कारणों से सब कार्य उत्पन्न होते नहीं हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि जिस कारण से जो कार्य सम्बद्ध हैं, वे ही कार्य उस कारण से होते हैं। मृत्तिका से घट सम्बद्ध है, पट नहीं, अतः मृत्तिका से घट ही होता है, पट नहीं होता है। अतएव घट को सत् मानना ही पड़ेगा, नही ंतो कारण के साथ कार्य का सम्बन्ध नहीं बन सकेगा। सत् कारण का तो सत् कार्य से ही सम्बन्ध हो सकता है, असत् के साथ नहीं, अतः कार्य सत् ही है।

यद्यपि नैयायिक लोग कार्य को असत् मानते हैं और जिस कारण (तन्तु) की जिस कार्य (पट) के सम्पादन में शक्ति होती है, वही कारण उस कार्य को उत्पन्न करता है, ऐसा वे समाधान करते हैं; अतः सब कार्य सबसे उत्पन्न नहीं होते हैं– ऐसी अवस्था उनके मत में उपपन्न होती है, तथापि शक्ति भी तो सम्बन्ध विशेष ही है। वह शक्तिरूप सम्बन्ध असत् कार्य के साथ कैसे हो सकता है? क्योंकि सम्बन्ध द्विष्ठ होता है, शक्त कारणनिरूपित शक्ति शक्य कार्य में भी रहेगी ही। शक्य के सत् हुए बिना उसमें शक्ति कैसे रहेगी? यदि शक्य के साथ सम्बन्ध हुए बिना भी शक्त कारण कार्य को उत्पन्न करेगा तो फिर उससे सभी कार्य उत्पन्न होने चाहिए।

4. शक्तस्य शक्यकरणात् –शक्त में यदि सर्वनिरूपिता शक्ति मानते हैं तो सब कार्य उससे होने चाहिए। यदि केवल शक्य मात्र निरूपिता शक्ति ही शक्त में मानते हैं, तो शक्त सत् हुए बिना वह शक्ति शक्य में कैसे रह सकती है? अतः शक्य को सत् मानना ही पड़ेगा। शक्त से शक्य ही कार्य उत्पन्न होते हैं। अतः कार्य भी सत् ही है।

5. कारणभावाच्च सत्कार्यम् –कार्य भी कारणात्मक ही होता है। अर्थात् जैसा कारण होता है, उससे वैसा ही कार्य भी उत्पन्न होता है। जैसे– जौ से जौ ही उत्पन्न होते हैं, चणा से चणा ही उत्पन्न होता है, चणा से जौ कभी उत्पन्न नहीं होता है, अतः कारण से अभिन्न ही कार्य होता है। कारण सत् है; अतः कार्य को भी सत् ही मानना चाहिए। सत् कारण का असत् कार्य से तो अभेद हो नहीं सकता है। अतः कार्य सत् है– यह सिद्ध हो जाता है।

और भी– पट आदि कार्य तन्तु आदि की विशेष अवस्थामात्र ही है और पट बनाने के लिए तन्तु ही लिए जाते हैं, मृत्तिका नहीं और तन्तु का एवं पट का वजन सदा एक ही रहता है, तन्तु के तौल से कम–वेशी तौल पट का कभी नहीं होता है और तन्तु से पट का कभी संयोग या विभाग भी नहीं होता है, किन्तु तादात्म्य ही रहता है। अतः तन्तु से पट भिन्न नहीं है और तन्तु जब सत् है, तब उससे अभिन्न पट भी सत् ही है– यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार जब जगत् सुख–दुःखाद्यात्मक है, तब उसका कारण भी सुख–दुःख–मोह स्वरूप त्रिगुणात्मक ही सिद्ध होता है और वह कारण प्रधान ही है। इस प्रकार बुद्धि आदि कार्यों से कारण की अनुमान से भी सिद्धि हो जाती है।।

हेतुमदनित्मव्यापि सक्रिमनेकमाश्रितं लिंगम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्।। 10।।

अन्वयः–अव्यक्ततम्, हेतुमत्, अनित्यं, अव्यापि, सक्रियम् अनेकम्। आश्रितम्, लिंगम्, सावयवम्, परतन्त्रम्, अव्यक्तम् विपरीतम्।।

शब्दार्थः– व्यक्तम् –बुद्धि से लेकर पृथ्वी तक के तत्त्वों का समूह, **हेतुमत् –**सकारण अर्थात् उत्पन्न होने वाला, **अनित्यम्** –विनाशशील, **अव्यापि** – एकदेषीय अर्थात् सर्वत्र न रहने वाला, **सक्रियम्** –क्रियावान्, **अनेकम्** –अनेक, **आश्रितम्** –अपने कारण में आश्रित, **लिंगम्** –अपने कारण में लीन होने वाला, अपने

कारण का अनुमान कराने वाला, **सावयवम्** –अवयवों से युक्त, **परतन्त्रम्** –अपने कारण के परतन्त्र, **व्यक्तम्** –प्रकृति, **विपरीतम्** –प्रतिकूल।।

अर्थः–बुद्धि से लेकर पृथ्वी तक के व्यक्त कहें जाने वाले तत्त्व सकारण अर्थात् उत्पन्न होने वाले, विनाशशील, एकदेशीय अर्थात् व्याप्त, संसरण करने वाले अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान को गमन करने वाले, अनेक, अपने कारण में आश्रित तथा उन्हीं में लीन होने वाले अथवा अपने कारण का अनुमान कराने वाले, अवयवों से युक्त, अपने कारण के परतन्त्र हैं। अव्यक्त, जिसे प्रकृति कहते हैं, इसके विपरीत होता है।।

व्याख्या –इस प्रकार घट–पट आदि कार्य सत् हैं, कारण दण्ड आदि के व्यापार से पूर्व भी वे अपने–अपने उपादान कारण मृत्तिका आदि में विद्यमान हैं, कारण व्यापार केवल उनकी अभिव्यक्ति होती है– यह सत्कार्यवाद सिद्ध हो गया है और सत्कार्यवाद प्रधान के साधन में उपयोगी है– यह आगे स्पष्ट होगा। प्रधान और उसके कार्यों के वैधर्म्य और साधर्म्य का ज्ञान विवेक ज्ञान में उपयोगी है, अतः कैसा प्रधान सिद्ध करना है तथा उसका और उसके कार्यों का किस अंश में वैरूप्य है और किस अंश में सारूप्य है– यह बताने के लिए ही यह दशम कारिका अवतीर्ण होती है। प्रधान के कार्य बुद्धि आदि पृथिव्यन्त सभी 'व्यक्त' कहलाते हैं। ये सभी 1. हेतुमत् – कारण से जन्य हैं और इनका प्रधान ही कारण है और प्रधान इससे विपरीत है अर्थात् प्रधान का कोई कारण नहीं है; अतः वह कारण से जन्य नहीं है और बुद्धि आदि तत्त्व आविर्भाव और तिरोभावशील हैं; अतः ये 2. अनित्य हैं और प्रधान तो नित्य है और बुद्धि आदि तत्त्व 3. अव्यापक हैं। क्योंकि कार्य अपने कारण से व्याप्य ही होते हैं। ये सब कार्य हैं और इनका प्रधान कारण है, अतः वह व्यापक है। व्याप्य से अधिक देशवृत्ति व्यापक होता है। व्यापक से कम देश में रहने वाला व्याप्य होता है। इसी प्रकार बुद्धि आदि कार्य 4. सक्रिय हैं, नया–नया शरीर धारण वे करते हैं और उसे छोड़ते रहते हैं। अतः ये संसरणशील होने से सक्रिय हैं और बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय आदि के व्यापार – निश्चय, मनन, अहंकार आदि वृत्तियाँ भी हैं; परन्तु प्रधान तो निष्क्रिय है। वह व्यापार से शून्य है। संसरणशून्य है और बुद्धि आदि 5. अनेक हैं, परन्तु प्रधान तो एक ही है। प्रति पुरुष बुद्धि अहंकार आदि भिन्न–भिन्न रहते हैं। अतः वे अनेक हैं। बुद्धि आदि कार्य अपने कारण–प्रकृति के 6. आश्रित हैं; परन्तु प्रधान तो किसी का कार्य नहीं है, अतः वह किसी कारण का आश्रित नहीं है और बुद्धि आदि कार्य 7. लिंग – लयशील हैं। प्रलयकाल में उनका अपने–अपने कारणों में लय हो जाता है। जैसे– पृथ्वी आदि पंचभूतों का तन्मात्र में लय हो जाता है, पाँच तन्मात्र भी इन्द्रियों के साथ अहंकार में लीन हो जाते हैं, अहंकार बुद्धि में और बुद्धि प्रकृति में लीन हो जाती है; परन्तु प्रकृति किसी में लीन नहीं होती है। अतः वह अलिंग है और बुद्धि आदि 8 सावयव – शब्द स्पर्श आदि अवयवों से युक्त हैं अथवा सावयव – संमिश्रण शील हैं; परन्तु प्रधान निरवय और संयोगशून्य है। क्योंकि वह सर्वव्यापक – विभु है, अतः उसका संयोग नहीं हो सकता है। अप्राप्त की प्राप्ति को ही संयोग कहते हैं। परन्तु प्रधान तो विभु है; अतः वह सर्वत्र है, उसकी सर्वत्र ही प्राप्ति है, अप्राप्ति कहीं नहीं है, अतः उसका संयोग नहीं हो सकता है और बुद्धि आदि प्रधान के 9 परतन्त्र हैं, प्रधान के बिना वे कोई कार्य नहीं कर सकते हैं;

परन्तु प्रधान तो स्वतन्त्र है। इस प्रकार कारण प्रधान से उसके कार्य बुद्धि आदि विरूप – विपरीत हैं। लोक में भी पुत्र अपने पिता से अनेक अंश में विरूप – विरूद्ध धर्मवाला भी देखा जाता है। इसी प्रकार प्रकृति के कार्य बुद्धि आदि भी प्रकृति से पूर्वोक्त अनेक अंशों में विरूप हैं।।

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।। 11।।

अन्वयः—व्यक्तम्, तथा, प्रधानम्, त्रिगुणम्, अविवेकि, विषयः, सामान्यम्, अचेतनम्, प्रसवधर्मि, पुमान्, तद्विपरीतः, तथा, च।।

शब्दार्थः— व्यक्तम् —बुद्धि से लेकर पृथिवी तक के तत्त्व, **तथा** —और, **प्रधानम्** —प्रकृति, **त्रिगुणम्** —त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व, रज और तम रूप, **अविवेकि** —अपृथक् या अभिन्न, **विषयः** —विषय अर्थात् भोग्य, **सामान्यम्** —सर्व साधारण, **अचेतनम्** —जड़, **प्रसवधर्मि** —परिणामी, **पुमान्** —पुरुष, **तद्विपरीतः** —उन दोनों से विपरीत, **तथा** —वैसा, **च** —भी।।

अर्थः—व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही त्रिगुणात्मक, अपृथक् या अभिन्न, भोग्य, सभी पुरुषों के लिए समान, जड़ तथा परिणामी हैं। पुरुष उन दोनों से विपरीत तथा सदृश भी है।।

व्याख्या —व्यक्त और अव्यक्त के वैरूप्य का प्रदर्शक कोष्ठक

व्यक्त (बुद्धि आदि पृथिव्यन्त 23 तत्त्व)	**अव्यक्त** – प्रधान (प्रकृति)
1. हेतुमत्	1. अहेतुमत्
2. अनित्य	2. नित्य
3. व्याप्त	3. व्यापक
4. सक्रिय	4. निष्क्रिय
5. अनेक	5. एक
6. आश्रित	6. अनाश्रित
7. लयशील	7. अलिंग
8. सावयव	8. निरवयव
9. परतन्त्र	9. स्वतन्त्र

अब व्यक्त और अव्यक्त का साध्यर्म्य तथा व्यक्त और अव्यक्त से पुरुष का वैधर्म्य बताते हैं। व्यक्त और अव्यक्त ये— सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से युक्त होने से तथा त्रिगुणात्मक होने से 'त्रिगुण' कहलाते हैं। अथवा तीन गुण से युक्त होने से भी ये त्रिगुण कहलाते हैं। स्त्री, घट आदि सभी पदार्थ सुख—दुःख—मोहात्मक होने से त्रिगुणों से युक्त हैं। यतः— घट, स्त्री आदि पदार्थ किसी को सुख देते हैं, तो किसी को वे दुःख भी देते हैं और किसी को मोहित करते हैं। अतः व्यक्त और अव्यक्त सभी सुख—दुःख—मोहात्मक गुणत्रय से युक्त हैं। पुरुष तीनों गुणों से रहित है। व्यक्त और अव्यक्त अविवेकी हैं। प्रधान से अलग नहीं हैं; अपितु प्रधान से अभिन्न ही है। पुरुष तो प्रधान से अलग है। व्यक्त और

अव्यक्त– सभी पुरुषों से भोग्य होने से सर्वपुरुषसाधारण हैं। जैसे घट को एक साथ अनेक पुरुष देख सकते हैं, उसी प्रकार प्रकृति आदि विषयों का भी सभी पुरुष एक साथ उपभोग करते हैं, सुखादेः सर्वमसामान्य – सर्वपुरुष–साधारण हैं, परन्तु पुरुष तो असाधारण है। प्रतिसंघात पृथकृ–पृथक् है। व्यक्त और अव्यक्त अचेतन – जड़ हैं, लेकिन पुरुष तो चेतन है। व्यक्त और अव्यक्त प्रसवधर्मी – परिणामशील हैं। इनका क्षण–क्षण में परिणाम होता रहता है; परन्तु पुरुष अपरिणामी – कूटस्थ नित्य है।। 11।।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।

अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयष्च गुणाः।। 12।।

अन्वयः–गुणाः, प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः, प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः, अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयः, च।।

शब्दार्थः– गुणाः –सत्त्व, रज एवं तम ये तीनों गुण, **प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः** –सुखात्मक, दुःखात्मक तथा मोहात्मक, **प्रकाषप्रवृत्तिनियमार्थाः** –प्रकाश करना, प्रवर्तन करना एवं नियमन करना क्रम से इनका प्रयोजन कार्य है, **अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयः** –एक दूसरे को दबाकर बढ़ने वाले, एक दूसरे के आश्रय बनने वाले एक दूसरे के परिणाम में सहायता करने वाले तथा स्त्री पुरुष के समान आपस में संयोग स्वभाववाले अर्थात् सहचारी होते हैं।।

अर्थः–सत्त्व, रज तथा तम ये तीनों गुण क्रमशः सुखात्मकः, दुःखात्मक एवं मोहात्मक हैं। प्रकाश करना, प्रेरणा करना एवं अवरोध करना क्रम से इनका कार्य है। और ये तीनों गुण एक–दूसरे को दबाकर बढ़ने वाले, एक–दूसरे के सहायक बनने वाले, एक–दूसरे के परिणाम में सहायता करने वाले तथा आपस में संयोग स्वभाव वाले अर्थात् सहचारी होते हैं।।

व्याख्या–सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण– ये तीन गुण हैं। इनमें सत्त्वगुण सुखात्मक है, रजोगुण दुःखात्मक है एवं तमोगुण मोहात्मक है। सत्त्वगुण प्रकाशक है, रजोगुण प्रवर्त्तक है और तमोगुण नियामक है। ये तीनों गुण परस्पर में एक–दूसरे को दबाते रहते हैं और ये तीनों गुण अन्योन्याश्रित भी हैं अर्थात् एक–दूसरे का सहारा लेकर ही कार्य करते हैं और ये तीनों गुण परस्पर में एक–दूसरे को अपने अनुकूल भी बनाते रहते हैं और ये तीनों गुण सदा साथ ही रहते हैं। इनका परस्पर में सदा संयोग रहता है। कभी इनका वियोग नहीं होता है अर्थात् सत्त्वगुण सदा रजोगुण और तमोगुण के साथ ही रहेगा, कभी अकेला नहीं रहेगा। प्रत्येक पदार्थ में तीनों गुण साथ ही रहते हैं। अतः प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक होती है। जैसे स्त्री संयोग में सुख देती है, अतः सुखात्मक है। वियोग में या अपनी सपत्नियों को दुःख देती है; अतः दुखात्मक भी है। किसी के लिए वह मोहस्वभाव है; अतः मोहात्मक है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु सत्त्व, रज, तम– इन तीनों गुणों से युक्त है। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति तत्त्व है। प्रकृति में ये सभी तत्त्व समान रूप से ही रहते हैं, कम–ज्यादा नहीं और ये तीनों गुण परस्पर में एक–एक के सहायक हैं और प्रतिक्षण इनका परिणाम भी होता ही रहता है।।

स्वयं आंकलन प्रष्न –3

1. सांख्यमतानुसार कितने तत्त्व मान्य हैं?
2. सांख्य में सूक्ष्म होने के कारण किसका प्रत्यक्ष नहीं होता है?

2.6 सारांष

सांख्य–शास्त्र के पुरुषार्थ विषयक ज्ञान में भूतों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय पर विचार–विर्मश किया जाता है। यह ज्ञान अतीव गूढ़ और रहस्यात्मक है। इसका उपदेश पहले–पहले कपिल मुनि ने किया उसने इसकी दीक्षा आसुरि नामक शिष्य को दी। आसुरि ने इसका उपदेश पंचशिख को दिया पंचशिखाचार्य ने इस पर एक विशाल तन्त्र का निर्माण किया उस तन्त्र का नाम षष्टितन्त्र था। शिष्य परम्परा के द्वारा वह ज्ञान ईश्वर–कृष्ण को मिला। उसने सत्तर कारिकाओं में इस ज्ञान को संक्षेप में अभिव्यक्त किया बहत्तर कारिकाओं वाली उस सप्तति को ही सांख्य–कारिका कहते है। समस्त सुविशाल षष्टितन्त्र में जिन विषयों का ज्ञान भरा पड़ा है। उन सारे विषयों का ज्ञान इस सप्तति नाम के शास्त्र में भी व्यक्त किया गया है। केवल आख्यानों को और अन्य मतों की आलोचना को छोड़ दिया गया है। इनमें केवल सांख्य–शास्त्र के ही दर्शन सिद्धान्तों का पूरी तरह से निरुपण किया गया है।

2.7 कठिन शब्दावली

सौक्ष्म्यात् –सूक्ष्म होने के कारण

शक्तस्य – समर्थ के

शक्यकरणात् –उत्पत्तियोग्य कार्य के करने से

विपरीतम् –प्रतिकूल

प्रकाषप्रवृत्तिनियमार्थाः –प्रकाश करना

अचेतनम् –जड

गुणाः –सत्त्व, रज एवं तम ये तीनों गुण

प्रसवधर्मि –परिणामी

2.8 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. महत्, अहंकार, मन सहित एकादशेन्द्रियां, पंचतन्मात्र तथा पंचमहाभूत
2. ग्यारह

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. सत् और कार्य
2. तेइस

स्वयं आंकलन प्रष्न –3

1. पच्चीस तत्त्व
2. प्रकृति एवं पुरुष

2.9 अनुषंसित ग्रन्थ

1. सांख्यकारिका, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, बालकृष्ण त्रिपाठी, बी. 2/2, भदैनी, वाराणसी।
2. सांख्यकारिका, संस्कृत व्याख्याकार– म. म. श्री गुरुप्रसादशास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– आचार्य श्री सीतारामशास्त्री, प्रो. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

3. सांख्य तत्त्व प्रदीप, डॉ. अमल धारी सिंह, भारती विद्या प्रकाशन 1, यू.वी. बैंगलो रोड, दिल्ली–07।

2.10 अभ्यास प्रश्न

1. तत्त्व सृष्टि पर प्रकाश डालिए।
2. सत्कार्यवाद क्या है? स्पष्ट करें।
3. सांख्य में सूक्ष्म होने के कारण किसका प्रत्यक्ष नहीं होता? वर्णन करें।
4. त्रैगुणयवाद का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।

तृतीय इकाई

त्रिगुण, व्यक्त–अव्यक्त एवं प्रकृति और पुरुष

संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 तीन गुण

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

3.4 व्यक्त–अव्यक्त

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

3.5 प्रकृति और पुरुष

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 3**

3.6 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (13 से 18 कारिका तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 4**

3.7 सारांष

3.8 कठिन शब्दावली

3.9 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

3.10 अनुषंसित ग्रन्थ

3.11 अभ्यास प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का स्वभाव क्रम से सुख, दुःख और मोह माना गया है। सत्वगुण से प्रकाश अर्थात् ज्ञान होता है, रजोगुण से प्रवृत्ति हुआ करती है और तमोगुण से नियमन होता रहता है, अर्थात् उसकी महिमा से ज्ञान में और प्रवृति में शैथिल्य आ जाता है। यदि तमोगुण का यह प्रभाव शेष दो गुणों पर नहीं पड़ता रहता, तो प्रवृति और प्रकाशन में स्थिरता नहीं रहती। क्षण–क्षण में नये–नये परिणाम होते रहते, सृष्टि और संहार ही होते रहते और स्थिति अभिव्यक्त ही नहीं होती। अतः संसार में प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक है।

3.2 उद्देश्य

- त्रिगुणात्मक ज्ञान
- सृष्टि निर्माणार्थ प्रकृति और पुरुष संयोग

- कैवल्य ज्ञान
- व्यक्त–अव्यक्त ज्ञान

3.3 तीन गुण

प्रकृति के तीन गुण सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण होते हैं। सत्वगुण उसकी प्रकाशशीलता होती है जिससे ज्ञान का व्यवहार चलता है। रजोगणु उसकी चंचलता या प्रवृतिशीलता होती है। जिससे सृष्टि–संहार होते है और सारे का सारा क्रिया–व्यवहार चलता है। तमोगुण उसकी शिथिलता, मन्दता, आवरण आदि विशेषतायें होती है। उससे प्रवृत्ति में तथा ज्ञान और क्रिया में जरा शिथिलता के आ जाने से उसमें स्थिति अर्थात् ठहराव आ जाता है। इन तीनों गुणों के ये स्वभाव सृष्टि के हो जाने पर अभिव्यक्त हो जाते हैं। मूल–प्रकृति की अव्यक्त दशा प्रकट नहीं होते। वह दशा सर्वथा अव्यक्ता की ही दशा होती है। ये तीन गुण इस व्यक्त दशाा में एक–दूसरे के साथ सहयोग करते हुए तथा एक–दूसरे के साथ गुण–प्रधान भाव में ठहरते हुए ही काम करते हैं। यद्यपि इनके स्वभाव परस्पर विरूद्ध होते हैं, फिर भी ये एक दूसरे से मिल–जुल कर ही काम करते हैं। दीपक में तेल बत्ती और अग्नि, परस्पर विरूद्ध स्वभाव की तीन जड़ वस्तुयें परस्पर सहयोग से ही काम करती हुई दीपक के प्रयोजन को पूरा करती रहती है। इसी तरह के विरूद्ध स्वभाव के ये दो प्रकृति के तीन गुण परस्पर सहयोग के द्वारा ही पुरुषार्थ को सिद्ध करते हुए प्रकृति के औत्सुक्त को शान्त करते रहते हैं। इस दशा में व्यक्ति किसी वस्तु में कोई एक गुण प्रधानतया चमक उठाता है तो शेष दो गुण अप्रधान होकर और उसके अधीन रहकर ही उसे सहयोग देते हुये उसे सफल बनाते रहते हैं। यह इनका स्वभाव है। गुणों में इस प्रकार की विषमता के आधार पर और विषमता में भी परस्पर सहयोग के आधार पर व्यक्त संसार का सारे का सारा व्यवहार चलता रहता है। यह विषमता और सहयोग अनन्त–अनन्त विचित्र प्रकारों में अभिव्यक्त होते रहते हैं। इसलिए यह संसार अनन्त वैचित्य से सर्वथा परिपूर्ण है। यदि गुणों में सहयोग नहीं होता और यदि उसमें विषमता नहीं आती, तो कोई भी वस्तु या कोई भी तत्त्व व्यक्त नहीं होते। सारी की सारी सृष्टि गुणों में विषमता के आ जाने से ही होती है। इस सृष्टि के समस्त कार्य उसी विषमता से और गुणों के मिल–जुल कर काम करने से ही चलते हैं। गुणों की सर्वथा साम्य की अवस्था में कुछ भी व्यक्त नहीं होता है। उनका वह समता की दशा ही अव्यक्त दशा होती है। उसी को मूल–प्रकृति भी कहा जाता है। तो मूल–प्रकृति की अवस्था में तीनों तत्त्व आदि गुण सर्वथा समभाव की अवस्था में ठहरे रहते हैं।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. सांख्यकारिका के अनुसार गुण कितने हैं?
2. सत्त्वगुण किसका प्रतीक है?

3.4 व्यक्त–अव्यक्त

कारण में जो स्वभाव होता है, वही स्वभाव कार्य में भी आ जाता है। अतः कार्य के स्वभाव से कारण के स्वभाव का अनुमान किया जा सकता है। तो व्यक्त संसार जब त्रिगुणात्मक है, विभक्त न रहता हुआ मिल–जुलकर ही रहने वाला है। बन्धन में डालने वाला ग्राह्य विषय बनाने वाला है, अनेक पुरुषों के साथ सामान्यतया विषय बनकर काम करने वाला है, अचेतन और परिणामशील होता हुआ प्रसूतिशील बना रहता है, तो इसका कारण अवयक्त तत्त्व भी इन्हीं स्वभावों वाला होना चाहिये। उस अव्यक्त तत्त्व की सत्ता अनुमान से इस प्रकार से सिद्ध की जाती है परस्पर भिन्न–भिन्न स्वभाव के कार्य पदार्थ अपने मूल कारण के भीतर अपनी उत्पत्ति के पहले होते हैं। तात्पर्य यह है कि समस्त भेदात्मक सजातीय कार्यों का कोई एक सामान्य तथा अभिन्न कारण होना चाहिए, जिसके भीतर वे उत्पत्ति से पहले रहते रहें और जो उन सब के भीतर अभेद रूप से और व्यापक भाव से सदा विद्यमान रहे। परस्पर भिन्न स्वरूप वाले भेदात्मक कार्य पदार्थ अपने सामान्य कारण पदार्थ के भीतर सदा रहते हैं और उसी के भीतर उनका सदा समन्वय होता है। कोई एक अभेदात्मक कारण तत्त्व उन सजातीय भेदात्मक कार्य तत्त्वों में व्यापक भाव से समन्वित होकर रहता है। जैसे समस्त मिटट्ी के पात्रों में मिटट्ी समन्वित होकर रहती है, उसी तरह से समस्त महत् तत्त्व आदि कार्यों में व्यापक होकर ठहरने वाला कोई अभिन्न कारण तत्त्व अवश्य ही होना चाहिये। सृष्टि के समय अविभक्त कारण के भीतर से ही परस्पर विभक्त कार्य बाहर प्रकट होते रहते हैं और संसार के समय पुनः उसी के भीतर रहते हुए उसमें अविभक्त रूप में अर्थात् एक समान आकार में रहते हैं। इसलिये समस्त विश्व का तथा तेईसों महत् आदि तत्त्वों का कोई सर्वसाधारण कारण अवश्व होना चाहिए, जिसमें से सृष्टि के समय ये तत्त्व प्रकट हो जाते हैं और जिसके भीतर संहार के समय एक रूप में ठहरे रहते हैं। इन हेतुओं से जिस मूल कारण सत्ता की सिद्धि हो जाती है, वही मूल कारण अव्यक्त तत्त्व होता है। वही अव्यक्त तत्त्व त्रिगुणात्मक होने के कारण परिणाम को प्राप्त होता रहता है। वही गुणों के परस्पर सहयोग से और उनके परस्पर गुण प्रधान भाव में ठहरे रहने से और फलतः एक–एक गुण की प्रधानता से उस तरह से विविध रूपों में प्रकट होता है, जिस तरह से एक ही भूमिस्थ जल भिन्न–भिन्न वृक्षों के फलों के भीतर भिन्न–भिन्न प्रकार के रसों से युक्त होकर भिन्न–भिन्न रूपों में प्रकट होता है।

स्वयं आंकलन प्रश्न –2

1. कार्य क्या है?
2. कारण क्या है?

3.5प्रकृति और पुरुष

प्रकृति –अभिनवतया प्रकट होने वाली जो वस्तु जिस मूल वस्तु के शरीर में विकार आने से ही प्रकट हो जाये, वह अभिनव वस्तु उस मूल वस्तु की विकृति होती है। उस विकृतिरूप वस्तु की अपेक्षा से मूल वस्तु को उस विकृति की प्रकृति कहा जाता है। समस्त जगत् के भीतर अनन्त प्रकृतियाँ और अनन्त विकृतियाँ है परन्तु संसार जिस एकमात्र वस्तु की विकृति है, उसे मूल–प्रकृति कहा जाता है। वह

एकमात्र प्रकृति ही है। वह किसी अन्य तत्त्व की विकृति नहीं। उसी को प्रकृति तत्त्व कहते हैं। उसका एक और नाम प्रधान तत्त्व भी है। सारा जगत् संहार के काल में उसी के भीतर अप्रकट रूप में अर्थात् अव्यक्त रूप में रहता है। अतः उसे अव्यक्त तत्त्व भी कहते हैं। वस्तुयें तभी प्रकट या अव्यक्त हो जाती हैं, जब अन्तःकरण और बाह्यकरण परस्पर मिल–जुल कर काम करें और उन्हें व्यक्त कर दें, तो जिस अवस्था में सभी करण मूल–प्रकृति के भीतर विलीन होकर स्वयं अव्यक्त हो जायें, उस अवस्था की अभिव्यक्ति कैसे हो सके। तो उसकी सत्ता को अनुमान के द्वारा या शास्त्र वाक्यों के आधार पर ही ठहराया जा सकता है। वह दशा तो अपने स्वभाव से अव्यक्त ही होती है। इसलिये मूल–प्रकृति को यथार्थता से ही अव्यक्त तत्त्व कहा जाता है।

पुरुष –सांसारिक वस्त्र आदि जितनी भी समूहात्मक वस्तुयें होती हैं, वह सब की सब किसी अन्य पदार्थ के ही प्रयोजन के लिए प्रयुक्त होती हैं। अतः तीनों गुणों के ये विविध समूहात्मक सांसारिक पदार्थ भी किसी और तत्त्व के प्रयोजन के लिए समूहात्मकता के रूप में ठहरते हैं। वही अन्य–तत्त्व पुरुष–तत्त्व हैं। प्रकृति–तत्त्व और समस्त प्राकृतिक तत्त्व त्रिगुणात्मक, विषय–रूप, अप्रकाश–रूप अचेतन और परिणामशील होते हैं। अतः इन विशेषताओं से सर्वथा विपरीत विशेषताओं वाला जो तत्त्व है, वह प्रकृति से भी और प्राकृतिक तत्त्वों से भी अतिरिक्त ही होना चाहिए। जो कुछ भी सुखःदुख मोह स्वरूप होता है, उसका कोई अधिष्ठता होना चाहिए। जो वह अधिष्ठाता है वह इन त्रिगुणात्मक तत्त्वों से अतिरिक्त ही कोई करेगा। तीनों गुण जड़ होते हुए भोग्य ही हैं। इनका कोई भोक्ता अवश्य होना चाहिए, जो चेतन हो वही त्रिगुणात्मक तत्त्वों से अतिरिक्त चेतन तत्त्व पुरुष तत्त्व होता है। फिर प्रकृति को सृष्टि आदि के प्रति प्रवृत्ति होती है, वह पुरुष ही के भोग और मोक्ष के लिए हुआ करती है। यदि पुरुष नहीं होता, तो प्रकृति को प्रवृति ही नहीं होती। उसके फलस्वरूप संसार ही नहीं होता, अर्थात् सृष्टि संहार आदि होते ही नहीं। इसलिए समस्त प्रकृतिक तत्त्वों के अतिरिक्त तत्त्व के रूप में पुरुष तत्त्व की सता को अवश्य ही मानना पड़ता है।

यदि एक ही पुरुष होता तो सभी प्राणी एक साथ उत्पन्न होते और मरते सभी अन्तःकरणों में एक साथ ही एक जैसी ही प्रवृत्ति होती है। परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ करता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि पुरुष असंख्य हैं। उन्हीं असंख्य प्रकार के पुरुषार्थ के लिए अन्तःकरण की प्रवृतियाँ असंख्य प्रकारों की ही होती हैं। फिर इन अन्तःकरणों में तीन गुणों के असंख्य प्रकारों के ही परिणाम देखे जाते हैं। यह तभी होता है, जब कि पुरुष असंख्य हैं और उनके भोग अंसख्य प्रकार के हैं।

पुरुष तत्त्व के गुणात्मक न होने के कारण यह सिद्ध होता है कि वह पुरुष चेतन द्रष्टा होता हुआ प्रकृति के परिणामों का साक्षी होता है। वह केवल है, अर्थात् उसका किसी के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह किसी के प्रति कोई भी दिलचस्पी नहीं रखता हुआ सर्वथा तटस्थ ओर उदासीन बना रहता है। वह चेतन होता हुआ दृश्य रूप और विषय रूप प्रकृति के परिणामों का दृष्टा होता है। दृष्टा होने का तात्पर्य यह है कि वह इन परिणामों का साक्षी और भोक्ता है। वह रजोगुण से रहित होता हुआ कुछ भी नहीं करता है। वह अकर्त्ता है। बुद्धि में कर्तृत्व रहता है।

बुद्धि अचेतन होती हुई भी पुरुष के प्रतिबिम्ब को धारण करने से अचेतन जैसी प्रतीत होती है। पुरुष तटस्थ होता हुआ भी बुद्धि–दर्पण में प्रतिबिम्ब होने के कारण बुद्धि के धर्मों को धारण करता हुआ सा प्रतीत होता है। अतः अकर्त्ता होता हुआ भी कर्त्ता जैसा प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि अविवेक के कारण बुद्धि के स्वभाव पुरुष में और पुरुष के स्वभाव बुद्धि में दिखते है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –3

1. संघात से किसका बोध होता है?
2. परार्थत्वात पद का सम्बन्ध किससे है?

3.6 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (13 से 18 कारिका तक)

सत्त्वं लघु प्रकाषकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।

गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।। 13।।

अन्वयः–सत्त्वम्, लघु, प्रकाशकम्, इष्टम्; रजः, चलम्, च, उपष्टम्भकम्, तमः, गुरु, वरणकम्, अर्थतः, प्रदीपवत्, वृत्तिः।।

शब्दार्थः– सत्त्वम् –सत्त्वगुण, **एव** –ही, **लघु** –हल्का, **प्रकाशकम्** –प्रकाशक, **इष्टम्** –माना गया है, **रजः** –रजोगुण, **चलम्** –चंचल, **उपष्टम्भकम्** –उत्तेजक, **तमः** –तमोगुण, **गुरु** –भारी, **वरणकम्** –अवरोधक, **अर्थतः** –प्रयोजन की सिद्धि के लिए, **प्रदीपवत्** –प्रदीप के समान, **वृत्तिः** –व्यापार होता है।।

अर्थः–सत्त्व गुण ही हल्का तथा प्रकाशक है, रजोगुण ही चंचल तथा प्रवर्तक माना गया है। तमोगुण ही भारी तथा अवरोधक माना गया है। प्रयोजन की सिद्धि के लिए तीनों ही गुण प्रदीप के समान मिल कर कार्य करते हैं।।

व्याख्या –सत्त्व, रज, तम– ये तीन गुण हैं। इसमें **सत्त्व** गुण को सांख्याचार्यों ने लघु माना है और स्वच्छ तथा प्रकाश करने वाला कहा है और इसी सत्त्वगुण का धर्म सुख है।

रजोगुण दूसरे गुणों को सहायता देकर उनको अपने–अपने काम में लगाने वाला है और चंचल है। इसी रजोगुण का धर्म दुःख है। **तमोगुण** भारी है, आवरण करने वाला है। इसी तमोगुण का धर्म मोह है।

ये तीनों गुण यद्यपि परस्पर में एक–दूसरे को दबाने वाले एवं परस्पर विरोधी हैं तो भी दीपक की तरह ही पुरुष के उपभोग आदि के लिए मिलकर कार्य करते हैं। जैसे दीपक में भी तेल और बत्ती का अग्नि से विरोध है, क्योंकि अग्नि तो इनको जला डालती है, तो भी तेल और बत्ती अग्नि के साथ मिलकर घट–पट आदि का प्रकाश करते हैं। इसी प्रकार परस्पर विरूद्ध ये गुण भी एक साथ मिलकर पुरुष के उपभोग के लिए कार्य करते हैं। सुख–दुःख आदि धर्मों का परस्पर में विरोध है, अतः उनके धर्मी– सत्त्व, रज आदि तीन गुण भिन्न–भिन्न माने गए हैं; परन्तु सुख, प्रकाश, लाघव का तो विरोध नहीं है। वे तो एक धर्मी में भी रह सकते हैं, अतः सुख का, लाघव का, प्रकाश आदि का अलग–अलग धर्मी मानने की आवश्यकता नहीं है, इसलिए धर्मी तीन ही गुण हैं, अधिक नहीं है– यह सिद्ध हो जाता है और प्रधान तथा व्यक्त ये सभी सुखादिरूप त्रिगुणात्मक हैं– यह भी सिद्ध हो जाता है।।

अविवेक्यादेः सिद्धस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।

कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्।। 14।।

अन्वयः—त्रैगुण्यात्, तद्विपर्ययाभावात्, अविवेक्यादिः, सिद्धः, कार्यस्य, कारणगुणात्मकत्वात्, अव्यक्तम्, अपि, सिद्धम्।।

शब्दार्थः— त्रैगुण्यात् —त्रिगुणभाव होने के कारण, **तद्विपर्ययाभावात् —**इन अविवेकित्व आदि के अभाव में त्रिगुण का अभाव होने के कारण, **अविवेक्यादिः —**अविवेकित्व इत्यादि धर्म, **सिद्धः —**सिद्ध होते हैं, **कार्यस्य —**कार्य के, **कारणगुणात्मकत्वात् —**कारण के गुणों से युक्त होने के कारण, **अव्यक्त —**प्रकृति, **अपि —**भी, **सिद्धम —**सिद्ध हो जाती है।।

अर्थः—त्रिगुण भाव होने के कारण अर्थात् अव्यक्त आदि के त्रिगुणात्मक होने के कारण तथा अविवेकित्व आदि के अभाव में तीनों गुणों का भी अभाव होने के कारण, अविवेकित्व आदि की सत्ता सिद्ध होती है। कार्य के कारण के ही गुणों से युक्त होने से अव्यक्त—प्रकृत की भी सिद्धि होती है।।

व्याख्या —यद्यपि इस प्रकार ग्यारहवीं कारिका में कहे गए व्यक्त और प्रधान के त्रिगुणत्व की सिद्धि तो अनुमान आदि से हो गई तथापि अनुभव के विषय पृथिवी, घट, पट, स्त्री आदि व्यक्त पदार्थों के अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व, प्रसवधर्मित्व— परिणामशीलत्व आदि धर्म अनुभवसिद्ध होने से प्रामाणिक हो सकते हैं, परन्तु प्रधान तथा बुद्धि आदि जो पदार्थ अनुभव के विषय नहीं हैं, उनके भी अविवेकित्व आदि धर्म हैं, इसमें क्या प्रमाण है, जिसके बल पर ग्यारहवीं कारिका में उनको भी अविवेकि आदि कहा गया है? इस शंका का समाधान इस चौदहवीं कारिका से करते हैं।

अविवेकित्व, विषयत्व आदि धर्मों की अव्यक्त आदि में सिद्धि त्रैगुण्यहेतुक अनुमान से होती है। क्योंकि 'अद्यत् सुखदुःखमोहात्मकं, तत्तदविवेकित्वविषयत्वादियुक्तं, यथेदं व्यक्तं अनुभूयमानम्' यह अन्वयव्याप्ति त्रैगुण्य हेतु में है और जहां अविवेकित्व आदि धर्म नहीं हैं; जैसे— पुरुष में; वहां त्रैगुण्य भी नहीं है, यह व्यतिरेकव्याप्ति भी त्रैगुण्य हेतु में है, यथा—**'यत्र अविवेकित्वविषयत्वादियुक्तत्वरूपसाध्यस्याऽभावस्तत्र त्रैगुण्यस्य हेतोरभावः' इति।** इस प्रकार त्रैगुण्य हेतु में अन्वय और व्यतिरेकव्याप्ति होने से त्रैगुण्य हेतु से अविवेकित्व आदि का अनुमान अव्यक्त में हो जाता है। अव्यक्त की सिद्धि भी इस प्रकार होती है कि— कार्य सदा कारणगुणात्मक ही होती है, जैसे पटरूप कार्य तन्तुरूप कारण के शुक्ल, रक्त आदि जैसे गुण हैं, तादृश गुणात्मक ही होता है।

इसी प्रकार महत्तत्त्व आदि कार्य भी सुख—दुःख—मोहात्मक हैं तो उनका कारण भी सुख—दुःख—मोहात्मक ही होना चाहिए, क्योंकि कारण के सुख—दुःख—मोहरूप त्रिगुणात्मक हुए बिना उससे कार्य कभी सुख—दुःख—मोहात्मक नहीं हो सकते हैं। अतः सुख—दुःख—मोहात्मक कारण अव्यक्त सिद्ध हो जाता है। अर्थात् महदादिकार्यं सुखदुःख्मोहात्मकारण जन्यं, त्रिगुणात्मककार्यत्वात्, घटादिवत्—इस अनुमान से अव्यक्त की भी सिद्धि होती है। अतः अव्यक्त के सिद्ध होने से उसके धर्म अविवेकित्व आदि की भी पूर्वोक्त अनुमान से सिद्धि हो जाती है।।

भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेष्च।

कारणकार्यविभागादविभागाद्वैष्वरूप्यस्य।। 15

कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।

परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविषेषात्।। 16।।

अन्वयः–भेदानाम्, परिमाणात्; समन्वयात्; शक्तितः, प्रवृत्तेः, च, कारणकार्यविभागात्, वैश्वरूप्यस्य, अविभागात्, अव्यक्तम्, कारणम्, अस्ति, त्रिगुणतः, च, समुदयात्, प्रवर्तते, प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्, परिणामतः, सलिलवत्।।

शब्दार्थः– भेदानाम् –बुद्धि आदि कार्यों के, **परिमााणत्** – परिमित होने से, **समन्वयात्** –सदृश होने से, **शक्तितः** –शक्ति से, **प्रवृतेः** –उत्पत्ति होने से, **कारणकार्यविभागात्** –कारण और कार्य के अलग–अलग मालूम पड़ने से, अथवा कारण और कार्य के काम में भिन्नता होने से, **वैष्वरूपस्य** –बुद्धि आदि नानारूप कार्य के, **अविभागात्** –अविभाग होने से अर्थात् प्रलय की अवस्था में कारण में तिरोहित हो जाने से, **अव्यक्तम्** –अव्यक्त, **कारणम्** –हेतु, **अस्ति** –है, **त्रिगुणतः** –तीनों गुणों के स्वरूप से, **च** –तथा, **समुदयात्** –मिले हुए, **प्रवर्तते** –परिणत होता है अर्थात् कार्य करता है, **प्रतिप्रतिगुणाश्रयविषेषात्** –एक–एक गुण के आश्रय से उत्पन्न भेद या अनेकत्व के कारण, **गुणाः** –गुण, **सलिलवत्** –जल की भांति।।

अर्थः–बुद्धि आदि कार्यों के व्यापक न होने से अथवा बुद्धि आदि कार्यों के संख्या में इने–गिने होने से; सदृश होने से शक्ति से उत्पत्ति होने से; कारण और कार्य के अलग–अलग मालूम पड़ने से अथवा कारण और कार्य के काम में भिन्नता होने से; बुद्धि आदि नानारूप कार्यों के कारण में लीन होने से; सब का एक कारण अव्यक्त अवश्य है। यह अव्यक्त अपने तीनों गुणों के स्वरूप से तथा मिले हुए तीनों गुणों के समूह से परिणत होता है अर्थात् कार्य करता है। एक–एक गुण के आश्रय से उत्पन्न भेद या अनेकत्व के कारण परिणाम से, जल की भाँति, विभिन्न होते हैं।।

व्याख्या –नैयायिक लोग व्यक्त – मूर्त परमाणुओं से ही व्यक्त पृथिवी आदि की उत्पत्ति मानते हैं। परमाणुओं में क्रिया होने से एक परमाणु दूसरे परमाणुओं से मिलते हैं, तब द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है। चार द्व्यणुक मिलकर एक त्रसरेणु उत्पन्न होता है। इसी कारण बढ़ते–बढ़ते कपालिका, तब कपाल, तब घट उत्पन्न होता है और कारण– परमाणुगत रूप–रसादि से घटादि कार्यगत रूपादि की उत्पत्ति होती है। इस कारण व्यक्त से ही व्यक्त की उत्पत्ति होती है और सांख्यमत के अनुसार अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति मानने में तो कोई प्रमाण नहीं है, अतः अव्यक्त नामक तत्त्व मानना ठीक नहीं है– इस शंका का समाधान इस कारिका से करते हैं कि महत्तत्त्व से लेकर पृथिवीपर्यन्त 23 तत्त्वरूप कार्यों का कारण अव्यक्त नाम का कोई अवश्य है। इसमें पाँच हेतु हैं। उनमें से प्रथम हेतु यह है–

1. कारणकार्यविभागात् –जैसे कछुवे के शरीर में उसके अंग–हाथ, पैर आदि लीन हो जाते हैं और फिर उससे ही वे बाहर भी निकल आते हैं, ऐसे ही घट, पट आदि जितने भी कार्य हैं, वे सब सत् ही हैं, वे कभी नष्ट नहीं होते हैं, अपितु वे कछुवे के अंगों की तरह ही अपने–अपने कारण से निकलते हैं और वापिस अपने–अपने कारण में ही प्रविष्ट भी हो जाते हैं; अतः अव्यक्त कारणरूप से बाहर व्यक्त

होकर निकलना ही कार्यों का अविर्भाव है, वापिस कारणरूप से अव्यक्त हो जाना ही उनका तिरोभाव है।

2. अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य –अव्यक्त की सिद्धि में यह दूसरा हेतु है। अर्थात् सम्पूर्ण घटादि महत्तत्त्वान्त कार्य प्रलय काल में जिसमें लीन होकर अव्यक्त रूप से विद्यमान रहते हैं, वही परमाऽव्यक्त है। उसका तो किसी में लय और किसी से आविर्भाव भी नहीं होता है, क्योंकि वह नित्य है। अतः उसका तो कोई अव्यक्त अलग नहीं है। अतः वही परमाव्यक्त है और वही मूल प्रकृति कहलाती है।

3. शक्तितः प्रवृत्तेश्च –जिस कारण में जिस कार्य के आविर्भाव करने की शक्ति होती है, उसी कारण से वह कार्य प्रवृत्त होता है; जैसे घट मिट्टी से ही प्रकट होता है, तन्तुओं से नहीं; क्योंकि घट के उत्पन्न करने की शक्ति मिट्टी में ही है और यह शक्ति सत्कार्यवादी सांख्य के मत में अव्यक्तत्वरूप ही है; क्योंकि जो कार्य जिस उपादान कारण में तिरोहित होता है और जिसमें अव्यक्त भाव से रहता है, उसी कारण से ही वह कार्य आविर्भूत भी होता है।

4. परिमाणात् –महत्तत्त्व आदि व्याप्त का कोई व्यापक अवश्य है, क्योंकि जो व्याप्य होते हैं, उनका कोई व्यापक अवश्य होता है। जैसे घटादि व्याप्त कार्यों का मृत्तिका ही व्यापक है। उसी प्रकार महत्तत्त्व, अहंकार आदि व्याप्यों का भी कोई अव्यक्त कारण अवश्य है, जिसमें प्रलय दशा में वे लीन होकर रहते हैं और वह अव्यक्त प्रधान ही है और वही परमाऽव्यक्त भी कहलाता है।

5. समन्वयात् –परस्पर में भिन्न–भिन्न पदार्थों की भी किसी धर्म से जो समानरूपता है, वही 'समन्वय' है, उससे भी अव्यक्त की सिद्धि होती है। जैसे– बुद्धि, अहंकार, मन आदि की अध्यवसाय, अभिमान, संकल्प आदि वृत्तियाँ भिन्न–भिन्न होने से वे परस्पर में भिन्न हैं; परन्तु इस प्रकार वे भिन्न–भिन्न होने पर भी सुख–दुःख–मोहवत्त्वरूप एक धर्म तो उन सबमें समान रूप से है, अतः सुख–दुःख–मोहवत्त्व धर्म से वे सब समान ही हैं और जो भिन्न–भिन्न पदार्थ जिस अनुगत धर्म से समान होते हैं, वे उस अनुगत धर्म से समन्वित अव्यक्त कारण से ही आविर्भूत होते हैं– यह नियम है। जैसे– घट और मुकुट आदि परस्पर में भिन्न–भिन्न रूप के होने पर भी मृत्तिका या सोने के पिण्ड से अनुगतहै। मृत्पिण्डत्व या स्वर्णपिण्डत्व उनमें अवश्य है। अतः उनका मृत्पिण्डत्व, सुवर्णपिण्डत्व आदि धर्म वाला मृत्पिण्ड या सुवर्णपिण्ड ही अव्यक्त कारण है।

वह 'अव्यक्त' त्रिगुणात्मक है। उसमें जो तीनों गुण हैं, वे सदा ही परिणाम को प्राप्त होते रहते हैं; क्योंकि सदा परिणत होते रहना– यह गुणों का चंचल स्वभाव है। परन्तु गुणों का यह परिणाम दो प्रकार का है– 1. सदृश परिणाम एवं 2. विषमपरिणाम।

1. सदृश परिणाम –प्रलय काल में जबकि सृष्टि नहीं होती है, तब इन तीनों गुणों का केवल सदृश परिणाम ही होता रहता है; क्योंकि ये गुण एक क्षण भी बिना परिणाम के नहीं रहते हैं; प्रतिक्षण परिणत ही होते रहते हैं– यह उनका स्वभाव है। अतः प्रलय काल में विषम परिणाम तो इनका नहीं हो सकता है, क्योंकि पदार्थों की सृष्टि के लिए ही गुणों का विषम परिणाम होता है। परन्तु सदृश परिणाम तो प्रलय में होता ही है। यह सदृश परिणाम– सत्त्व गुण का सत्त्वरूपतया परिणाम, रजोगुण का रजोरूप

से ही परिणाम, तमोगुण का तमःस्वरूप से परिणाम ही है। जो गुण जिस स्वरूप का है, वह गुण उसी रूप से ही परिणत होता रहता है। उसी गुण की लहर सी उसमें उठती रहती है– यही सदृश परिणाम है।

2. विषम परिणाम –सृष्टि–काल में अव्यक्त के ये सत्त्व आदि तीनों गुण परस्पर में प्रधान और अप्रधान भाव से मिलकर, परस्पर में एक–दूसरे को दबाकर, कम–ज्यादा, प्रबल–निर्बल, स्त्री–पुरुष आदि रूप से परिणत होते हैं और उसी रूप से इनसे नानाविध पदार्थों की सृष्टि होती है। उस दृष्टि में किसी में सत्त्व प्रधान है और रज, तम गौण है। किसी में रज प्रधान है तो अवशिष्ट गौण हैं, इस प्रकार ऊपर–नीचे, प्रबल–निर्बल भाव से सब गुण आपस में मिलकर सब कार्यों का आविर्भाव करते हैं। एक गुण प्रधान होता है तो दूसरा उसका सहायक हो जाता है, तीसरा उसका मार्गदर्शक हो जाता है– इस प्रकार गुणों के वैषम्य से ही यह सृष्टि प्रवृत्त होती है।।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।। 17।।

अन्वयः–संघातपरार्थत्वात्ः, त्रिगुणादिविपर्ययात्, अधिष्ठानात्, भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थम्, प्रवृत्तेः, च, पुरुषः, अस्ति।।

शब्दार्थः– संघातपरार्थत्वात् –संघात के दूसरों के लिए होने से, **त्रिगुणादिविपर्ययात्** –त्रिगुणभाव का अभाव होने से, **अधिष्ठानात्** –अधिष्ठाता अर्थात् संचालक होने से, **भोक्तृभावात्** –भोक्ता की अपेक्षा होने से, **कैवल्यार्थम्** –मोक्ष के लिए, **प्रवृत्तेः** –प्रवृत्ति होने से, **पुरुषः** –पुरुष, **अस्ति** –है।।

अर्थः–सभी संघातों के दूसरों के लिए होने से, त्रिगुणत्व आदि का अभाव होने से, सभी त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिए चेतन अधिष्ठाता तथा भोक्ता की अपेक्षा होने से एवं प्राणिमात्र की मोक्ष के लिए प्रवृत्ति होने से पुरुष की अलग सत्ता सिद्ध होती है।।

व्याख्या –प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाँ या पाँच महाभूत– पृथिवी आदि– इनमें से किसी एक जड़ तत्त्व को ही जो लोग आत्मा मानकर उसकी उपासना करके मन में सन्तुष्ट होते हैं और चेतन पुरुष तत्त्व को जो नहीं जानते हैं, उनके प्रति पुरुष की सिद्धि के लिए ही यह 17वीं कारिका अवतीर्ण होती है। प्रकृति आदि पृथिवी–पर्यन्त पूर्वोक्त सभी चौबीस जड़ तत्त्वों से पृथक् चेतनस्वरूप पुरुष है; क्योंकि प्रकृति से लेकर पृथ्वी–पर्यन्त जो चौबीस तत्त्व हैं, ये सभी जड़ हैं एवं सत्त्वादि त्रिगुणात्मक एवं सुख–दुःख–मोहस्वरूप होने के कारण तथा मिलकर ही कार्य करने के कारण संघात कहलाते हैं।

त्रिगुणादिविपर्ययात् –शयनासनादि की तरह प्रकृति आदि संघात भी परार्थ ही है– यह सिद्ध होता है; क्योंकि यदि वह 'पर' भी यदि त्रिगुणात्मक संघात ही होगा और असंहत – अत्रिगुणात्मक नहीं होगा तो फिर वह भी त्रिगुणात्मक संघात होते के कारण परार्थ ही होगा, अतः उसके लिए भी फिर कोई पर पदार्थ की कल्पना करनी पड़ेगी और वह 'पर' भी यदि संघात ही हुआ, तो फिर उसके लिए भी किसी 'पर' की कल्पना करनी पड़ेगी; क्योंकि संघात जो भी होगा, वह तो परार्थ ही होगा– यह शयनादि के दृष्टान्त से सिद्ध हो चुका है।

अधिष्ठानात् –जो भी त्रिगुणात्मक जड़ पदार्थ हैं, वे सभी किसी जड – चेतन से जब अधिष्ठित होंगे तभी वे कार्यक्षम हो सकते हैं; जैसे रथ आदि सारथि से अधिष्ठित होने से ही कार्य करते हैं और बुद्धि, चक्षुरिन्द्रिय आदि पदार्थ भी त्रिगुणात्मक और जड़ हैं; अतः इनका भी कोई अधिष्ठाता इनसे भिन्न अवश्य है और वह पुरुष ही है; क्योंकि पुरुष ही एक अत्रिगुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन, अपरिणामी है, वही त्रिगुणात्मक प्रकृति आदि का जड़ों का अधिष्ठाता हो सकता है; क्योंकि वह चेतन है, अत्रिगुण है, प्रकृति आदि से पर है। अतः अधिष्ठीयमानों का अधिष्ठाता होने से पुरुष तत्त्व की सिद्धि होती है।

भोक्तृभावात् –अर्थात् सुख और दुःख का अनुभव जिसको होता है, वही आत्मा है; क्योंकि बुद्धि आदि पदार्थ तो त्रिगुणात्मक ही हैं; उनका अनुभव किसी अन्य को ही होना चाहिए। यतः बुद्धि आदि तो सुखादिरूप होने से भोग्य हैं; अतः वे ही भोक्त हो सकते हैं। अतः सुखाद्यात्मक बुद्धि आदि का भोक्ता उनसे पर जो है, वही पुरुष है और बुद्धि आदि पदार्थ दृश्य और भोग्य हैं; क्योंकि वे त्रिगुणात्मक हैं और त्रिगुणात्मक दृश्य ही होता है; जैसे पृथिवी आदि। अतः उनका उपभोक्ता, द्रष्टा भी कोई उनसे भिन्न ही होना चाहिए; क्योंकि द्रष्टा के बिना कोई दृश्य कैसे हो सकता है? पिता के बिना पुत्र कैसे हो सकता है?

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च–वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृति, ज्ञान–शास्त्र– सांख्य, योग, वेदान्त आदि में कैवल्य का प्रतिपादन वेदपुरुष तथा ऋषि–महर्षियों ने किया है और बड़े–बड़े त्रिकालज्ञ ऋषि, मुनि तथा विद्वान् लोग भी कैवल्य के लिए यत्न करते हुए देखे–सुने जाते हैं।।

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।। 18 ।।

अन्वयः–जन्ममरणकरणानाम्, प्रतिनियमात्; अयुगपत्प्रवृत्तेः; च, त्रैगुण्यविपर्ययात्; च; पुरुषबहुत्वम्; सिद्धम्; एव।।

शब्दार्थः– **जन्ममरणकरणानाम्** –नये नये शरीर के सम्बन्धरूप जन्म तथा उनके त्यागरूप मरण और चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों की, **प्रतिनियमात्** –प्रत्येक आत्मा के साथ भिन्न व्यवस्था होने के कारण, **अयुगपत्प्रवृत्तेः** –एक साथ न लगने के कारण, **च** –और, **त्रैगुण्यविपर्ययात्** –सत्त्व आदि तीनों गुणों के भेद के कारण, **च** –भी, **पुरुषबहुत्वम्** –पुरुष की अनेकता, **सिद्धम् एव** –सिद्ध ही है।।

अर्थः–नये–नये शरीर के सम्बन्धरूप जन्म तथा उनके त्यागरूप मरण और चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को प्रत्येक आत्मा के साथ भिन्न व्यवस्था होने के कारण; धर्म आदि में सभी के एक साथ न लगने के कारण और प्रत्येक व्यक्ति में सत्त्व आदि तीनों गुणों के भेद के कारण भी पुरुष की अनेकता सिद्ध ही है।।

व्याख्या –इस प्रकार पुरुष की सिद्धि हो गई। अब वह पुरुष सब शरीरों में एक ही है या प्रतिशरीर में पृथक्–पृथक् होने से वह अनेक है– इस शंका को दूर करने के लिए प्रत्येक शरीर में पुरुष पृथक्–पृथक् होने से पुरुष नाना है– यह इस कारिका से सिद्ध करते हैं।

1. यदि सब शरीर में एक ही पुरुष होता तो एक पुरुष के जन्म लेने से सबका जन्म होता, एक के मरने से सभी का मरण भी होता, एक के अन्धे या काने या पागल होने से सभी अन्धे या काने या पागल हो जाते; परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। अतः प्रत्येक शरीर में पुरुष अलग–अलग है। इसलिए एक के मरने से सबका मरना या एक के जन्म से सबका जन्म आदि नहीं होता है; क्योंकि पुरुष प्रत्येक शरीर में अलग–अलग है और पुरुष का जन्म भी कोई उसका परिणाम नहीं है, क्योंकि पुरुष परिणामी नहीं है, किन्तु नाना योनियों में अपूर्व देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, चेतना आदि से उसका सम्बन्ध होना ही जन्म है और देह आदि से सम्बन्ध छूटना ही मरण है; अन्यथा आत्मा तो कूटस्थ नित्य है। उसका मरण हो ही नहीं सकता है।

2. और यदि सब शरीरों में एक ही पुरुष होता तो एक पुरुष जब किसी कार्य के लिए प्रयत्न करता है, उस समय सभी शरीरों में भी चलना–फिरना आदि क्रिया होनी चाहिए। एक शरीर में स्थित पुरुष जब यत्न करके उसे चलाता है तो सर्वत्र वही पुरुष होने से सभी शरीरों में चेष्टा होनी चाहिए; परन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः प्रत्येक शरीर में एक–एक पुरुष अलग–अलग है– यह सिद्ध हो जाता है। तब एक पुरुष के यत्नशील होने से सब शरीरों की चेष्टा नहीं होती है– यह व्यवस्था ठीक बन जाती है।

3. और सत्त्व आदि तीनों गुणों के भेद से– जैसे कोई सात्त्विक, कोई राजस, कोई तामस, कोई देवता, कोई मनुष्य, कोई राक्षस, कोई सर्प, कोई वृक्ष, कीट, पतंग आदि होते हैं– इससे भी पुरुष नाना है; क्योंकि यह भेद तभी बन सकता है, जब प्रतिशरीर में पुरुष अलग–अलग हो। यदि यह भी पुरुष सभी शरीरों में होता तो यह भेद– कोई सुखी, कोई सज्जन, कोई दुःखी या दुष्ट, कोई नीच और क्षुद्र या मोहावृत, कोई ज्ञानी इत्यादि कैसे हो सकता है? अतः इन हेतुओं से सिद्ध हो गया कि पुरुष नाना हैं। उनके अदृष्ट पुण्य, पाप आदि भी अलग–अलग हैं। अतः कोई पुण्यात्मा, कोई सात्त्विक, कोई पापी, कोई दुःखी आदि भेद ठीक–ठीक व्यवस्थित रूप से हो जाते हैं।

स्वयं आंकलन प्रष्न –4

1. सांख्यकारिका के अनुसार सत्त्व, रजस, तमस क्या है?
2. सुख–दुःख का अनुभव किससे होता है?

3.7 सारांष

वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृति, ज्ञान–शास्त्र– सांख्य, योग, वेदान्त आदि में कैवल्य का प्रतिपादन वेदपुरुष तथा ऋषि–महर्षियों ने किया है और बड़े–बड़े त्रिकालज्ञ ऋषि, मुनि तथा विद्वान् लोग भी कैवल्य के लिए यत्न करते हुए देखे–सुने जाते हैं। अतः उस कैवल्य से पुरुष की सिद्धि होती है; क्योंकि कैवल्य सब प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को ही कहते हैं और वह कैवल्य सुख–दुःखाद्यात्मक बुद्धि आदि का तो हो नहीं सकता है; क्योंकि बुद्धि आदि का तो त्रिगुणात्मक होने से सुख–दुःखद्यात्मक स्वभाव ही है और किसी का भी स्वभाव तो सर्वथा छूटता नहीं है; इसलिए कोई ऐसा

पदार्थ अवश्य है, जो सुख–दुःख–मोहात्मक नहीं है और जिसका सुख और दुःख स्वभाव नहीं है। तभी उसके अस्वाभाविक दुःख की निवृत्ति हो सकती है; क्योंकि दुःख उसका स्वभाव नहीं है। ऐसा पदार्थ पुरुष ही है। इस प्रकार कैवल्य का शास्त्रों में प्रतिपादन और महर्षियों का उसके लिए प्रयत्न आदि देखकर कैवल्य के अधिकारी पुरुष की सिद्धि होती है; क्योंकि पुरुष का ही कैवल्य हो सकता है, बुद्धि आदि दुःखमय पदार्थों का नहीं। अतः बुद्धि आदि से भिन्न आत्मा सिद्ध होता है।

3.8 कठिन शब्दावली

प्रदीपवत् –प्रदीप के समान	**अव्यक्त** –प्रकृति
सलिलवत् –जल की भाँति	**कैवल्यार्थम्** –मोक्ष के लिए
पुरुषबहुत्वम् –पुरुष की अनेकता	**शक्तितः** –शक्ति से
भोक्तृभावात् –भोक्ता की अपेक्षा होने से	**च** –और

3.9 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रश्न –1

1. तीन
2. प्रकाशक

स्वयं आंकलन प्रश्न –2

1. व्यक्त
2. अव्यक्त

स्वयं आंकलन प्रश्न – 3

1. प्रकृति
2. पुरुष

स्वयं आंकलन प्रश्न –4

1. तीन गुण
2. आत्मा

3.10 अनुषंसित ग्रन्थ

1. सांख्यकारिका, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, बालकृष्ण त्रिपाठी, बी. 2/2, भदैनी, वाराणसी।
2. सांख्यकारिका, संस्कृत व्याख्याकार– म. म. श्री गुरुप्रसादशास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– आचार्य श्री सीतारामशास्त्री, प्रो. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
3. सांख्य तत्त्व प्रदीप, डॉ. अमल धारी सिंह, भारती विद्या प्रकाशन 1, य.वी. बैंगलो रोड, दिल्ली–07।

3.11 अभ्यास प्रश्न

1. त्रिगुणों के स्वभाव का वर्णन करें।
2. सांख्य के अनुसार परिणामवाद के सिद्धान्त का वर्णन करें।
3. पुरुष सिद्धि में प्रयुक्त संघातों का वर्णन करें।
4. व्यक्त–अव्यक्त और पुरुष के परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य का स्पष्टीकरण करें।
5. पुरुष की सत्ता सिद्ध करें।

चतुर्थ इकाई

कैवल्य, पुरुष प्रकृति संयोग तथा प्रमेय

संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3कैवल्य

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

4.4पुरुष प्रकृति संयोग

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

4.5प्रमेय

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 3**

4.6 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (19 से 24 कारिका तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 4**

4.7 सारांष

4.8 कठिन शब्दावली

4.9 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

4.10 अनुषंसित ग्रन्थ

4.11 अभ्यास प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

आत्यन्तिक और ऐकान्तिक दुःखत्रय के अभाव को ही कैवल्य कहते हैं और पुरुष स्वभाव से ही अत्रिगुणात्मक है, अतः उस पुरुष को दुःख होना ही अस्वाभाविक है, किन्तु बुद्धि के साथ तादात्म्याऽध्यास होने से ही पुरुष को दुःख होता है। वस्तुतः तो पुरुष दुःख से रहित ही है। अतः पुरुष का कैवल्य आत्यन्तिक दुःखाऽभाव स्वभाव से ही सिद्ध है और यह कैवल्य बुद्धि आदि को नहीं हो सकता है, क्योंकि वे तो सब त्रिगुणात्मक हैं; अतः सुख–दुःख–मोहस्वरूप हैं। पुरुष के मोक्ष के लिए तथा प्रकृति के भोग के लिए, लंगड़े और अन्धे के समान, दोनों का–प्रकृति और पुरुष का– संयोग होता है। सृष्टि भी उसी संयोग से ही होती है।

4.2 उद्देश्य

- कैवल्य ज्ञान
- अध्यवसाय ज्ञान

- पुरुष एवं प्रकृति ज्ञान
- षोडष तत्त्व ज्ञान

4.3 कैवल्य

सांख्य दर्शन के अनुसार कैवल्य मुक्ति की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति की चेतना (पुरुष) को यह अहसास होता है कि वह प्रकृति से अलग है। आत्यन्तिक और ऐकान्तिक दुःखत्रय के अभाव को ही कैवल्य कहते हैं और पुरुष स्वभाव से ही अत्रिगुणात्मक है, अतः उस पुरुष को दुःख होना ही अस्वाभाविक है, किन्तु बुद्धि के साथ तादात्म्याऽध्यास होने से ही पुरुष को दुःख होता है। वस्तुतः तो पुरुष दुःख से रहित ही है। अतः पुरुष का कैवल्य आत्यन्तिक दुःखाऽभाव स्वभाव से ही सिद्ध है और यह कैवल्य बुद्धि आदि को नहीं हो सकता है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. पुरुष प्रकृति का संयोग किस प्रकार का है?
2. मनुष्य को कैवल्य प्राप्ति के लिए किसका संयोग सार्थक सिद्ध है?

4.4 पुरुष प्रकृति संयोग

पुरुष का संयोग दर्शन के लिए तथा प्रधान का कैवल्य के लिए है। दोनों का संयोग लंगड़े तथा अंधे के पारस्परिक संयोग की तरह है और वह संयोग ही सृष्टि रूप है। प्रकृति और पुरुष का संयोग इसलिए होता है कि प्रधान भोग्य होने से अपने उपभोग के लिए पुरुष की अपेक्षा करता है, जैसे कि सुन्दरी कामिनी अपने उपभोग के लिए अपने पति की कामना करती है। जायेव पत्ये उशती सुवासाः– यह कहा भी है। इसलिए प्रकृति स्वार्थवश पुरुष से संयोग करती है और पुरुष भी प्रकृति का उपभोग करने को प्रकृति के साथ संयोग करता है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. सांख्यकारिका के अनुसार पंगु अन्धवत संयोग किसका है?
2. सांख्यकारिका के अनुसार पुरुष क्या है?

4.5 प्रमेय

प्रकृति पुरुष तथा महदादि तेइस कार्य– ये सांख्यीय प्रमेय हैं। प्रकृति से महत् की उत्पत्ति नहीं होती और न महत् से अहंकार की ही उत्पत्ति होती है। सांख्यशास्त्र में कारण कार्य से सूक्ष्म है तथा कार्य कारण गुणों से युक्त है। सत्कार्यवाद के अनुसार महदादि कार्य सत् हैं। इनकी न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश।

स्वयं आंकलन प्रष्न –3

1. सांख्यकारिका में प्रमेय कितने हैं?
2. सांख्यशास्त्र में कारण कार्य से .... है।

4.6 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (19 से 24 कारिका तक)

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।

कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावष्च।। 19।।

अन्वयः—च, तस्मात्, विपर्य्यासात्, अस्य, पुरुषस्य, साक्षित्वम्, कैवल्यम्, माध्यस्थम्, द्रष्टृत्वम्, अकर्तृभावः, च, सिद्धम्।।

शब्दार्थः— च —और, तस्मात् उस से, **विपर्यासात्** —भेद या विषमता के कारण, **अस्य** —इस, **पुरुषस्य** —पुरुष का, **साक्षित्वम्** —साक्षी होना, **कैवल्यम्** —अत्रिगुण अर्थात् दुःखत्रया भावरूप मोक्ष का होना, **माध्यस्थ्यम्** —मध्यस्थ या उदासीन होना, **द्रष्टत्वम्** —द्रष्टा होना, **अकर्तृभावः** —कर्त्ता न होना, **च** —भी, **सिद्धम्** —सिद्ध होता है।।

अर्थः—और उस से भेद या विषमता के कारण इस पुरुष का साक्षी होना, अत्रिगुण अर्थात् दुःखत्रयाभावरूप मोक्ष का होना, मध्यस्थ या उदासीन होना तथा कर्त्ता न होना भी सिद्ध होता है।।

व्याख्या —अव्यक्त और महत्, अहंकार आदि व्यक्त— ये सभी त्रिगुणात्मक, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और परिणामी हैं और पुरुष इनसे भिन्न और विपरीत है; अतः पुरुष अत्रिगुणात्मक, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन और अपरिणामी है— यह सिद्ध हो गया इसमें भी चेतन और अविषय होने से पुरुष साक्षी है, द्रष्टा है— यह सिद्ध होता है; क्योंकि जैसे परस्पर विवाद करने वाले दो पुरुष अपने झगड़े के प्रसंग को तीसरे मध्यस्थ और उदासीन के सामने निर्णय के लिए रखते हैं, वैसे ही यह प्रकृति भी बुद्धिरूप से परिणत होकर अपने कार्य को पुरुष के सामने ही उपस्थित करती है अर्थात् विषयों का आलोचन, संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय आदि व्यापार करके पुरुष के सामने ही उन विषयों को उपस्थित करती है। अपने कार्यों की समीक्षा और युक्तत्व, अयुक्तत्व का निर्णय कराने के लिए बुद्धि पुरुष के सामने ही अपना चरित उपस्थित करती है। अतः पुरुष ही साक्षी और द्रष्टा है— यह सिद्ध हो जाता है। क्योंकि पुरुष ही चेतन और अविषय है, अतः वही साक्षी और द्रष्टा हो सकता है। अचेतन और विषय तो कभी साक्षी और द्रष्टा हो ही नहीं सकता है। साथ ही पुरुष अत्रिगुणात्मक है और सुख—दुःख—मोहस्वभाव वाला नहीं है; अतः पुरुष का कैवल्य भी सिद्ध हो जाता है; क्योंकि आत्यन्तिक और ऐकान्तिक दुःखत्रय के अभाव को ही कैवल्य कहते हैं और पुरुष स्वभाव से ही अत्रिगुणात्मक है, अतः उस पुरुष को दुःख होना ही अस्वाभाविक है, किन्तु बुद्धि के साथ तादात्म्याऽध्यास होने से ही पुरुष को दुःख होता है। वस्तुतः तो पुरुष दुःख से रहित ही है। अतः पुरुष का कैवल्य आत्यन्तिक दुःखाऽभाव स्वभाव से ही सिद्ध है और यह कैवल्य बुद्धि आदि को नहीं हो सकता है, क्योंकि वे तो सब त्रिगुणात्मक हैं; अतः सुख—दुःख—मोहस्वरूप हैं, उनको सर्वथा दुःखाऽभाव कैसे हो सकता है? किसी का स्वभाव तो कभी छूटता नहीं है। प्रकृति आदि सब जड़ पदार्थ तो त्रिगुणात्मक होने से दुःखस्वभाव हैं; अतः उनका दुःख सर्वथा कैसे छूट सकता है? अतः पुरुष का कैवल्य सिद्ध हो जाता है। क्योंकि वह त्रिगुणों से रहित है। अतः वह सुखी—दुःखी कुछ भी नहीं है, उसे तो दुःख का भ्रममात्र बुद्धि के सम्बन्ध से हो रहा था। वह भ्रम ज्ञान से हट जाने से पुरुष कैवल्य को प्राप्त कर लेता है और त्रिगुण से रहित होने से ही पुरुष

मध्यस्थ भी है– यह भी सिद्ध हो जाता है। क्योंकि जो सुखी होगा, वह सुख से तृप्त होकर सुख को चाहेगा और जो दुःखी होगा, वह दुःख से छूटना भी चाहेगा। अतः वह मध्यस्थ या उदासीन कैसे हो सकता है? मध्यस्थ और उदासीन तो वही हो सकता है, जो सुख को चाहता न हो, दुःख से द्वेष नहीं करता हो अर्थात् सुख और दुःख से सर्वथा रहित हो और ऐसा पुरुष ही है।।

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्।

गुणकर्त्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः।। 20।।

अन्वयः–तस्मात्, तत्संयोगात्, अचेतनम्, लिंगम्, चेतनावत्, इव, तथा च, गुणकर्त्तृत्वे, उदासीनः, कर्त्ता, इव, भवति।।

शब्दार्थः– तस्मात् –अतः, **तत्संयोगात् दोनों** –पुरुष और प्रकृति के संयोग से, **अचेतनम्** –अचेतन, **लिंगम्** –बुद्धि आदि, **चेतनावत्** –चेतनायुक्त, **इव** –सा, **तथा** –और, **गुणकर्त्तृत्वे** –प्रकृति के गुणों के वस्तुतः कर्त्ता होने पर, **उदासीनः** –उदासीन पुरुष, **कर्त्ता** –कर्त्ता, **इव** –सा, **भवति** –होता है।।

अर्थः–अतः दोनों– पुरुष और प्रकृति से संयोग से अचेतन बुद्धि आदि चेतनायुक्त–सा तथा गुणों के वस्तुतः कर्त्ता होने पर उदासीन पुरुष कर्त्ता–सा प्रतीत होता है।।

व्याख्या –त्रिगुणात्मक और प्रसवधर्मा – परिणामी और जड़ बुद्धितत्त्व ही कर्त्ता और भोक्ता है एवं चेतन पुरुष त्रिगुण–रहित होने से तथा अप्रसवधर्मा होने से कर्त्ता और भोक्ता नहीं है, यह बात पीछे कही गई युक्तियों से सिद्ध हो चुकी है। अतः 'मैं चेतन कार्य करता हूं' यह पुरुष की कर्त्तृत्वप्रतीति भ्रान्ति ही है। चेतन पुरुष तो कर्त्ता–भोक्ता नहीं है, किन्तु जड़ बुद्धि ही कर्त्ता और भोक्ता है और पुरुष के साथ अत्यन्त सन्निधान होने से ही जड़ बुद्धि भी चेतन की तरह मालूम होती है। वास्तव में तो प्रकृति का गुण होने से वह बुद्धि जड़ ही है और बुद्धि के साथ अभेद ग्रह होने से ही पुरुष अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानता है एवं त्रिगुणात्मक बुद्धि के सुख–दुःखों को अपना सुख–दुःख समझकर 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' यह मानकर पुरुष सुख–दुःख आदि भोगों को भोगता है। वास्तव में चेतन पुरुष तो पद्मपत्र की तरह निर्लेप है। न वह कर्त्ता है, न भोक्ता है। किन्तु प्रकृति के गुण बुद्धि आदि ही जड़ होने पर भी चेतन की छाया मात्र से ही चेतनवत् कार्य करते हैं और वही कर्त्ता है, वही भोक्ता है। पुरुष तो बुद्धि आदि से पृथक् है; अतः न वह सुखी है, न दुःखी है। सुख–दुःख तो बुद्धि के परिणाम विशेष ही हैं। उनसे तो पुरुष से कोई सम्बन्ध नहीं है। पुरुष तो उदासीन है, द्रष्टा है तथा वह तो साक्षी मात्र ही है, वह कर्त्ता और भोक्ता नहीं है।।

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।

पंगुवन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।। 21।।

अन्वयः–पुरुषस्य, कैवल्यार्थम्, तथा, प्रधानस्य, दर्शनार्थम्, पंगुवन्धवत्, उभयोः, संयोग, सर्गः, अपि, तत्कृत।।

शब्दार्थः– पुरुषस्य –पुरुष के, **कैवल्यार्थम्** –मोक्ष के लिए, **तथा** –एवं, **प्रधानस्य** –प्रकृति के, **दर्शनार्थम्** –भोग के लिए, **पंगुवन्धवत्** –लंगड़े और अन्धे के समान, **उभयोः** –दोनों को–पुरुष और प्रकृति का, **संयोगः** –संयोग, **सर्गः** –सृष्टि, **अपि** –भी, **तत्कृतः** –उसी संयोग से ही।।

अर्थः–पुरुष के मोक्ष के लिए तथा प्रकृति के भोग के लिए, लंगड़े और अन्धे के समान, दोनों का–प्रकृति और पुरुष का– संयोग होता है। सृष्टि भी उसी संयोग से ही होती है।।

व्याख्या –प्रकृति और पुरुष का संयोग इसलिए होता है कि प्रधान भोग्य होने से अपने उपभोग के लिए पुरुष की अपेक्षा करता है, जैसे कि सुन्दरी कामिनी अपने उपभोग के लिए अपने पति की कामना करती है। जायेव पत्ये उशती सुवासाः– यह कहा भी है। इसलिए प्रकृति स्वार्थवश पुरुष से संयोग करती है और पुरुष भी प्रकृति का उपभोग करने को प्रकृति के साथ संयोग करता है और जिस प्रकार प्रकृति अपवर्ग के लिए पुरुष की अपेक्षा करता है उसी प्रकार पुरुष भी अपने अपवर्ग के लिए प्रकृति की अपेक्षा करता है। और अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए भी वह प्रकृति के साथ संयोग करता है। क्योंकि पुरुष और प्रकृति उसी प्रकार मिले हुए हैं, जैसे गर्म लोहपिण्ड से अग्नि। अतः पुरुष बुद्धि के साथ अपने निकट सम्बन्ध होने से बुद्धि के साथ तादात्म्याध्यास करके बुद्धि के सुख और दुःख आदि को अपना सुख–दुःख समझने लगता है और अपने को दुःखी आदि मानने लगता है और उस दुःख से छूटने के लिए वह विवेकज्ञान–हेतुक कैवल्य की इच्छा करता है और विवेकज्ञान प्रकृति की परिणामभूत बुद्धि का ही वृत्तिविशेष है। अतः प्रकृति की परिणामभूत बुद्धि की सहायता के विना कैवल्य उसे नहीं मिल सकता है; क्योंकि कैवल्य का हेतु सत्त्वपुरुषान्यताख्याति ही है। वह प्रकृति की सम्बन्धी बुद्धि का ही एक परिणाम एवं वृत्तिविशेष ही है। अतः पुरुष को अपने कैवल्य के लिए प्रकृति की अपेक्षा है। इस प्रकार प्रकृति और पुरुष का अपने–अपने स्वार्थ के लिए ही परस्पर सम्बन्ध उसी प्रकार होता है, जैसे– अन्धे और पंगुल का सम्बन्ध। क्योंकि अन्धा देख नहीं सकता है, पंगुल चल नहीं सकता है; अतः दोनों अपना–अपना काम करने में असमर्थ हैं, अतः अपने–अपने कार्य की सिद्धि के लिए वे दोनों मिल जाते हैं। अन्धे पर पंगुल चढ़ जाता है और जब रास्ता बताता है तब अन्धा चलने लगता है, इस प्रकार वे मिलकर अपना–अपना कार्य कर लेते हैं। उसी प्रकार प्रकृति जड़ है, वह अपने उपभोग के लिए चेतन की अपेक्षा करती है और चेतन भी अपने अपवर्ग के लिए प्रकृति की अपेक्षा करता है। अतः वे दोनों मिल जाते हैं। इस प्रकार उनका संयोग हो जाता है। तब उनके संयोग से महत्तत्त्व से लेकर पृथिवी–पर्यन्त तेईस तत्त्वों की सृष्टि होती है। क्योंकि विना सूक्ष्म शरीर के तथा विना स्थूल शरीर के तो भोग और अपवर्ग हो ही नहीं सकता है, अतः भोगाऽपवर्ग के लिए ही यह बौद्ध सर्ग होता है। यद्यपि पुरुष प्रकृति की अपेक्षा से भोग के लिए उस प्रकृति से संयोग करता ही है, परन्तु अपने कैवल्य के लिए भी वह पुनः संयोग करता है, क्योंकि यह संयोग की परम्परा तो अनादि है, अतः एक के बाद एक संयोग होता ही रहता है।।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंच भूतानि।। 22।।

अन्वयः—प्रकृतेः, महान्, ततः, अहंकारः, तस्मात्, षोडशकः, गणः, तस्मात्ः षोडशकात्, अपि, पंचभ्यः, पंच, भूतानि।।

शब्दार्थः— प्रकृतितेः —प्रकृति से, **महान्** —महत् या बुद्धि तत्त्व, **ततः** —उससे, **अहंकारः** —अहंकार, **तस्मात्** —उससे, **षोडशकः** —सोलह तत्त्वों वाला, **गणः** —समूह, **तस्मात्** —उस, **षोडशकात्** —सोलह तत्त्वों वाले समूह से, **अपि** —भी, **पंचभ्यः** —पाँच से, **पंच** —पाँच, **भूतानि** —महाभूत।।

अर्थः—प्रकृति से महत् या बुद्धि तत्त्व, महत् से अहंकार और अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ तथा ग्यारह इन्द्रियाँ— इन सोलह तत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है। इन सोलहों के समूह के अन्तर्गत आयी हुई पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं।।

व्याख्या—इस प्रकार परस्पर की अपेक्षा से प्रकृति और पुरुष के संयोग होने से प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से मन और श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ — ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पंचतन्मात्राएं— इन सोलह तत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है। उनमें से मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से और पाँच तन्मात्राएं तामस अहंकार से उत्पन्न होती हैं और पंचतन्मात्राओं से पाँच स्थूल भूत आकाश आदि उत्पन्न होते हैं। जैसे— 1. पुरुष, 2. प्रकृति, 3. महत्तत्त्व, 4. अहंकार।यह प्रकृति का सर्ग है। पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए ये 23 तत्त्व पुरुष के संयोग से प्रकृति से उत्पन्न होते हैं।।

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्।। 23।।

अन्वयः—अध्यवसायः, बुद्धि, धर्मः, ज्ञानम्, विरागः, ऐश्वर्यम्, एतत्, सात्त्विकम्, रूपम्, तामसम्, अस्मात्, विपर्यस्तम्।।

शब्दार्थः— अध्यवसायः —निश्चय, **बुद्धिः** —बुद्धि है, **धर्म** —धर्म, **ज्ञानम्** —ज्ञान, **विरागः** —वैराग्य, **ऐश्वर्यम्** —ऐश्वर्य, **एतत्** —यह, **सात्त्विकम्** —सात्त्विक, **रूपम्** — रूप, **तामसम्** —तामस, **अस्मात्** —इससे, **विपर्यस्तम्** —विपरीत है।।

अर्थः—निश्चय अर्थात् निश्चय करने वाला तत्त्व बुद्धि है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य इसके सात्त्विक रूप हैं। इनके विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य इसके तामसरूप हैं।।

व्याख्या —अव्यक्त का सामान्य रूप से और विशेष रूप से भी पीछे 'हेतुमदनित्यं' इस दशम कारिका से एवं 'सत्त्वं लघु' कारिका से लक्षण किया जा चुका है और व्यक्त का भी सामान्य रूप से लक्षण 'हेतुमत्' इस कारिका से किया जा चुका है। अतः अब व्यक्त विशेष बुद्धि का यहां लक्षण करते हैं। अध्यवसाय अर्थात् निश्चय करना ही बुद्धि का असाधारण व्यापार है, अतः निश्चयवत्त्व ही बुद्धि का लक्षण है। किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने वाला पुरुष पहले चक्षु आदि इन्द्रियों से उस पदार्थ को देखता है। फिर मन से उसके विषय में संकल्प करता है, फिर अहंकार से 'मैं इसे कर सकता हूँ' यह अभिमान करता है, तब उस कार्य को करने का अपनी बुद्धि से निश्चय करता है, तब उस कार्य को करता है—यह क्रम लोकप्रसिद्ध ही है। इसमें 'मेरा यह आवश्यक कर्त्तव्य है' यह जो निश्चय करता है— यही बुद्धि का

असाधारण व्यापार है। इस बुद्धि के 4 सात्त्विक और 4 तामस धर्म हैं और रजोगुण के धर्म पृथक् तो बुद्धि के कोई नहीं हैं; परन्तु प्रर्वत्तक रजोगुण की सहायता के बिना बुद्धि के सात्त्विक और तामस रूप हो नहीं सकते हैं। अतः रजोगुण की सहायता होने के कारण दोनों ही में रजोगुण का कुछ–कुछ सम्बन्ध है ही। उनमें से 1. धर्म, 2. ज्ञान, 3. वैराग्य, 4. ऐश्वर्य– ये चार धर्म सात्त्विक हैं और इनसे विपरीत चार धर्म– 1. अधर्म, 2. अज्ञान, 3. अवैराग्य, 4. अनैश्वर्य– ये बुद्धि के चार तामस धर्म हैं।

1. धर्म –यज्ञ, तप, दान, व्रत, योग आदि के अनुष्ठान से होने वाला पुण्य, जिससे स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति होती है।

2. अधर्म –निषिद्ध कर्म करने से; जैसे चोरी, मद्य पीना आदि से होता है।

3. ज्ञान –प्रकृति के गुण से पुरुष को पृथक् समझना है।

4. अज्ञान –बुद्धि आदि प्रकृति के गुणों से पुरुष को अभिन्न समझना तथा प्रकृति के बुद्धिगत सुख–दुःख आदि गुणों से अपने को सुखी एवं दुःखी समझना यह पुरुष में बुद्धि के सम्बन्ध से बुद्धि का धर्म अज्ञान है।

5. वैराग्य –स्त्री, पुत्र, धन आदि में अनुराग का अभाव एवं शत्रु आदि में द्वेष, ईर्ष्या आदि का अभाव वैराग्य है। यह वैराग्य चार प्रकार का है–

1. यतमानसंज्ञा –चित्त के राग, द्वेष, द्रोह, ईर्ष्या, असूया आदि कषायों के कारण से ही चक्षु आदि इन्द्रियाँ स्त्री–सुख आदि विषयों में प्रवृत्त होती हैं। अतः उन इन्द्रियों को विषयों से हटाने के लिए उन कषायों के परिपाक के लिए सांख्य–योग आदि शास्त्रों में उक्त मैत्रीभावना आदि उपायों के अनुष्ठान का प्रारम्भ करना, चित्त की शुद्धि के लिए यत्न करना 'यतमान संज्ञा' नामक वैराग्य है।

2. व्यतिरेकसंज्ञा –चित्तगत पके हुए कषायों को पकने वाले कषायों से अलग करना। अर्थात् ये कषाय तो चित्त के पक गए हैं; परन्तु अभी ये कषाय पकने बाकी रहे हैं। ऐसा परिपक्व और पक्ष्यमाण कषायों को अलग–अलग करना और पके हुए कषायों को छोड़कर बचे हुए कषायों के परिपाक में यत्न करना 'व्यतिरेक संज्ञा' वैराग्य है।

3. एकेन्द्रिय संज्ञा –पके हुए राग, द्वेष आदि कषायों का विषयों में इन्द्रियों की प्रवर्त्तना के बिना ही केवल वासनामात्र से ही चित्त में अवशिष्ट रहना 'एकेन्द्रिय संज्ञा' वैराग्य है।

4. वषीकारसंज्ञा –लौकिक सुख तथा वेदोक्त स्वर्गादि सुख आदि सर्वविध सुखभोगों के उपस्थित होने पर भी उनमें नितान्त अरुचि ही 'वशीकार संज्ञा' वैराग्य कहलाता है।

5. अवैराग्य –विषयों में अनुराग।

6. ऐश्वर्य –प्रभुत्व। अष्टविध सिद्धियों की प्राप्ति। जैसे–

1. अणिमा–सिद्धि –अत्यन्त सूक्ष्म बन जाना। जिससे पत्थर, भित्ति आदि कठोर वस्तुओं में भी प्रवेश कर सकना।

2. लघिमा–सिद्धि –अत्यन्त हलका हो जाना। जिससे सूर्य की किरणों को पकड़ कर सूर्यमण्डल में पहुंचने की शक्ति योगी को हो जाती है।

3. महिमा–सिद्धि –बहुत बड़ा हो जाना। बहुत भारी हो जाना।

4. प्राप्ति–सिद्धि –पृथ्वी में रहकर भी आकाश के चन्द्र, तारा आदि को अंगुलि से छू सकने की शक्ति। चाहे जितनी दूर की वस्तु को भी हाथ से पकड़ सकना।

5. प्राकाम्य–सिद्धि –जिस वस्तु की योगी इच्छा करे, उसकी अवश्य प्राप्ति होना। जैसा चाहे वैसा कर सकना। जैसे– पृथ्वी में भी जल की तरह गोता लगा सकना। जल पर भी पृथ्वी की तरह ही पैरों से चल सकना आदि।

6. वशित्व–सिद्धि –सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों को अपने वश में कर सकना।

7. ईशित्व–सिद्धि –सम्पूर्ण वस्तुओं के सृष्टि–स्थिति–संहार आदि की अबाध शक्ति। संसार के बनाने और बिगाड़ने की शक्ति।

8. यत्रकामावसायित्व–सिद्धि –योगी जिस वस्तु को जैसा बनाने और बिगाड़ने की इच्छा करे, उसी के अनुसार उन वस्तुओं का हो जाना। ये आठ सिद्धियाँ हैं। ये ही ऐश्वर्य कहलाती हैं। ये सब बुद्धि के ही धर्म हैं। अतः ये सब भी हेय ही हैं।

9. अनैश्वर्य –कुछ भी कर सकने की शक्ति का अभाव, दारिद्रय। ये आठों बुद्धि के ही धर्म हैं, अतः बन्धनप्रद होने से ये हेय ही हैं। इनकी उपेक्षा कर विवेक–ज्ञान के लिए ही योगी को यत्न करना चाहिए और उसे इन तुच्छ सिद्धियों में नहीं फंसना चाहिए।।

अभिमानोऽहंकारस्तस्मात् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।

एकादषकष्च गणस्तन्मात्रः पंचकष्चैव।। 24।।

अन्वयः–अभिमानः, अहंकार, तस्मात्, द्विविधः, एव, सर्गः, प्रवर्तते–एकादशकः, गणः, च, पंचकः, तन्मात्रः।।

शब्दार्थः– **अभिमानः** – 'मैं' – इस प्रकार का अभिमान, **अहंकारः** –अहंकार, **तस्मात्** –उससे, **द्विविधः** –दो प्रकार का, **एव** –ही, **सर्गः** –कार्य, **प्रवर्तते** –होता है, **एकादशकः** –ग्यारह इन्द्रियों वाला, **गणः** –समूह, **च** –तथा, **पंचकः** –पाँच अवयव युक्त, **तन्मात्रः** –तन्मात्राओं का समूह।।

अर्थः–'मैं' इस प्रकार के अभिमान को अहंकार कहा जाता है। उससे दो ही प्रकार के कार्य होते हैं– एक तो ग्यारह इन्द्रियों का समुदाय और दूसरा पाँच तन्मात्राओं का समूह।।

व्याख्या –अभिमान करना अहंकार का असाधारण व्यापार है। अतः अभिमान–व्यापारवत्त्व ही अहंकार का लक्षण है। इन्द्रियों से किसी वस्तु को देखकर, मन से संकल्प करके 'मैं इस कार्य को करने में समर्थ हूँ, ये घटादि विषय मेरे वास्ते ही हैं, मेरे अतिरिक्त इसका अधिकारी दूसरा कोई नहीं है, अतः मैं ही इस कार्य को करने का अधिकारी हूँ, अतः मैं ही इस कार्य का कर्त्ता व उपभोक्ता हूँ'– ऐसा जो अभिमान रूप व्यापार है, वही अभिमान कहलाता है और यही व्यापार अहंकार का असाधारण व्यापार है, अतः अभिमानव्यापारवत्त्व ही अहंकार का लक्षण है। इसी मननरूप व्यापार को आश्रित करके ही बुद्धि निश्चय करती है कि– यतः मैं ही इस कार्य को करने का अधिकारी हूँ, अतः इस कार्य को करना मेरा कर्त्तव्य है, इसे मैं अवश्य करूंगा।

इस अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। अतः ग्यारह इन्द्रियाँ सात्त्विक हैं और पाँच तन्मात्राएं तामस हैं। रजोगुण का कोई पृथक् कार्य नहीं है, अपितु इस सात्त्विक और तामस सर्ग में वह रजोगुण प्रवर्त्तक और सहायक मात्र होता है, अतः दोनों ही सर्गों में रजोगुण भी कारण है ही।।

स्वयं आंकलन प्रष्न –4

1. सत्कार्यवाद के अनुसार महदादि कार्य .... है।
2. निश्चय करने वाला तत्त्व क्या है?

4.7 सारांष

सांख्य, योग, वेदान्त आदि में कैवल्य का प्रतिपादन वेदपुरुष तथा ऋषि–महर्षियों ने किया है और बड़े–बड़े त्रिकालज्ञ ऋषि, मुनि तथा विद्वान् लोग भी कैवल्य के लिए यत्न करते हुए देखे–सुने जाते हैं। अतः उस कैवल्य से पुरुष की सिद्धि होती है; क्योंकि कैवल्य सब प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को ही कहते हैं और वह कैवल्य सुख–दुःखाद्यात्मक बुद्धि आदि का तो हो नहीं सकता है; क्योंकि बुद्धि आदि का तो त्रिगुणात्मक होने से सुख–दुःखद्यात्मक स्वभाव ही है और किसी का भी स्वभाव तो सर्वथा छूटता नहीं है; इसलिए कोई ऐसा पदार्थ अवश्य है, जो सुख–दुःख–मोहात्मक नहीं है और जिसका सुख और दुःख स्वभाव नहीं है। प्रकृति और पुरुष का अपने–अपने स्वार्थ के लिए ही परस्पर सम्बन्ध उसी प्रकार होता है, जैसे– अन्धे और पंगुल का सम्बन्ध। क्योंकि अन्धा देख नहीं सकता है, पंगुल चल नहीं सकता है; अतः दोनों अपना–अपना काम करने में असमर्थ हैं, अतः अपने–अपने कार्य की सिद्धि के लिए वे दोनों मिल जाते हैं।

4.8 कठिन शब्दावली

उदासीनः –उदासीन पुरुष

षोडशकः –सोलह तत्त्वों वाला

इव –सा

भवति –होता है।

अध्यवसायः –निश्चय

विपर्यासात् –भेद या विषमता के कारण

प्रवर्तते –होता है

तस्मात् –उससे

द्विविधः –दो प्रकार का

एव –ही

सर्गः –कार्य

गणः –समूह

4.9 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. लंगड़े तथा अन्धे के समान
2. प्रकृति पुरुष का

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. पुरुष एवं प्रकृति का
2. प्रकाशक तत्त्व

स्वयं आंकलन प्रष्न –3

1. तेइस
2. सूक्ष्म

स्वयं आंकलन प्रष्न –4

1. सत्
2. बुद्धि (अध्यवसाय)

4.10 अनुषंसित ग्रन्थ

1. सांख्यकारिका, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, बालकृष्ण त्रिपाठी, बी. 2/2, भदैनी, वाराणसी।
2. सांख्यकारिका, संस्कृत व्याख्याकार– म. म. श्री गुरुप्रसादशास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– आचार्य श्री सीतारामशास्त्री, प्रो. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
3. सांख्य तत्त्व प्रदीप, डॉ. अमल धारी सिंह, भारती विद्या प्रकाशन 1, य.वी. बैंगलो रोड, दिल्ली–07।

4.11 अभ्यास प्रश्न

1. प्रकृति पुरुष संयोग सिद्ध करें।
2. षोड्श तत्त्व विवेचन करें।
3. सांख्य के अनुसार बुद्धि के प्रकारों का वर्णन करें।
4. प्रकृति पुरुष में अन्तरस्पष्ट करें।

पंचम्इकाई

इन्द्रिय ज्ञान एवं पंचतन्मात्रा ज्ञान

संरचना

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 इन्द्रिय ज्ञान एवं पंचतन्मात्रा ज्ञान

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

5.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (25 से 30 कारिका तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

5.5 सारांष

5.6 कठिन शब्दावली

5.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

5.8 अनुषंसित ग्रन्थ

5.9 अभ्यास प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ– चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन एवं त्वक् हैं; क्योंकि इनसे ही घट आदि का ज्ञान होता है और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं; क्योंकि इनसे ही कार्य होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ सुख, दुःख एवं मोह से युक्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध और तन्मात्र विषय वाली है। वाक् इन्द्रिय शब्द रूप विषय वाली है। शेष चारों ही पाँच विषयों वाली है। संकल्प करने वाला और सजातीय होने से 'इन्द्रिय' कहा जाने वाला मन इन्द्रियों के बीच में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों प्रकार की इन्द्रिय है।

5.2 उद्देश्य

- ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान
- कर्मेन्द्रिय ज्ञान
- उभयात्मक इन्द्रिय ज्ञान
- पंचतन्मात्रिक ज्ञान
- पंचमहाभूत ज्ञान

5.3 इन्द्रिय ज्ञान एवं पंचतन्मात्रा ज्ञान

चक्षु श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा वाक्, पाणि आदि पांच कर्मेन्द्रियां हैं। जिस अहंकार में रजस् और तमस् को दबाकर सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, उस अहंकार को आचार्यों ने वैकृतिक संज्ञा दी

है। सत्त्वगुण की प्रधानता से ही एकादश इन्द्रियों का समूह सात्त्विक कहलाता है। सात्त्विक होने के कारण ही इन्द्रियां अपने–अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। भूतादेः पद का अर्थ है भूतों का कारण अर्थात् पंचतन्मात्र। इस प्रकार तामस अहंकार से पंचतन्मात्रों का समूह प्रवृत्त होता है। तमस्गुण की प्रधानता के कारण ये तामस कहे जाते हैं। चूंकि राजस उत्प्रेरक या क्रियाशील होने के कारण सात्त्विक और तामस दोनों को गति देता है। इसलिए राजस् अहंकार से दोनों के प्रवृत्त होने की बात कही गयी है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. सांख्यकारिका के अनुसार तन्मात्राओं की संख्या कितनी हैं?
2. एकादश इन्द्रियों का समूह .... कहलाता है?

5.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (25 से 30 कारिका तक)

सात्त्विक एकादषकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।

भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्।। 25।।

अन्वयः–सात्त्विक, एकादशकः, वैकृतात्, अहंकारात्, प्रवर्तते, भूतादेः, तन्मात्रः, सः, तामसः, तैजसात्, उभयम्।।

शब्दार्थः– सात्त्विकः –सत्त्वगुणप्रधान, **एकादषकः** –ग्यारह इन्द्रियों का समूह, वैकृतात् सात्त्विक अर्थात् सत्त्वगुण प्रधान, **अहंकारात्** –अहंकार से, **प्रवर्तते** –प्रादुर्भूत होता है, **भूतादेः** –तामस, से, **तन्मात्रः** –तन्मात्राओं का, **सः** –वह, **तामसः** –तमोगुण–प्रधान, **तैजसात्** –राजस से, **उभयम्** –दोनों ही।।

अर्थः–ग्यारह इन्द्रियों का सात्त्विक गुण सात्त्विक अहंकार से प्रादुर्भूत होता है। तामस अहंकार से पंचतन्मात्राओं का तामस गुण प्रकट होता है। राजस अहंकार से दोनों ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् राजस अहंकार दोनों की उत्पत्ति में सहायक होता है।।

व्याख्या –यद्यपि अहंकार एक ही है, तथापि एक अहंकार से भी सत्त्व गुण की प्रबलता और तमोगुण के अपचय होने पर सात्त्विक 11 इन्द्रियों के गुण की उत्पत्ति होती है और सत्त्वगुण के अपचय तथा तमोगुण के उपचय होने पर उससे तामस पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है और सत्त्वगुण तथा तमोगुण समर्थ होने पर भी अक्रिय होने से स्वयं अपने–अपने कार्यों में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं; अतः उनको रजोगुण ही क्रियाशील होने से अपने–अपने कार्यों में प्रवृत्त करता है; अतः सात्त्विक और तामस कार्यों में सत्त्व और तम की प्रवृत्ति कराने से रजोगुण भी उन कार्यों के प्रति परम्परया कारण है, अतः राजस अहंकार भी दोनों गुणों की उत्पत्ति के कारण होने से वह व्यर्थ नहीं है।।

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।

वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः।। 26।।

अन्वयः–चक्षुश्रोघ्राणरसनत्वगाख्यानि, बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि, कर्मेन्द्रियाणि, आहुः।।

शब्दार्थः– चक्षुश्रोत्रघ्राणरसनत्वागाख्यानि –चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जीभ का वह अग्रभाग जिससे स्वाद जाना जाता है अर्थात् रसन और त्वक् नामवाली, **बुद्धीन्द्रियाणि** –बुद्धि इन्द्रियाँ या ज्ञानेन्द्रियाँ,

वाक्पाणिपादपायूपस्थानि –जीभ, हाथ, पैर, गुदा और लिंग, **कर्मेन्द्रियाणि** –कर्मन्द्रियाँ अर्थात् काम करने वाली इन्द्रियाँ, **आहुः** –कही गयी है।।

अर्थः–चक्षु श्रोत्र घ्राण रसन तथा त्वक् नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, हाथ, पैर, गुदा और लिंग पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही गयी है।।

व्याख्या –सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होने वाले पूर्वोक्त 11 इन्द्रियों के समूह में से 1. चक्षु, 2. श्रोत्र, 3. घ्राण, 4. रसन, 5. त्वक्– ये पाँच इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय हैं; क्योंकि इनसे ही घट आदि का ज्ञान होता है और 1. वाक्, 2. पाणि, 3. पाद, 4. पायु, 5. उपस्थ – ये पाँच कर्मेन्द्रिय कहलाते हैं; क्योंकि इनसे ही कार्य होते हैं और ये पूर्वोक्त चक्षु आदि 10 इन्द्रियाँ बाह्य इन्द्रियाँ कहलाती हैं।।

उभयात्मकमत्र मनः, संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।

गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाष्च।। 27।।

अन्वयः –संकल्पकम्, साधर्म्यात्, इन्द्रियम् च, मनः, अत्र, उभयात्मकम्, गुणपरिणामविशेषात्, नानात्वम्, च, बाह्यभेदाः।।

शब्दार्थः– संकल्पकम् –संकल्प करने वाला, **साधर्म्यात्** –सजातीय होने से, **इन्द्रियम्** –इन्द्रिय, **मनः** –मन, **अत्र** –इन्द्रियों के समूह में, **उभयात्मकम्** –दोनों प्रकार की इन्द्रिय, **गुणपरिणामविशेषात्** –गुणों के परिणामविशेष के कारण, **नानात्वम्** –विविधता, **च** –तथा, **बाह्यभेदाः** –बाहरी पदार्थों में भेद है, **अथवा–च –**जैसे, **बाह्यभेदाः** **–**बाहरी पदार्थों में है।।

अर्थः–संकल्प करने वाला और सजातीय होने से 'इन्द्रिय' कहा जाने वाला मन इन्द्रियों के बीच में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों प्रकार की इन्द्रिय है। गुणों के परिणाम विशेष (अर्थात् धर्म–अधर्म रूप अदृष्ट विशेष) के कारण इन्द्रियों की विविधता और बाहरी पदार्थों में भेद है; अथवा गुणों के परिणामविशेष के कारण इन्द्रियों की विविधता है जैसे कि बाहरी पदार्थों में भेद है।।

व्याख्या –ग्यारहवां इन्द्रिय– मन उभयात्मक है। अर्थात् वह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी है; क्योंकि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ मन से अधिष्ठित होने पर ही अपने–अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं, अतः मन ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी है। इस मन का कार्य संकल्प है। चक्षु आदि इन्द्रियों से घटादि विषयों का पहले संमुग्धाकार निर्विकल्पक सामान्य ज्ञान होता है। उसे आलोचनात्मक ज्ञान भी कहते हैं। फिर इन्द्रियों से आलोचित वस्तु का मन सविकल्पक ज्ञान करता है। यह वस्तु ऐसी है, ऐसी नहीं है– यही संकल्प का आकार है।

अर्थात् इन्द्रियों से घटादि का 'घट–घटत्वे' इत्यादि संमुग्ध रूप से निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है तब 'घटत्वविशिष्टो घट' ऐसा विशेष्य–विशेषणभावपूर्वक सविकल्पक ज्ञान मन से होता है। यही संकल्प कहलाता है। यही संकल्प मन का साधारण व्यापार है। यह मन महत्तत्त्व और अहंकार की तरह असाधारण व्यापारयुक्त होने पर भी महत्तत्त्व और अहंकार की तरह ही अन्तःकरण नहीं है, किन्तु इन्द्रिय ही है; क्योंकि मन का सात्त्विक अहंकार उपादान कारण है, वही इन्द्रियों का भी उपादान कारण है। अतः चक्षुरादि इन्द्रियों के सजातीय होने के कारण ही यह मन इन्द्रिय है।

एक सात्त्विक अहंकार से मन आदि ग्यारह इन्द्रियाँ भिन्न–भिन्न व्यापार वाली कैसे उत्पन्न होती हैं– इस शंका का उत्तर यह है कि सत्त्व, रज, तम गुणों के तारतम्य से अर्थात् अदृष्ट विशेषरूप सहकारी कारण के भेद से एक सात्त्विक अहंकार से नानाविध इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है और उन इन्द्रियों में परस्पर विलक्षणता भी है। जैसे कोई रूप का ही ग्रहण करता है, कोई रस का, कोई गन्ध का इत्यादि और यह सब अदृष्टविशेष ही भेद होता है। जैसे माता–पिता के एक होने पर भी उनसे पुत्र–पुत्री आदि नाना प्रकार की सन्तान उत्पन्न होती हैं, इसी प्रकार एक सात्त्विक अहंकार से भी ग्यारह इन्द्रियाँ परस्पर विलक्षण उत्पन्न होती हैं।।

रूपादिषु पंचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।

वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाष्च पंचानाम्।। 28।।

अन्वयः–पंचानाम्, वृत्तिः, रूपादिषु, आलोचनमात्रम्, इष्यते। पंचानाम्, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः, च।।

अर्थः–पाँच ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार रूप, रस इत्यादि पाँचों विषयों का विशेषण–विशेष्य–रहित ज्ञानमात्र अभीष्ट है एवं पाँच कर्मेन्द्रियों के व्यापार भाषण, ग्रहण, गमन, मल–त्याग तथा रमण कहे जाते हैं।।

व्याख्या –इन ग्यारह इन्द्रियों में से श्रोत, चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों का शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों का आलोचना करना अर्थात् देखना, सुनना आदि ही असाधारण व्यापार है– ऐसा सांख्याचार्यों ने माना है और वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियों का क्रमशः बोलना आदि व्यापार है। इसमें श्रोत्र का शब्द को सुनना असाधारण व्यापार है। त्वक् का स्पर्शन ही व्यापार है। चक्षु का रूप आदि को देखना असाधारण व्यापार है। जिह्वा का रस आदि का ज्ञान करना असाधारण व्यापार है। घ्राण का गन्ध आदि का ज्ञान करना असाधारण व्यापार है। वाक् का बोलना व्यापार है। पायु का मल आदि का त्याग करना असाधारण व्यापार है। उपस्थ का आनन्द ही असाधारण व्यापार है। अतः ये ही व्यापार इन इन्द्रियों के लक्षण भी हैं। जैसे रूपाद्यालोचन–व्यापरवत्त्व ही चक्षु का लक्षण है। इस प्रकार सभी इन्द्रियों के व्यापार ही उनके लक्षण समझने चाहिए।।

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्यां

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पंच।। 29।।

अन्वयः–त्रयस्य, स्वालक्षण्यम्, वृत्तिः, सा, एषा, असामान्या, प्राणाद्याः, पंच, वायवः, सामान्यकरणवृत्तिः।।

शब्दार्थः– त्रयस्य –तीन अन्तःकरणों के, **स्वालक्षण्यम्** –अपने–अपने लक्षण, **वृत्तिः** –व्यापार हैं, **सा** –वह, **एषा** –यह, **असामान्या** –विशिष्ट, **प्राणाद्याः** –प्राण इत्यादि, **पंच** –पाँच, **वायवः** –वायु, **सामान्यकरणवृत्तिः** –सामान्य रूप से इन्द्रियों के व्यापार हैं।।

अर्थः–बुद्धि, अहंकार तथा मन इन तीन अन्तःकरणों के अपने–अपने लक्षण ही व्यापार हैं। ये लक्षण ही इनके विशिष्ट व्यापार हैं। 'प्राण' इत्यादि पाँच वायु सामान्य रूप से तेरह इन्द्रियों के व्यापार हैं।।

व्याख्या –महत्तत्त्व, अहंकार और मन– ये तीनों अन्तःकरण कहलाते हैं और इनके अपने–अपने लक्षण ही इनकी वृत्ति हैं– ये व्यापार इनकी अपनी–अपनी असाधारण वृत्तियाँ हैं और प्राण आदि पाँच वायु इन तीनों अन्तःकरणों की साधारण वृत्ति है। अर्थात् 1. बुद्धि का अपना असाधारण व्यापार अध्यवसाय है और

प्राणन तीनों अन्तःकरणों का साधारण व्यापार है। 2. अहंकार का अभिमान असाधारण व्यापार है और प्राणन तीनों अन्तःकरणों का साधारण व्यापार है। 3. मन का संकल्प असाधारण व्यापार है और प्राणन तीनों अन्तःकरणों का साधारण व्यापार है। इस प्रकार तीनों अन्तःकरणों की वृत्तियाँ दो प्रकार की हैं– 1. असाधारण वृत्ति एवं 2. साधारण वृत्ति। वृत्ति – व्यापार।।

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमषष्च तस्य निर्दिष्टा।

दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः।। 30।।

अन्वयः–दृष्टे, तस्य, चतुष्टयस्य, वृत्तिः, तु, युगपत्, च, क्रमशः, निर्दिष्टा, तथा, अदृष्टे, अपि, त्रयस्य, तत्पूर्विका, वृत्तिः।।

शब्दार्थः– दृष्टे –प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में, **तस्य** –उन, **चतुष्टयस्य** –चारों का, **वृत्तिः** –व्यापार, **तु** –तो, **युगपत्** –एक साथ, **च** –और, **क्रमशः** –बारी–बारी से, निर्दिष्ट कहा गया है, **तथा** –और, **अदृष्टे** –परोक्ष पदार्थ के विषय में, **अपि** –भी, **त्रयस्य** –तीनों अन्तःकरणों का, **तत्पूर्विका** –प्रत्यक्षपूर्वक, **वृत्तिः** –व्यापार।।

अर्थः–प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में उन चारों करणों का व्यापार कभी एक साथ और कभी बारी–बारी से होता है और परोक्ष पदार्थ के विषय में भी तीनों अन्तःकरणों का प्रत्यक्षपूर्वक व्यापार होता है।।

व्याख्या

प्रमा के बाह्य करण चक्षु आदि 10 इन्द्रियों का व्यापार आलोचन और प्रमा के अन्तःकरण मन, अहंकार, बुद्धि इन तीनों के व्यापार संकल्प, अभिमान निश्चय– ये सब दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष विषयों में कहीं तो युगपत् ही होते हैं और कहीं–कहीं दृष्ट विषयों में क्रम से ही इनके व्यापार होते हैं। जैसे– घोर अन्धकार में बिजली की चमक से सहसा अपने सामने खड़े हुए सिंह, व्याघ्र, चीता, सर्प, भालू, तेंदूआ आदि हिंस्त्र जन्तुओं के देखने मात्र से ही आलोचन, संकल्प, अभिमान और निश्चयरूप व्यापार सहसा होते हैं और वह देखने वाला उस स्थान से कूदकर भागकर अन्यत्र चला जाता है और अपने प्राणों को बचाने का प्रयत्न करता है। ऐसे स्थल में करणों की सभी वृत्तियाँ क्रमशः नहीं होकर एक साथ ही होती हैं और कहीं–कहीं दृष्ट स्थल में करणों की ये वृत्तियाँ क्रमशः भी उत्पन्न होती हैं। जैसे– कोई मनुष्य प्रकाश के मन्द होने से सामने किसी चीज को खड़ी हुई सी देखता है। तब बहुत सावधानता से देखने पर उसे 'यह धनुष–बाण छुरी आदि शस्त्रों से युक्त कोई चोर ही है' ऐसा मानसिक संकल्पात्मक ज्ञान होता है। उसके बाद उसे अहंकार से 'यह तो मेरी ओर ही चला आ रहा है' यह अभिमान होता है। तब उसके बाद उसकी बुद्धि की वृत्ति 'यहां से मेरा भागना ही ठीक है' यह निश्चय होता है और अब वह वहां से धीरे से भाग जाता है। यहां चक्षु आदि करणों के और अन्तःकरणों के व्यापार– आलोचन आदि सभी क्रमशः ही होते हैं।

दृष्ट विषयों की तरह ही अदृष्ट विषयों के स्थलों में भी मन, अहंकार और बुद्धि– इन तीनों अन्तःकरणों के व्यापार तो होते हैं; किन्तु अदृष्ट विषयों में केवल चक्षु आदि बाह्य करणों के व्यापार ही नहीं होते हैं; परन्तु अदृष्ट स्थलों में भी जहां अन्तःकरण का व्यापार होता है, वह दृष्ट पूर्वक ही होता है; क्योंकि– बुद्धि आदि की वृत्तियाँ– अनुमान, आगम, स्मृति आदि प्रत्यक्ष पूर्वक ही होती हैं। जैसे रसोईघर

में धूम और वह्नि का साहचर्य पहले देखकर ही पर्वत में धूम को देखकर वह्नि का अनुमान होता है और सांख्य के मत में अनुमान, स्मृति आदि ज्ञान बुद्धि की वृत्ति विशेष ही हैं। अतः अदृष्ट विषयों में भी अन्तःकरण का व्यापार होता है, परन्तु वह दृष्टपूर्वक ही होता है– यह सिद्ध हो गया; क्योंकि अनुमान में व्याप्तिज्ञान के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान आवश्यक है और आगमजन्य शाब्दबोध में भी शक्तिग्रह के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा होती ही है और स्मृति में भी संस्कार के लिए अनुभव की अपेक्षा होती है। अतः अदृष्ट स्थलों में बुद्धि आदि की वृत्तियाँ प्रत्यक्षपूर्वक ही होती हैं, यह स्पष्ट ही है।।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. इन्द्रियों की कुल संख्या कितनी है?
2. मन किस प्रकार की इन्द्रिय है?
3. ज्ञानेन्द्रियां कितनी है?
4. तन्मात्रों की संख्या कितनी है?

5.5 सारांष

ग्यारह इन्द्रियों में मन दोनों प्रकार का इन्द्रिय है क्योंकि मन से संयुक्त होकर चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियां तथा वाक् इत्यादि कर्मेन्द्रियां अपने–अपने विषयों में प्रवृत्त होती है। अन्य इन्द्रियों की भांति यह भी सात्त्विक अहंकार का परिणाम होने के कारण सजातीय होने से इन्द्रिय है।

5.6 कठिन शब्दावली

सात्त्विकः –सत्त्वगुणप्रधान

आहुः –कही गयी है

इन्द्रियम् –इन्द्रिय

चतुष्टयस्य –चारों का

बाह्यभेदाः –बाहरी पदार्थों में है

तत्पूर्विका –प्रत्यक्षपूर्वक

गुणपरिणामविशेषात् –गुणों के परिणामविशेष के कारण

वायवः –वायु

सामान्यकरणवृत्तिः –सामान्य रूप से इन्द्रियों के व्यापार हैं **तु** –तो

वाक्पाणिपादपायूपस्थानि –जीभ, हाथ, पैर, गुदा और लिंग **तस्य** –उन

5.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. पांच
2. सात्विक

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. ग्यारह
2. उभयात्मक
3. पांच

4. पांच

5.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. सांख्यकारिका, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, बालकृष्ण त्रिपाठी, बी. 2/2, भदैनी, वाराणसी।
2. सांख्यकारिका, संस्कृत व्याख्याकार– म. म. श्री गुरुप्रसादशास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– आचार्य श्री सीतारामशास्त्री, प्रो. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
3. सांख्य तत्त्व प्रदीप, डॉ. अमल धारी सिंह, भारती विद्या प्रकाशन 1, य.वी. बैंगलो रोड, दिल्ली–07।

5.9 अभ्यास प्रश्न

1. पंच कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों का सविस्तार वर्णन करें।
2. सांख्य के अनुसार तन्त्रामाएं कितनी हैं?
3. मन किस प्रकार की इन्द्रिय है? वर्णन करें।
4. बुद्धि के धर्म कौन–कौन से होते हैं तथा उनका फल क्या है?

षष्ठ इकाई

करण एवं बुद्धि तत्त्व

संरचना

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 करण एवं बुद्धि तत्त्व

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

6.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (31 से 36 कारिका तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

6.5 सारांष

6.6 कठिन शब्दावली

6.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

6.8 अनुषंसित ग्रन्थ

6.9 अभ्यास प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

बह्य–अन्तःकरण त्रयोदश हैं। अर्थात् करण त्रयोदश हैं। वह आहरण, धारण तथा प्रकाश करने वाला है। उसका आहार्य, धार्य, प्रकाश्य– प्रत्येक कार्य दस प्रकार का होता है। अन्तःकरण तीन प्रकार के हैं। यह तीनों अन्तःकरणों के विषय को उपस्थित करने वाला बाह्यकरण दस प्रकार का है। बाह्यकरण वर्तमान विषयक होते हैं और अन्तःकरण त्रिकाल विषयक होते हैं।

6.2 उद्देश्य

- बाह्यअन्तःकरण ज्ञान
- अन्तःकरण बोध
- त्रयोदशकरण ज्ञान
- बुद्धि विषयक ज्ञान

6.3 करण एवं बुद्धि तत्त्व

चक्षु बुद्धि, अंहकार और मन ये तीन तत्त्व अन्तःकरण कहलाते हैं ज्ञानेन्द्रियाँ और कमेन्द्रियाँ बाह्यकरण होते हैं। मन कर्मेन्द्रिय भी होता है और ज्ञानेन्द्रिय भी क्योंकि यह उभयात्मक होता है। करणों के अपने–अपने काम को उनकी वृत्ति कहते हैं। तीन अन्तःकरणों की वृत्ति, अर्थात् स्वाभाविक विषयोन्मुख व्यापार, अपना–अपना पृथक्–पृथक् ही होता है। मन की वृत्ति दान–रूप की कल्पना का व्यापार अंहकार की वृत्ति अभिमनन व्यापार और बुद्धि की वृत्ति अध्यवसायात्मक निश्चय करने का व्यापार। उनका वह

अपना–अपना पृथक्–पृथक व्यापार होता है। इसे इनकी स्वालक्षण्य–वृत्ति कहते हैं। ये तीनों मिल–जुल कर भी कोई व्यापार करते हैं। वह व्यापार इनकी मिली–जुली वृत्ति होती है। उसे प्राणन व्यापार कहते हैं। उसी से प्राणी जीवित रहते हैं और जीवनोचित व्यापार करते हैं। शास्त्रों में इस व्यापार को प्राण कहा गया है। यह व्यापार भी शरीर के भिन्न–भिन्न स्थानों में भिन्न–भिन्न प्रकार से चलता है। इसके स्थान भेदों और कार्य–भेदों के आधार पर इसे पाँच नाम दिए गए हैं– प्राण, अपान समान, उदान और व्यान।

दृष्टि प्रमाण के व्यापार में इन्द्रियों द्वारा विषयों का आलोचन, मन द्वारा उसका संकल्पन, अहंकार द्वारा उनका अभिमनन और बुद्धि द्वारा उनका अध्यवसाय हुआ करता है। किसी समय ये चारों व्यवहार एक साथ ही अक्रम से हुआ करते हैं। जैसे रात के समय बिजली की चमक से एकदम अभिव्यक्त हुये शेर को देखकर सभी अन्तःकरण और बाह्यकरण एक साथ ही अपने–अपने व्यापार में लग जाते हैं परन्तु किसी परिस्थिति में इनके व्यापार क्रम से ही होते रहते हैं। जैसे दुर्ग के भीतर बैठा हुआ शिकारी पहले नेत्रों से शेर को देखता है। फिर मन के द्वारा उसके विषय से उसके शेर होने का हन्तव्य होने का संकल्प करता है। तदनन्तर अहंकार के द्वारा अपने हाथ से उसे हन्तव्य समझता हुआ बुद्धि के द्वारा उसके प्रति अपने से हन्तव्यता के विषय में निश्चय करके ही उसे मार डालने की क्रिया का भी निश्चय करता है। ऐसा करके ही कर्मेन्द्रियों के द्वारा उसे मार डालने के लिए यत्न करता है। परोक्ष प्रमेय के विषय के अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण के व्यापार में केवल तीन अन्तःकरणों ही की वृत्ति काम करती है। वह भी किसी स्थिति में अक्रम से और किसी में क्रम से काम करती है परन्तु वहां की दृष्ट प्रमाण के द्वारा लिंग दर्शन और शब्द श्रवण है। तदन्तर ही अनुमान और शब्द बोध अन्तःकरणों के द्वारा हुआ करता है। प्रत्येक बाह्यकरण और अन्तःकरण एक–दूसरे के अभिप्राय के निमित्त से उस अभिप्राय के अनुकूल वृत्ति को ग्रहण करता है। जिस तरह से युद्ध के अवसर पर सेना के भिन्न–भिन्न अंग एक–दूसरे के अभिप्राय के अनुकूल काम करते हैं और तभी उनके कार्य सफल हो जाते हैं, उसी तरह से पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए सभी करण मिल–जुलकर ही सफल कार्य करते हैं। उनकी इस सहकारिता का एकमात्र कारण पुरुषार्थ ही होता है। उसका नियामक दैव होता है। दैव कार्य–सिद्धि के अनुकूल हो तो करण सहकारितापूर्वक सफल काम करते हैं। दैव प्रतिकूल हो तो करणों में सहकारिता नहीं रहती है और यत्न निष्फल हो जाता है।

करण तेरह होते हैं। उसके तीन वर्ग होते हैं– 1. पाँच कर्मेन्द्रियाँ, 2. पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और 3. तीन अन्तःकरण। कर्मेन्द्रियाँ स्थल क्रिया के द्वारा विषयों का उपादान करती हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ उनका प्रकाशन करती हैं और अन्तःकरण उनके विषय में संकल्प, अभिमनन और निश्चयन के द्वारा उसके प्रतिबिम्बों को अपने में धारण कर लेते है। करणों के विषय दस प्रकार के होते हैं। उन्हें कार्य कहते हैं। पाँचों इन्द्रियों के दो–दो प्रकार के विषय होते हैं। वे दो प्रकार के विषय होते हैं– सूक्ष्म और स्थूल, अथवा दिव्य और लौकिक। वे विषय कर्मेन्द्रियों के द्वारा कार्य, ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रकाश्य और अन्तःकरणों के द्वारा धारण करते हैं।

मन और अहंकार की सहायता से बुद्धि ही विषयों के नाम रूप का निश्चय करती है। सभी विषय निश्चय ज्ञान के लिए अन्तःकरणों ही के पास उपस्थित कर दिए जाते हैं। अतः बाह्यकरण अन्तःकरणों के द्वारा होते हैं और अन्तःकरण उनके द्वारा होते हैं। ये सभी करण परस्पर भिन्न–भिन्न स्वभाव के होते हुए भी परस्पर को सहकारिता से काम करते हुए और विषयों को आगे–आगे ले जाते हुए अन्ततोगत्वा उन्हें बुद्धि के सामने रख देते हैं। तब पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है। अन्तःकरणों में से भी बुद्धि द्वारी है और शेष दो उसके द्वार हैं। मन ज्ञानेन्द्रियों से विषयों के प्रतिबिम्बों को लेकर उनके विषय में यथासम्भव अनेक नाम–रूपों की कल्पना करके उन्हें अहंकार के सामने अर्पण कर देता है। अहंकार उनका अभिमान करके उन्हें बुद्धि के सामने ला देता है। बुद्धि उनके विषय में निश्चित नामरूपों का अध्यवसाय करती हुई उन्हीं के आकार में परिणत होकर उन्हीं के आकारों को धारण कर लेती है। इस तरह से सभी करण बुद्धि के ही आधीन रहते हुए उसकी सेवा करते रहते हैं। भोग कर विषयों के इन अध्यवसायों का दर्शन करता हुआ ही पुरुष उनका उपभोग कर पाता है तो ये अध्यवसाय ही पुरुषार्थ होते हैं। प्रकृति और पुरुष के परस्पर विवेक की ख्याति भी बुद्धि का ही एक विशेष अध्यवसाय होता है। उस विवेक–ख्याति के दर्शन से ही पुरुष कैवल्य को प्राप्त कर सकता है। अतः भोग और कैवल्य दोनों ही प्रकार के पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली बुद्धि ही हुआ करती है। अंहकार उनका अभिमनन करके उन्हें बुद्धि के सामने ला देता है। बुद्धि ही साक्षात् सम्बन्ध पुरुष के साथ है। पुरुष स्वयं अकर्त्ता है। उसके लिए भोग और मोक्ष दोनों का प्रबन्ध बुद्धि ही करती है। अतः बुद्धि का ही साम्राज्य समस्त ब्राह्मण्ड के सारे व्यापारों पर चलता है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. बाह्य अन्तःकरण कितने हैं?
2. पुरुषार्थ का अर्थ .... है?

6.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (31 से 36 कारिका तक)

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम्।। 31।।

अन्वयः–परस्पराकूतहेतुकाम्, स्वाम्, स्वाम्, वृत्तिम्, प्रतिपद्यन्ते, पुरुषार्थः, एव, हेतुः करणम्, केनचित्, न, कार्यते।।

शब्दार्थः– परस्पराकूतहेतुकाम् –पारस्परिक अभिप्राय या संकेत रूप कारण वाले, **स्वाम्** –अपने, **स्वाम्** –अपने, **वृत्तिम्** –व्यापार को, **प्रतिपद्यन्ते** –करती हैं, **पुरुषार्थः** –पुरुषार्थ, **एव** –ही, **हेतुः** –कारण, **करणम्** –इन्द्रिय, **केनचित्** –किसी के द्वारा, **न** –नहीं, **कार्यते** –कार्य करने के लिये प्रेरित किया जाता है।।

अर्थः–पारस्परिक अभिप्राय या संकेत रूप कारण वाले अपने–अपने व्यापार को करती हैं (अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रियों के अभिप्राय यानी कार्योन्मुखता को जान कर ही अपने व्यापार में लगती है)। पुरुषार्थ ही एकमात्र कारण है। इन्द्रियों का समूह किसी अन्य के द्वारा कार्य करने के लिए प्रेरित नहीं किया जाता है।।

व्याख्या –बाह्य करण चक्षु आदि 10 इन्द्रियाँ हैं और अन्तःकरण मन, अहंकार, बुद्धि– ये तीन हैं। इनकी वृत्तियाँ आलोचन, संकल्प, अभिमान और निश्चय है। यदि ये वृत्तियाँ केवल इन अन्तःकरणों और बाह्यकरणों के ही अधीन हों तो इन वृत्तियों की सर्वदा उत्पत्ति होती रहेगी; क्योंकि ये 13 करण तो जीवित शरीर में प्रायः सर्वदा विद्यमान ही रहते हैं और कारण के रहने से कार्य अवश्य होता है। यदि वृत्तियों के ये करण ही केवल कारण हों तो सदा ही इन वृत्तियों की उत्पत्ति होती रहेगी; क्योंकि जब तक कारण रहेगा तब तक कार्य भी होता ही रहेगा और यदि इन 13 करणों को कारण नहीं मानकर यों ही बिना किसी कारण के ही वृत्तियों की उत्पत्ति मानी जाएगी तो फिर चाहे जिस कारण से भी चाहे जिस वृत्ति की उत्पत्ति होने लगेगी। मन से बुद्धिवृत्ति निश्चय की उत्पत्ति होने लगेगी। बुद्धि से कदाचित् अहंकार आदि की वृत्ति की भी उत्पत्ति होने लगेगी; क्योंकि वृत्तियों की उत्पत्ति में कोई कारण तो आप मानते नहीं है, तब 'मन से संकल्पात्मक वृत्ति ही उत्पन्न होती है, बुद्धि से निश्चयात्मक वृत्ति ही उत्पन्न होती है' इत्यादि नियम कैसे हो सकता है? अतः जिस किसी करण से जिस–किसी वृत्ति की उत्पत्ति हो जाएगी। कोई नियामक हेतु माने बिना नियम कैसे हो सकता है? अतः इन करणों का प्रेरक ईश्वर को मानना चाहिए। तब सदा वृत्तियों की उत्पत्ति और जिस–किसी वृत्ति की जिस–किसी से उत्पत्ति– ये दोनों दोष नहीं होंगे। क्योंकि चेतन ईश्वर की प्रेरणा से ही करण तत्तत्कार्यों में अपने–अपने व्यापारों में प्रवृत्त होंगे और जो जिसका व्यापार है, उसी को वे करेंगे। क्योंकि चेतन प्रेरक है और अपनी–अपनी वृत्तियों के कारण वे ही अन्तःकरण हैं। तब फिर पूर्वोक्त कोई दोष नहीं रहेगा। इस शंका की निवृत्ति इस कारिका से करते हैं। वृत्तियों की उत्पत्ति करणों से होती है और उन करणों की प्रवृत्ति का हेतु पुरुषार्थ – भोग और मोक्ष ही है। उसी पुरुषार्थ के वशीभूत होकर ही ये मन आदि करण अपने–अपने कार्य संकल्प आदि व्यापारों में प्रवृत्त होते हैं। जैसे सैनिकगण परस्पर में जब संकेत करके शत्रु पर धावा बोलते हैं तब जो सैनिक जिस शस्त्र के चलाने में प्रवीण होता है, वह उसी शस्त्र को लेकर ही शत्रु पर धावा करता है। उसी प्रकार भोग–मोक्षरूपी समान पुरुषार्थ के साधन में प्रवृत्त हुए ये करण भी अपनी–अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति जिन–जिन वृत्तियों में है, उन्हीं व्यापारों को करते हुए पुरुषार्थ का साधन करते हैं। इस प्रकार वे अपनी–अपनी नियत वृत्ति को ही उत्पन्न करते हैं; क्योंकि उसी वृत्ति में उनकी उन्मुखता है; अतः वे दूसरे–दूसरे करणों की वृत्तियों को उत्पन्न नहीं करते हैं। अतः इन्द्रियाँ आलोचन ही करती हैं, मन संकल्प ही करता है, बुद्धि निश्चय ही करती है। इस प्रकार अनागतावस्थ पुरुषार्थरूप कार्य ही इन्द्रिय आदि करणों का हेतु – नियामक है और चेतन – ईश्वर को नियामक मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अर्थात् पुरुषार्थ के अतिरिक्त चेतन आदि किसी को भी करणों को प्रेरक मानने की कोई भी आवश्यकता नहीं है।।

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।

कार्यंच तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यंच।। 32।।

अन्वयः–करणम्, त्रयोदशविधम्, तत्, आहरणधारणप्रकाशकरम्, तस्य, आहार्यम्, धार्यम्, प्रकाश्यम्, धार्यम्, प्रकाश्यम्, च, कार्यम्, दशधा।।

शब्दार्थः— करणम् —इन्द्रिय, त्रयोदशविधम् तेरह तरह का, **तत्** —वह, **आहरण—धरण—प्रकाशकरम्** —आदान, धारण तथा प्रकाश करने वाला, **तस्य** —उसका, **आहार्यम्** —आदेय, **धार्यम्** —धारण किया जाने वाला, **प्रकाश्यम्** —प्रकाशित होने वाला, **कार्यम्** —कार्य, **दषधा** —दश प्रकार का।।

अर्थः—करण तेरह प्रकार के हैं। वे आदान, धारण तथा प्रकाश करने वाले हैं। उनका आदेय, धारण किया जाने वाला और प्रकाशित होने वाला— प्रत्येक कार्य दश प्रकार का होता है।।

व्याख्या —बुद्धि की वृत्तिविशेषा जो प्रमा है, उसके करण 10 चक्षुरादि इन्द्रियाँ, 11 मन, 12 अहंकार, 13 बुद्धि— ये 13 प्रकार के हैं और इनका कार्य आहरण, धारण और प्रकाश करना है। जिसमें वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियों का तो आहरणरूप व्यापार है। आहरण — व्याप्त होना। अर्थात् लेना, देना, ले जाना, छोड़ना, त्याग करना, आनन्द देना आदि आहरणात्मक व्यापार हैं। मन, बुद्धि, अहंकार— इन तीनों अन्तःकरणों का धारण व्यापार है; क्योंकि ये तीनों अन्तःकरण अपनी सामान्य वृत्ति प्राण, अपान आदि से शरीर को धारण करते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ चक्षु आदि रूप, रस आदि विषयों का प्रकाश कराती हैं; अतः इनका प्रकाशन व्यापार है और तेरह प्रकार के पूर्वोक्त कारणों की इन आहरण, धारण और प्रकाशन क्रियाओं के कार्य आहार्य धार्य आदि प्रकाश्य हैं और ये दश—दश प्रकार के हैं। जैसे पाँच कर्मेन्द्रिय वाक् आदि के कार्य वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द— ये पाँच हैं। ये आहार्य हैं, आहरण क्रिया के कर्म हैं और ये वचन आदि पाँचों विषय दिव्य और अदिव्य भेद से दस प्रकार के होते हैं।

इन अन्तःकरणों की प्राण आदि वृत्तियों से धार्य शरीर है और वह शरीर भी पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय आदि पंचभौतिक है और शब्दतन्मात्र—स्पर्शतन्मात्र आदि पाँच तन्मात्राओं का स्थूल परिणाम ही पृथिवी आदि पाँच भूत हैं और पृथिवी, शब्द आदि पाँच तन्मात्राओं का समूहात्मक स्थूल परिणामविशेष ही है। अतः ये शब्द, स्पर्श आदि पाँच विषय दिव्य और अदिव्य भेद से 1. शब्दतन्मात्र — सूक्ष्म शब्द, 2. स्थूल शब्द, 3. सूक्ष्म स्पर्श — स्पर्शन्मात्र, 4. स्थूल स्पर्श आदि भेद से दश प्रकार के हैं अर्थात् दिव्य शब्दादि पाँच, अदिव्य शब्द — स्थूल शब्द आदि पाँच— ये मिलकर 10 प्रकार का 'धार्य' है और बुद्धीन्द्रियों के प्रकाश्य भी शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध— ये पाँच हैं और ये शब्द आदि भी दिव्य और अदिव्य भेद से दश प्रकार के होते हैं। अतः प्रकाश्य शब्द आदि पाँच दिव्य—अदिव्य भेद होने से दो प्रकार के हुए और मिलकर ये दस प्रकार के हो गए। इस प्रकार आहार्य, धार्य, प्रकाश्य प्रत्येक दस—दस प्रकार के हुए।

सरल अर्थ —चित्तवृत्ति विशेष प्रमा के करण तेरह हैं। इनमें से तीन अन्तःकरण हैं और दस बहिरिन्द्रियाँ हैं। ये तेरह आहरण, धारण और प्रकाश करने वाले हैं और इनमें भी वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ आहरण करने वाली हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ चक्षु आदि प्रकाश करती हैं। तीन अन्तःकरण—मन, बुद्धि अहंकार धारण करने वाले हैं और इन आहरण, धारण आदि क्रियाओं के विषय आहार्य, धार्य, प्रकाश्य कहलाते हैं। वचन आदि कायिक चेष्टाओं के विषय शब्द, घट, पट आदि आहार्य हैं। पाँचभौतिक पार्थिव शरीर आदि धार्य हैं। शब्द, रूप, स्पर्श आदि प्रकाश्य हैं। इनमें आहार्य वचन आदि पाँच दिव्य और अदिव्य भेद से दो—दो प्रकार के हैं। अतः आहार्य दस प्रकार का हुआ। धार्य पार्थिव शरीर भी शब्द,

स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का विकार है; अतः शब्द आदि के दिव्य, अदिव्य भेद से धार्य भी दस प्रकार का है। प्रकाश्य शब्द आदि पाँच विषय भी दिव्य और अदिव्यभेद से दो–दो प्रकार के हैं; अतः वे भी दस प्रकार के हुए। दिव्य – योगिगम्य, स्वर्गीय, अदिव्य – साधारण।।

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।

साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्।। 33।।

अन्वयः–अन्तःकरणम्, त्रिविधम्, त्रयस्य, विषयाख्यम्, बाह्यम्, दशधा, बाह्यम्, करणम्, साम्प्रतकालम्, आभ्यन्तरम्, करणम्, त्रिकालम्।।

शब्दार्थः– अन्तःकरणम् –अन्तःकरण, **त्रिविधम् –**तीन प्रकार का, त्रयस्य त्रिविध अन्तःकरण के, **विषयाख्यम्** –विषय को प्रदान करने वाला, **बाह्यम् –**बाहरी, **दशधा –**दश प्रकार का, **बाह्यम् –**बाहरी, **करणम्** **–**इन्द्रिय, **साम्प्रतकालम् –**वर्तमान काल में ही विषय ग्रहण करने वाला, **आभ्यन्तरम् –**भीतरी, **करणम्** –करण, **त्रिकालम् –**तीनों काल के विषयों को ग्रहण करने वाला।।

अर्थः–अन्तःकरण तीन प्रकार का है। तीनों अन्तःकरणों के विषय को प्रदान करने वाला बाहरी करण दस प्रकार का है। बाहरी करण वर्तमान काल में ही विषय ग्रहण करने वाला होता है। किन्तु भीतरी करण तीनों काल के विषयों को ग्रहण करने वाला अर्थात् अपने व्यापार का विषय बनाने वाला है।।

व्याख्या –पूर्वोक्त इन तेरह करणों में अन्तःकरण 1. मन, 2. बुद्धि, 3. अहंकारभेद से तीन प्रकार का है और बाकी दस इन्द्रियाँ बाह्यकरण कहलाती हैं। ये बहिरिन्द्रियाँ तीनों अन्तःकरणों की संकल्प, अभिमान, अध्यवसाय स्वरूप वृत्तियों के विषयों को उपस्थित करती हैं। इसलिए अन्तःकरणों की वृत्तियों के लिए शब्द आदि विषयों को आलोचन, आहरण आदि अपनी–अपनी वृत्तियों के द्वारा उपस्थित करने के कारण ही ये अन्तःकरणों की द्वार भूत हैं; क्योंकि इन्द्रियाँ अपनी–अपनी विषयाकार वृत्तियों से विषयों का समुग्धाकार ज्ञान करके मन आदि अन्तःकरणों को समर्पण करती हैं। तब मन आदि अन्तःकरण उनका संकल्प, अध्यवसाय आदि करते हैं। इसलिए मन आदि की वृत्तियों के लिए इन्द्रियाँ ही द्वारभूत हैं। इनमें बाह्य इन्द्रियाँ तो केवल वर्त्तमानकालिक वस्तुओं का ही ग्रहण करती हैं और मन आदि अन्तःकरण तो त्रैकालिक विषयों का भी अवगाहन–संकल्प, अध्यवसाय आदि कर सकते हैं। जैसे भूत और भविष्यत् वृष्टि का नदी के जल की बाढ, चीटियों का बिना कारण अपने–अपने अण्डे मुख में लेकर बाहर निकलने आदि से अनुमान होता है, उससे भावि–भूत–वृष्टयाद्याकारा चित्तवृत्ति होती है। अतः अनुमिति के अनुकूल संकल्प, अभिमान, निश्चय आदि अन्तःकरणों की वृत्तियाँ होती हैं। इसलिए अन्तःकरणों की वृत्तियों की भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान– तीनों काल की वस्तुएं विषय होती हैं।।

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पंच विशेषाविशेषविषयाणि।

वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पंचविषयाणि।। 34।।

अन्वयः–तेषाम्, पंच, विशेषाविशेषविषयाणि, वाक्, शब्दविषया, भवति, शेषाणि, तु, पंचविषयाणि।।

शब्दार्थः– तेषाम् –उन की, **पंच** –पाँच, **विशेषाविशेषयाणि** –सुख–दुःख एवं मोह से युक्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध और तन्मात्र द्विविध विषयों वाली, **वाक्** –वाक् इन्द्रिय, **शब्दविषया** –शब्द स्वरूप विषयवाली, **भवति** –है, **शेषाणि** –शेष, **तु** –तो, **पंचविषयाणि** –पाँचों विषयों वाली।।

अर्थः–उन की पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तो सुख, दुःख एवं मोह से युक्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध और तन्मात्र विषयों वाली हैं। वाक् इन्द्रिय शब्द रूप विषय वाली है। शेष चारों ही पाँचों विषयों वाली हैं।।

व्याख्या –इन चक्षु आदि दस बहिरिन्द्रियों में से चक्षुरादि पाँच बुद्धीन्द्रिय स्थूल और सूक्ष्म शब्द आदि विषयों को ग्रहण करती हैं, जिनमें योगियों की चक्षुरादि बुद्धीन्द्रियाँ सूक्ष्म शब्द आदि और स्थूल शब्द आदि दोनों का ग्रहण करती हैं एवं साधारण लोगों की बुद्धीन्द्रियाँ केवल स्थूल शब्द आदि का ही ग्रहण करती हैं। पाँच कर्मेन्द्रियों में सभी की वाणी से स्थूल शब्द ही उत्पन्न होता है, सूक्ष्म शब्द नहीं क्योंकि सूक्ष्म शब्द तो अहंकार से ही उत्पन्न होता है, वाक् से नहीं और अवशिष्ट चार कर्मेन्द्रियाँ पाणि, पाद, पायु आदि शब्दादि पाँच का परिणामभूत स्थूल पृथिवी आदि को ही ग्रहण करती हैं।।

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।

तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि।। 35।।

अन्वयः–यस्मात्, सान्तःकरणा, बुद्धिः, सर्वम्, विषयम्, अवगाहते, तस्मात त्रिविधम्, करणम्, द्वारि, शेषाणि, द्वाराणि।।

शब्दार्थः– यस्मात् –चूंकि, **सान्तःकरणा** –अन्य दो अन्तःकरणों के सहित, **बुद्धिः** –बुद्धि, **सर्वम्** –समस्त, **विषयम्** –विषय को, **अवगाहते** –व्याप्त करती है, **तस्मात्** –इसलिए, **त्रिविधम्** –तीन प्रकार का, **करणम्** –अन्तःकरण, **द्वारि** –प्रधान, **शेषाणि** –बाकी करण, **द्वाराणि** –द्वार या साधन अर्थात् अप्रधान।।

अर्थः–चूँकि अन्य दो अन्तःकरणों के सहित बुद्धि समस्त विषय को व्याप्त करती है, इसलिए तीनों अन्तःकरण प्रधान हैं, अन्य द्वारा या साधन मात्र हैं।।

व्याख्या –पूर्वोक्त 13 करणों में से 10 बहिरिन्द्रिय चक्षु आदि अप्रधान हैं और मन एवं अहंकार से सहित बुद्धि ही उनमें प्रधान है। क्योंकि घट, पट, शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों को चक्षुरादि बहिरिन्द्रियाँ देख–सुनकर निश्चय के लिए मन और अहंकारसहित बुद्धि के सामने उसे उपस्थित कर देते हैं। तब अमात्यतुल्य मन और अहंकार की संकल्प और अभिमानरूप वृत्तियाँ होती हैं। उन वृत्तियों के बाद राजतुल्या बुद्धि अध्यवसायात्मक अन्तिम निश्चय करती है। अतः अन्तःकरणसहित बुद्धि ही सामान्य राजा की तरह प्रधान हुई। बहिरिन्द्रियाँ तो राजा के भृत्यों की तरह सूचनामात्र देने के कारण अप्रधान ही हैं। मन और अहंकार भी प्रधान मन्त्री आदि की तरह बुद्धि के सहायकमात्र ही हैं। अतः तेरह प्रकार के करणों में से बुद्धि ही एक सर्वप्रधान सिद्ध होती है। इसी बात को अगली कारिका में स्वयं भी कहेंगे।।

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।

कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति।। 36।।

अन्वयः–परस्परविलक्षणाः, एते, गुणविशेषाः, प्रदीपकल्पाः, कृत्स्नम्, पुरुषस्य, अर्थम्, प्रकाश्य, बुद्धौ, प्रयच्छन्ति।।

शब्दार्थः– परस्परविलक्षणाः –आपस में एक–दूसरे से भिन्न, **एते** –ये, **गुणविशेषाः** –गुणों के ही विकार, **प्रदीपकल्पाः** –दीपक के समान है, **कृत्स्नम्** –समस्त, **पुरुषस्य** –पुरुष के, **अर्थम्** –अर्थ को, **प्रकाष्य** –प्रकाशित कर, **बुद्धौ** –बुद्धि में, **प्रयच्छन्ति** –समर्पित कर देते हैं।।

अर्थः–आपस में एक–दूसरे से भिन्न, गुणों के ही विकार, ये करण दीपक के समान हैं। ये समस्त पुरुषार्थ को प्रकाशित कर बुद्धि को समर्पित कर देते हैं।।

व्याख्या –बुद्धि बहिरिन्द्रियों की अपेक्षा से तो प्रधान है ही; किन्तु मन और अहंकार– जो इन्द्रियापेक्षया प्रधान हैं– उनसे भी वह प्रधान है और बहिरिन्द्रियाँ शब्द आदि विषयों की आलोचना करके उन को अपने से प्रधान मन को अर्पण कर देती है और मन अपना संकल्परूप व्यापार करके उन्हें अपने से प्रधान अहंकार को अर्पण कर देता है और अहंकार भी अपना व्यापार अभिमान करके उन विषयों को सर्वप्रधान बुद्धि को अर्पण कर देता है। अतः बहिरिन्द्रियाँ और मन, अहंकार– ये बारह करण बुद्धि की अपेक्षा अप्रधान है। बुद्धि ही सर्वापेक्षया प्रधान है। वही निश्चयात्मक अपने व्यापार से पुरुष को सुख–दुःखादि का उपभोग कराती है। यद्यपि बहिरिन्द्रियाँ और मन आदि अन्तःकरण– ये परस्पर विलक्षण–भिन्न–भिन्न प्रकार के कार्यों के करने वाले हैं, क्योंकि कोई तो देखता ही है, सुनता नहीं है, कोई सुनता ही है, देखता नहीं है; कोई सूंघता ही है– इस प्रकार एक से एक का कार्य मिलता नहीं है। परन्तु जैसे बत्ती, तैल, अग्नि– ये परस्पर विरोधी स्वभाव वाले होने पर भी अन्धकार को दूर करने वाले प्रकाश को करके रूप आदि का ज्ञान कराने के लिए परस्पर मिलकर दीपरूप धारण कर घट–पटादि का ज्ञान कराने में सहायक होते हैं, उसी प्रकार परस्पर विलक्षण स्वभाव वाले और प्रकृति के गुण, सत्त्व, रज, तम के परिणाम होने से 'गुण' कहलाने वाले ये दस इन्द्रियाँ और मन आदि बारहों करण पुरुषार्थ – सुखादि के उपभोग और अपवर्ग रूप एक कार्य के करने के लिए आपस में मिलकर सम्पूर्ण पुरुषार्थ के साधन घट आदि विषयों को लेकर उन्हें बुद्धि को अर्पण कर देते हैं और बुद्धि उनका पुरुष को अपनी वृत्ति से उपभोग कराती है। जैसे राजकर्मचारी प्रजा से कर वसूल करके अपने से बड़े अधिकारी को देते हैं और वह अपने से बड़े अधिकारी को देता है और वह भी उसे राजा के अर्पण कर देता है। वैसे ही इन्द्रियाँ भी अपने से बड़े अधिकारी–मन को और मन भी अपने से बड़े अधिकारी–अहंकार को विषयों का समर्पण करता है और वह अहंकार उन विषयों को राजतुल्य सर्वप्रधान बुद्धि के अर्पण कर देता है। इस प्रकार इन्द्रिय आदि के द्वारा बुद्धि की घट, सुखाद्याकारा वृत्ति होती है और वही वृत्ति ज्ञान और बोध कहलाती है और उस बुद्धि में पुरुष की छाया पड़ने से पुरुष को उसके संविधान से उसके साथ तादात्म्याध्यास हो जाता है; अतः बुद्धि के सुख–दुःख आदि के भोग को भी वह पुरुष अपना ही भोग समझकर अपने को सुखी, दुःखी, बद्ध और मुक्त आदि समझने लगता है। वास्तव में तो पुरुष निर्लेप है। वह तो उदासीन है। वह तो साक्षी मात्र ही है।।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. बाह्य करण कितने हैं?

2. तीन अन्तःकरण कौन–कौन से हैं?
3. बुद्धि के धर्म कौन–कौन से हैं?
4. बुद्धि में प्रधान कौन है?

6.5 सारांष

मन, बुद्धि, अहंकारभेद से तीन प्रकार का अन्तःकरण है और दस इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ) बाह्यकरण कहलाती हैं। ये बहिरिन्द्रयाँ तीनों अन्तःकरणों की संकल्प, अभिमान, अध्यवसाय स्वरूप वृत्तियों के विषयों को उपस्थित करती हैं। इसलिए अन्तःकरणों की वृत्तियों के लिए शब्द आदि विषयों को आलोचन, आहरण आदि अपनी–अपनी वृत्तियों के द्वारा उपस्थित करने के कारण ही ये अन्तःकरणों की द्वार भूत हैं; क्योंकि इन्द्रियाँ अपनी–अपनी विषयाकार वृत्तियों से विषयों का समुग्धाकार ज्ञान करके मन आदि अन्तःकरणों को समर्पण करती हैं। तब मन आदि अन्तःकरण उनका संकल्प, अध्यवसाय आदि करते हैं। इसलिए मन आदि की वृत्तियों के लिए इन्द्रियाँ ही द्वारभूत हैं। इनमें बाह्य इन्द्रियाँ तो केवल वर्त्तमानकालिक वस्तुओं का ही ग्रहण करती हैं और मन आदि अन्तःकरण तो त्रैकालिक विषयों का भी अवगाहन–संकल्प, अध्यवसाय आदि कर सकते हैं।

6.6 कठिन शब्दावली

आहार्यम् –आदेय

आभ्यन्तरम् –भीतरी

शब्दविषया –शब्द स्वरूप विषयवाली

सान्तःकरणा –अन्य दो अन्तःकरणों के सहित

द्वाराणि –द्वार या साधन अर्थात् अप्रधान

परस्परविलक्षणाः –आपस में एक–दूसरे से भिन्न

प्रदीपकल्पाः –दीपक के समान है

धार्यम् –धारण किया जाने वाला

पंचविषयाणि –पाँचों विषयों वाली

करणम् –इन्द्रिय

यस्मात् –चूंकि

शेषाणि –बाकी करण

एते –ये

प्रयच्छन्ति –समर्पित कर देते हैं

6.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. त्रयोदश
2. प्रयोजन

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. दस
2. मन, अहंकार, बुद्धि
3. मन और अहंकार
4. बुद्धि

6.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. सांख्यकारिका, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, बालकृष्ण त्रिपाठी, बी. 2/2, भदैनी, वाराणसी।

2. सांख्यकारिका, संस्कृत व्याख्याकार– म. म. श्री गुरुप्रसादशास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– आचार्य श्री सीतारामशास्त्री, प्रो. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
3. सांख्य तत्त्व प्रदीप, डॉ. अमल धारी सिंह, भारती विद्या प्रकाशन 1, य.वी. बैंगलो रोड, दिल्ली–07।

6.9 अभ्यास प्रश्न

1. तीन अन्तःकरणों के स्वरूप का वर्णन करें।
2. करण कितने हैं? सविस्तार व्याख्या करें।
3. सांख्य के अनुसार इन्द्रियाँ कितनी हैं? विस्तारपूर्वक बताइए।
4. बुद्धि के धर्म कौन–कौन से होते हैं तथा उनका फल क्या है?

सप्तम् इकाई

तत्त्व सृष्टि एवं शरीर विवेचन

संरचना

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 तत्त्व सृष्टि एवं शरीर विवेचन

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 1

7.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (37 से 42 कारिका तक)

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 2

7.5 सारांष

7.6 कठिन शब्दावली

7.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

7.8 अनुषंसित ग्रन्थ

7.9 अभ्यास प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

पाँच तन्मात्रा ही पाँच भूतत्त्वों में परिणत होते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन पाँच भूतों में से आकाश अमूर्त होता है और शेष चार मूर्त होते हैं। आकाश के भीतर उन चारों के परमाणुओं के अनन्त प्रकार के सम्मिश्रणों के द्वारा चौदह भुवनों की, असंख्य भोग्य विषयों की और अंसख्य शरीरों की सृष्टि हुआ करती है। यह सारी की सारी सृष्टि भूतत्त्वों के विशेष परिणामों का फल होता है। इन भुवनों आदि को सृष्टि की तत्त्व सृष्टि में गिना जाता है। तत्त्व सृष्टि पृथ्वी–तत्त्व पर ही समाप्त हो जाती है। यह भुवन आदि की सृष्टि इन्हीं तत्त्वों के विविध परिणामों से हुआ करती है।

7.2 उद्देश्य

- पंचतन्मात्र परिणाम
- शरीर विवेचन – 1. स्थूल शरीर
  2. सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर)
- संसृप्ति के निमित्त धर्म और अधर्म
- कार्य करण भाव या निमित्त–नैमित्तिक भाव

7.3 तत्त्व सृष्टि एवं शरीर विवेचन

तत्त्व सृष्टि – रजोगुण की प्रेरणा से बुद्धि में पुनः परिणाम आ जाने से अभिमनन शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। उस अभिमनन–शक्ति को अभिमान या अंहकार–तत्त्व कहा जाता है। अहंकार का

स्वरूप अहंभाव की अभिव्यक्ति होता है। बुद्धि इसके द्वारा अपने आपको ''अहम्'' इस रूप में जानने लग जाती है। रजोगुण चंचलता के प्रभाव से अंहकार के भी परिणाम होते हैं। उनमें से एक तत्त्व मन होता है। मन संकल्प शक्ति को कहते हैं। अगली सृष्टि में मन अन्तर विषयों और बाह्य विषयों के प्रतिबिम्बों के विषयों में नामों और रूपों की विविध कल्पना उन्हीं में से बुद्धि किसी एक विशेष नाम रूप युगल का निश्चय करती है। संकल्प मन का धर्म है और निश्चित विकल्प ज्ञान बुद्धि का धर्म है। अहंकार के अन्य परिणाम पाँच ज्ञान–इन्द्रियाँ, पाँच कर्म–इन्द्रियाँ और पाँच सूक्ष्म विषय तत्त्व अर्थात् प्रमेय तत्त्व होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ तो ज्ञान में अर्थात् जानने में सहायता करती हैं और कर्मेन्द्रियाँ काम करने में सहायक बनती है। ज्ञानेन्द्रियों में 1. श्रोत–सुन लेने की शक्ति, 2. त्वक्–सर्दी, गर्मी, कोमलता, कठोरता आदि को जान लेने की शक्ति, 3. अक्षि–नील, पीत आदि रूप की तथा हस्व, दीर्घ, मण्डल, चतुष्कोण आदि आकार को जान लेने की शक्ति 4. रसना–मधुर, नमकीन, खटट्ा आदि को जाने लेने की शक्ति, 5. घ्राण–सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि को जानने की शक्ति होती है। कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच होती हैः 1. वाणी या वाक् बोलने की शक्ति को कहते हैं। 2. पाणि–हाथ–ग्रहण करने की शक्ति का नाम है। 3. पाद–एक स्थान से दूसरे स्थान को आने–जाने की शक्ति को कहा जाता है। 4. वायु–मल मूत्र आदि का परित्याग करने की सामर्थ्य का ज्ञान है। 5. उपस्थ–विषयानन्द को अभिव्यक्त करने की शक्ति को कहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जिन पाँच सूक्ष्म विषयों को ग्रहण किया जा सकता है, उन्हें पाँच तन्मात्रा कहते है। वे होते हैं –1. शब्द, 2. स्पर्श, 3. रूप, 4. रस और 5. गन्ध। ये ज्ञानेन्द्रियों के अति सूक्ष्म विषय सामान्य–आकार के ही होते हैं विशेष आकारों के नहीं। ये पाँच विषय–ज्ञेय–तत्त्व होते हैं। अहंकार त्रिगुणात्मक होता है। उसके सत्वगुण–प्रधान अंश का परिणाम पाँच ज्ञानेन्द्रियों में हो जाता है। सत्वगुण प्रकाशशील होता है। इसीलिए ज्ञानेन्द्रियाँ विषय के प्रकाश में उपयोगी बनती हैं। रजोगुण प्रधान अंहकार के परिणाम पाँच कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। रजोगुण प्रवृतिशील है। अतः ज्ञानेन्द्रियाँ क्रिया में उपयुक्त होती है। तमोगुण प्रधान अहंकार से परिणाम के द्वारा पाँच तन्मात्र की अभिव्यक्ति होती है। तमोगुण में अधिक जाड्य होता है। अतः तन्मात्र–तत्त्व न ही ज्ञान में और न ही क्रिया में उपयोगी बनते हुए ज्ञान और क्रिया के विषय बन जाते हैं। शब्द तन्मात्रा से श्रोत के द्वारा ग्राह्य सामान्याकार विभाजकता, अक्षारात्मकता, पदात्मकता, वाक्यात्मकता, आदि विशेषताओं की अभिव्यक्ति शब्द–तन्मात्रा में नहीं होती हैं। वहां सामात्व रूप से उसकी एकमात्र शब्दता की ही अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए तन्मात्रा को सूक्ष्म और प्रविभाग रहित विषय मात्र कहा गया है। इसी तरह स्पर्श आदि तन्मात्रा भी सूक्ष्म और निर्विभाग विषय–मात्र ही होते हैं। अंहकार के परिणाम ये सोलह तत्त्व होते हैं।

पाँच तन्मात्रा ही पाँच भूतत्त्वों परिणत हो जाते हैं। भूतत्त्व होते हैंः 1. आकाश, 2. वायु, 3. अग्नि, 4. जल और 5. पृथ्वी इन पाँच भूतों में से आकाश अमूर्त होता है और शेष चार मूर्त होते हैं। आकाश के भीतर उन चारों के परमाणुओं के अनन्त प्रकार के सम्मिश्रणों के द्वारा चौदह भुवनों की, असंख्य भोग्य विषयों की और अंसख्य शरीरों की सृष्टि हुआ करती है। यह सारी की सारी सृष्टि भूतत्त्वों के विशेष

परिणामों का फल होता है। इन भुवनों आदि को सृष्टि में गिना जाता है। तत्त्व सृष्टि पृथ्वी–तत्त्व पर ही समाप्त हो जाती है। यह भुवन आदि की सृष्टि इन्हीं तत्त्वों के विविध परिणामों से हुआ करती है।

शरीर विवेचन –सृष्टि के भीतर पुरुष का सम्बन्ध दो प्रकार के शरीर के साथ रहता है। उस शरीर की सहायता से ही पुरुष से सम्बद्ध बुद्धियाँ विषयों को धारण करके पुरुष को उनका उपभोग करवाती है। दो प्रकार के शरीर–स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर होते हैं। स्थूल शरीर दृष्ट प्रमाण से सिद्ध होते है और सूक्ष्म शरीरों की कल्पना अनुमान के आधार पर ठहराई जाती है। स्थूल देह को माता–पितृज देह कहा जाता है। ये देह छः कोषों से युक्त होते है। उनमें से 1. रोम, 2. रूधिर और 3. माँस माता के शरीर के अंशों से और 4. नाड़ियाँ 5. हडिड्याँ और 6. मज्जा पिता के शरीर के अंशों से बनते हैं, ऐसा सांख्य–शास्त्र के आचार्य मानते हैं। इन स्थूल शरीरों की सहायता से जिन विषयों का भोग पुरुषों को प्राप्त होता है, वे भोग्य विषय पृथ्वी आदि पाँच भूतों के विविध सम्मिश्रण से और परिणाम से बनते हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ के विषय बनते रहते हैं।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. नियत्त रहने वाले शरीर को क्या कहते हैं?
2. माता–पिता से उत्पन्न शरीर .... हो जाते हैं।

7.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (37 से 42 कारिका तक)

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।

सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्।। 37।।

अन्वयः–यस्मात्, सर्वम्, प्रति, उपभोगम्, पुरुषस्य, बुद्धिः, साधयति, च, सा, एव, पुनः, सूक्ष्मम्, प्रधानपुरुषान्तरम्, विशिनष्टि।।

शब्दार्थः– **यस्मात्** –चूंकि, **सर्वम्** –सभी के, **प्रति** –सम्बन्ध में, **उपभोगम्** –भोग को, **पुरुषस्य** –पुरुष के लिए, **बुद्धिः** –बुद्धि, साधयति सम्पादित करती है, **च** –और, **सा** –वह, **एव** –ही, **पुनः** –भोग के अनन्तर, **सूक्ष्मम्** –सूक्ष्म, **प्रधानपुरुषान्तरम्** –प्रकृति एवं पुरुष के भेद को, **विशिनष्टि** –प्रकट करती है।।

अर्थः–चूँकि सभी के सम्बद्ध में भोग को, पुरुष के लिए, बुद्धि ही सम्पादित करती है (अर्थात् बुद्धि ही सभी विषयों को भोग के लिए पुरुष को प्रदान करती है और वही (बुद्धि ही) भोग के अनन्तर सूक्ष्म प्रकृति एवं पुरुष के भेद को भी प्रकट करती है। अतः वही प्रधान है।।

व्याख्या –पुरुष के लिए सभी प्रकार के शब्दादि विषयों के उपभोग का संपादन एवं उसके अनन्तर पुरुष के अपवर्गार्थ प्रधान और पुरुष के वास्तविक सूक्ष्म भेद का बोधन भी यह बुद्धि ही कराती है; क्योंकि यह बुद्धि ही पुरुष के निकट रहती है; अतः यही बुद्धि पुरुषार्थ – भोग अपवर्ग के साक्षात् साधन होने के कारण मन और अहंकार की अपेक्षा से तथा इन्द्रियों की अपेक्षा से भी प्रधान है। जैसे राजा के निकट रहने वाला सर्वाध्यक्षा मन्त्री ही प्रधान कहलाता है और बाकी के सभी राजकर्मचारी उसके सहायक ही होते हैं, वैसे ही राजतुल्य पुरुष के लिए साक्षात् उपभोगों का साधन करने वाली बुद्धि ही सबसे प्रधान है। अतः इन्द्रियाँ और मन तथा अहंकार अपने–अपने व्यापारों द्वारा उसकी ही सहायता करते हैं और

विषयों को ग्रहण करके पुरुष के उपभोगार्थ बुद्धि के ही अर्पण करते हैं और बुद्धि सबसे विषयों को लेकर उसका उपभोग पुरुष को कराती है, अतः वही सर्वाध्यक्ष और सर्वप्रधान मानी जाती है। बहिरिन्द्रियाँ अपना–अपना आलोचनात्मक व्यापार करके विषयाकार अपने परिणाम को अपने से प्रधान मन को अर्पण करती हैं और मन भी संकल्पात्मक अपनी वृत्ति के विषयाकार परिणाम को अपने से प्रधान अहंकार को समर्पण करता है और अहंकार भी अपनी अभिमानात्मक वृत्ति के विषयाकार परिणाम को सर्वप्रधान बुद्धि को समर्पित कर देता है। तब बुद्धि उसका उपभोग पुरुष को अपनी वृत्ति से कराती है। इस प्रकार सभी इन्द्रियों के तथा मन और अहंकार के भी व्यापार बुद्धि के व्यापार से आकर इस प्रकार मिल जाते हैं, जिस प्रकार राजा की प्रधान सेना से आकर उसके सामन्त राजाओं की सेना मिल जाती है और जैसे वे सभी सेनाएं उस राजा की ही कहलाने लगती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों के तथा मन और अहंकार के भी व्यापार बुद्धि के व्यापार से मिलकर बुद्धि के ही व्यापार कहलाते हैं और उन सब व्यापारों की सहायता से बनी हुई अपनी वृत्तियों से पुरुष के लिए वह बुद्धि ही उपभोग का साधन करती है और उपभोग के साथ ही साथ मोक्ष के साधन विवेक ज्ञान को भी पुरुष के लिए वह बुद्धि ही स्वयं उपस्थित करती है।।

तन्मात्राण्यविषेषास्तेभ्यो भूतानि पंच पंचभ्यः।

एते स्मृता विषेषाः शान्ता घोराष्च मूढाष्च।। 38।।

अन्वयः–तन्मात्राणि, अविशेषाः, तेभ्यः, पंचभ्यः, पंच, भूतानि, एते, विशेषाः, स्मृताः, शांताः, घोराः, च, मूढाः।।

शब्दार्थः– तन्मात्राणि –पाँच तन्मात्र, **अविशेषाः** –अविशेष, **तेभ्यः** –उन, **पंचभ्यः** –पाँच तन्मात्र से, **पंच** –पाँच, **भूतानि** – महाभूत, **एते** – ये महाभूत, **विशेषाः** –विशेष, **स्मृताः** –कहे गये हैं, **शान्ताः** –सुखात्मक, **घोराः** –दुःखात्मक, **च** –और, **मूढाः** –मोहात्मक।।

अर्थः–पाँच तन्मात्र 'अविशेष' (कहे जाते हैं)। उन पाँच तन्मात्र से पाँच महाभूत (उत्पन्न होते हैं)। ये महाभूत 'विशेष' कहे गए हैं। (क्योंकि ये) सुखात्मक, दुःखात्मक और मोहात्मक (हैं)।।

व्याख्या –1. शब्दतन्मात्र, 2. स्पर्शतन्मात्र, 3. रूपतन्मात्र, 4. रसतन्मात्र और 5. गन्धतन्मात्र– ये पाँच तन्मात्र, 'अविशेष' कहलाते हैं; क्योंकि इन पाँचों में सूक्ष्म होने से उपभोग–योग्यता नहीं है, उपभोगयोग्य शान्त, घोर, मूढभाव इनमें नहीं है; अतः ये अविशेष है और इन पाँच तन्मात्राओं से क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पाँचों से पाँच स्थूलभूत आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी– ये पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। ये पाँचों महाभूत 'विशेष' कहलाते हैं; क्योंकि ये शान्त, घोर और मूढ हैं, अतः उपभोगयोग्यतारूप विशेषता इनमें रहने से ये विशेष कहलाते हैं। जो सत्त्वप्रधान हैं, वे शान्त कहलाते हैं। जो रजोगुण–प्रधान हैं, वे घोर कहलाते हैं और जो तमोगुणप्रधान हैं, वे मूढ कहलाते हैं। ये पाँचों महाभूत पृथ्वी आदि अलग–अलग स्पष्ट मालूम होते हैं, अतः ये स्थूल और विशेष कहलाते हैं; परन्तु पंचतन्मात्र हम लोगों को स्पष्ट और अलग–अलग नहीं दिखाई देते हैं; अतः वे सूक्ष्म और अविशेष कहलाते हैं; क्योंकि पंचतन्मात्र केवल योगिजनों से ही संवेद्य हैं, हमलोग उन्हें घट–पट आदि की तरह पृथक् नहीं देख सकते हैं।।

सूक्षमा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्रिधा विषेषाः।

सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते।। 39।।

अन्वयः–सूक्ष्माः, मातापितृजाः, प्रभूतैः, सह, त्रिधा, विशेषाः, स्युः, तेषाम्, सूक्ष्माः, नियताः, मातापितृजाः, निवर्तन्ते।।

शब्दार्थः– सूक्ष्माः –सूक्ष्म शरीर, **मातापितृजाः –**माता और पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर, **प्रभूतैः –**पर्वत वृक्ष आदि के, **सह –**साथ, **त्रिधा –**तीन प्रकार के, **विशेषाः –**स्थूल विषय, **स्युः –**होते हैं, तेषाम् उनमें, **सूक्ष्माः –**सूक्ष्म शरीर, **नियताः –**नित्य हैं, **निवर्तन्ते –**विनष्ट होते हैं।।

अर्थः–सूक्ष्म शरीर, माता–पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर, पर्वत–वृक्ष आदि के साथ तीन प्रकार के स्थूल विषय होते हैं (अर्थात् सूक्ष्म शरीर, माता–पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर और पर्वत–वृक्ष आदि– ये तीन प्रकार के स्थूल विषय (विशेष) होते हैं)। उनमें सूक्ष्म शरीर नित्य हैं। किन्तु माता–पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर अनित्य हैं।।

व्याख्या –इन स्थूल पंच महाभूतों के भी तीन प्रकार के अवान्तर भेद हैं; जिनमें 1. सूक्ष्म शरीर– माता–पिता से उत्पन्न षाट्कौशिक। 2. स्थूलशरीर, 3. प्रभूत। इनमें 1. मन, 2. बुद्धि, 3. अहंकार – ये तीन अन्तःकरण, 10 इन्द्रियाँ, पाँच शब्दादि पंचतन्मात्र– इन 18 से सूक्ष्म शरीर 'विशेष' बनता है, जो मोक्षपर्यन्त सदा बना ही रहता है। यही बार–बार जन्म लेता–मरता भी रहता है। यह चक्षु से नहीं देखा जा सकता; परन्तु अनुमान आदि से ही जाना जाता है। दूसरा स्थूल शरीर– जो माता–पिता से उत्पन्न होता है, यह तो आयुष्य पूरी होने पर नष्ट हो जाता है और यह गाड़ देने से मिट्टी में मिल जाता है या अग्नि में जलाने से जलकर भस्म हो जाता है, या पशु, पक्षी, मछली आदि के पेट में जाकर विष्ठारूप हो जाता है। तीसरा प्रभूत– मिट्टी, जल आदि उपादानस्वरूप रहता है या घट, पट आदि विकारस्वरूप रहता है। यह भी समय पर नष्ट ही हो जाता है और मिट्टी, जल आदि उपादानस्वरूप 'प्रभूत' भी प्रलय में अपने–अपने कारणों में लीन हो जाता है। शान्त, घोर, मूढ 10 इन्द्रियों से युक्त होने से ही यह सूक्ष्म देह होने पर भी विशेष कहलाता है।।

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।

संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम्।। 40।।

अन्वयः–पूर्वोत्पन्नम्, असक्तम्, नियतम्, महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्, निरुपभोगम्, भावैः, अधिवासितम्, लिंगम्, संसरति।।

शब्दार्थः– पूर्वोत्पन्नम् –सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, **असक्तम् –**अप्रतिहत गति वाला, **नियतम् –**मोक्षपर्यन्त स्थायी, **महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् –**महत्तत्त्व से लेकर सूक्ष्म तन्मात्राओं तक के 17 तत्त्वों से बना हुआ, निरूपभोगम् भोगरहित, **भावैः –**धर्माधर्म आदि भावों से, अधिवासितम् संस्कृत, **लिंगम् –**सूक्ष्म शरीर, **संसरति –**गमनागमन करता रहता है।।

अर्थः–सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, अप्रतिहतगतिवाला, मोक्षपर्यन्त स्थायी, महत्तत्त्व से लेकर सूक्ष्म तन्मात्राओं तक के 18 तत्त्वों से बना हुआ, भोगरहित, धर्म–अधर्म आदि भावों से संस्कृत, सूक्ष्म शरीर संसरण–गमनागमन करता करता है।।

व्याख्या –पंच महाभूतों के जो तीन विशेष पूर्व कारिका में कहे गए हैं, उनमें से एक भेद जो सूक्ष्म देह है, उसका विवेचन इस कारिका में करते हैं– सूक्ष्म शरीर। सर्वप्रथम सृष्टि के आदि में प्रतिपुरुष एक–एक सूक्ष्म शरीर प्रकृति ने उत्पन्न किए हैं और यह सूक्ष्म शरीर चाहे जहां जा सकता है, इसकी गति कहीं भी नहीं रूकती है, यह पत्थर में भी घुस सकता है और यह सूक्ष्म शरीर प्रलय तक रहेगा। अथवा तत्त्वज्ञान होने से जब मोक्ष होगा तभी यह सूक्ष्म शरीर भी नष्ट होगा और यह सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच तन्मात्र इन 18 तत्त्वों से बनता है और इस सूक्ष्म शरीर में बुद्धि भी है और बुद्धि में ही धर्म–अधर्म आदि भाव हैं। उन भावों का बुद्धि द्वारा सूक्ष्म शरीर में भी सम्पर्क उसी प्रकार होता है, जैसे गुलाब–चम्पा–चमेली आदि पुष्पों की सुगन्ध पुष्पों के सम्पर्क से वस्त्र आदि में भी हो जाती है उन धर्म–अधर्म आदि बुद्धि के धर्म सात प्रकार के भावों के सम्पर्क से यह सूक्ष्म शरीर नाना योनियों में जन्म लेता रहता है। क्योंकि जन्म और मरणरूप संसार का मूल कारण धर्माऽधर्म आदि ही हैं और ये बुद्धि के धर्म धर्माऽधर्म बुद्धि द्वारा सूक्ष्म शरीर में भी विद्यमान हैं; अतः यह सूक्ष्म शरीर नए–नए स्थूल शरीर धारण करता रहता है और भोग पूरा होने पर उन शरीरों को छोड़ता रहता है। क्योंकि पशु, पक्षी, सांप, कीट, पतंग, नर–नारी आदि के स्थूल शरीरों को धारण किए बिना सूक्ष्म शरीर भोगों को नहीं भोग सकता है; अतः सूक्ष्म शरीर को नाना स्थूल देह धारण करने पड़ते हैं। अतः कभी वह हाथी बनता है, कभी कीट–पतंग बनता है और प्रलय काल में वह अव्यक्त में लीन हो जाता है। क्योंकि यह सूक्ष्म शरीर व्यक्त है, अतः इसका अव्यक्त– प्रकृति में प्रलय काल में लय होता है अथवा ज्ञान होने से मोक्ष होने पर ही इसका प्रकृति में लय हो जाता है।।

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छायां
तद्वद्विना विषेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिंगम्।। 41।।

अन्वयः–यथा, आश्रयम्, ऋते, चित्रम्, यथा, स्थाण्वादिभ्यः, विना, छाया, न, तिष्ठति; तद्वत्, विशेषैः, विना, निराश्रयम्, लिंगम्।।

शब्दार्थः– **यथा** –जैसे, **आश्रयम्** –आधार के, **ऋते** –बिना, **चित्रम्** –चित्र, **यथा** –जैसे, **स्थाण्वादिभ्यः** –ठूंठ आदि के, **विना** –बिना, **छाया** –छाया, **न** –नहीं, **तिष्ठति** –रहती, **तद्वत्** –उसी प्रकार, **विशेषैः** –स्थूल शरीर रूप विशेष के, **विना** –बिना, **निराश्रयम्** –आश्रय–हीन, **लिंगम्** –सूक्ष्म शरीर।।

अर्थः–जैसे आधार के बिना चित्र और ठूँठ आदि के बिना छाया नहीं रहती; उसी प्रकार स्थूल शरीर रूप 'विशेष' के बिना आश्रय–हीन लिंग अर्थात् सूक्ष्म शरीर भी नहीं रहता है।।

व्याख्या –जैसे बिना किसी आधार के चित्र नहीं लिखे जा सकते हैं और बिना वृक्ष, पुरुष, हाथी, घोड़ा आदि किसी वस्तु के उसकी छाया नहीं हो सकती है और बिना किसी आधार के सफेद, लाल, पीला आदि रंग नहीं रह सकते हैं, वैसे ही बिना सूक्ष्म शरीर के बुद्धि आदि गुण भी नहीं रह सकते हैं और मरण से जन्म–पर्यन्त बीच के समय में स्थूल शरीर है नहीं; अपितु वह तो नष्ट हो चुका है तब बुद्धि आदि उस बीच में निराधार कैसे ठहर सकते हैं। अतः मन, बुद्धि, अहंकार, दस इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्र– इन अट्ठारह तत्त्वों के समूह से सूक्ष्म शरीर की कल्पना करते हैं। वही सूक्ष्म शरीर प्रारब्ध कर्मों के

उपभोग के लिए नाना योनियों में जाकर जन्म लेता है और मरता है– उन स्थूल शरीरों को धारण करता और छोड़ता रहता है। केवल साहंकारा सेन्द्रियाँ बुद्धि का ही संसरण मानना सम्भव नहीं है; क्योंकि बुद्धि आदि 13 तत्त्व बिना किसी आश्रय के नहीं रह सकते हैं। पट सूत आदि के बिना उसकी सफेदी कभी नहीं रहती है। अतः पंचतन्मात्राओं के सम्बन्ध से सूक्ष्म शरीर की कल्पना की जाती है। उस सूक्ष्म शरीर के आश्रय से ही बुद्धि आदि लिंग रहते हैं और षाट्कौशिक नाना स्थूल शरीरों को धारण करते और छोड़ते रहते हैं। इस सूक्ष्म शरीर की कल्पना में आप्तवचन प्रमाण भी मिलते हैं और अनुमान प्रमाण भी है। अतः सूक्ष्म शरीर अप्रामाणिक नहीं है; अपितु प्रामाणिक ही है।।

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन।

प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिंगम्।। 42।।

अन्वयः–पुरुषार्थहेतुकम्, इदम्, लिंगम्, निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन, प्रकृतेः, विभुत्वयोगात्, नटवत्, व्यवतिष्ठते।।

शब्दार्थः– पुरुषार्थहेतुकम् –पुरुषार्थ के लिए उत्पन्न, **इदम्** –यह, **लिंगम्** –सूक्ष्म शरीर, **निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन** –निमित्त और उसके कार्य स्थूल शरीर के सम्बन्ध के कारण, **प्रकृतेः** –प्रकृति की, **विभुत्वयोगात्** –विभुत्व शक्ति के संयोग से, **नटवत्** –नट के समान, **व्यवतिष्ठते** –व्यवहार करता है।।

अर्थः–पुरुषार्थ (पुरुष के भोग एवं मोक्ष) के लिए उत्पन्न यह सूक्ष्म शरीर, (धर्म अधर्म आदि) निमित्त और उसके कार्य स्थूल शरीर के सम्बन्ध के कारण प्रकृति की विभुत्व–शक्ति (नानारूप शक्ति) के संयोग से, नट के समान व्यवहार करता है।।

व्याख्या –यह सूक्ष्म शरीर पुरुषार्थ के कारण से धर्म और अधर्म आदि भावों के संस्कारों से नानाविध योनियों में जाकर नाना प्रकार के देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, हाथी, घोड़ा, कीट, पतंग, वृक्ष आदि स्थूल शरीर धारण करके उसी तरह व्यवहार करता है, जैसे नट नाना रूप धारण कर कभी राम, कभी परशुराम, कभी युधिष्ठिर, कभी कर्ण आदि बनकर नाना प्रकार के व्यवहार करता है और अनन्त शक्ति प्रकृति की महिमा से ही यह सूक्ष्म शरीर यह सब अद्भुत–अद्भुत लीला करता रहता है और इसमें पुरुषार्थ ही प्रयोजक है। इस प्रकार नानाविध योनियों में भोग भोगता हुआ यह सूक्ष्म लिंगशरीर भटकता रहता है। जब तक विवेक–ज्ञान नहीं होगा तब तक यह आवागमन इसका नहीं छूट सकता है, अतः विवेक–ज्ञान के लिए प्रयत्न करना चाहिए।।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. तन्मात्राएं कितनी है?
2. माता–पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर नित्य है या अनित्य?

7.5 सारांष

संसार के सभी प्राणी अज्ञान के कारण संसार–चक्र में बंधे पड़े है। अज्ञान का तात्पर्य प्रकृति और पुरुष का परस्पर अविवेक हैं उसी से तो बन्धन होता है। वैराग्य के आभास से धीरे–धीरे स्थूल

शरीर, लिंग शरीर आदि प्रकृति के परिणामों का लय और क्षय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति के जिन परिणामों के जालों में पुरुष उलझा रहता है, वे सभी परिणाम और उनसे होने वाली पुरूष की सभी उलझने वैराग्य के अभ्यास से धीरे–धीरे शान्त हो जाती है। अतः उसे विवेक ख्याति के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

7.6 कठिन शब्दावली

प्रधानपुरुषान्तरम् –प्रकृति एवं पुरुष के भेद का **पंचभ्यः** –पाँच तन्मात्र से

मातापितृजाः –माता–पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर **घोराः** –दुःखात्मक

निवर्तन्ते –विनष्ट होते हैं **असक्तम्** –अप्रतिहत गति वाला

लिंगम् –सूक्ष्म शरीर **स्थाण्वादिभ्यः** –ठूंठ आदि के

निराश्रयम् –आश्रय–हीन **व्यवतिष्ठते** –व्यवहार करता है

पुरुषार्थहेतुकम् –पुरुषार्थ के लिए उत्पन्न **विना** –बिना

नटवत् –नट के समान **इदम्** –यह

निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन –निमित्त और उसके कार्य स्थूल शरीर के सम्बन्ध के कारण

7.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रश्न –1

1. सूक्ष्म शरीर
2. विनष्ट

स्वयं आंकलन प्रश्न –2

1. पांच
2. अनित्य

7.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. सांख्यकारिका, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, बालकृष्ण त्रिपाठी, बी. 2/2, भदैनी, वाराणसी।
2. सांख्यकारिका, संस्कृत व्याख्याकार– म. म. श्री गुरुप्रसादशास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– आचार्य श्री सीतारामशास्त्री, प्रो. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
3. सांख्य तत्त्व प्रदीप, डॉ. अमल धारी सिंह, भारती विद्या प्रकाशन 1, यू.वी. बैंगलो रोड, दिल्ली–07।

7.9 अभ्यास प्रश्न

1. सांख्यकारिका के अनुसार प्रकृति और पुरुष के स्वरूप की व्याख्या करें।
2. सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।
3. प्रत्यय सृष्टि से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट करें।
4. लिंग शरीर की सत्ता में क्या प्रमाण है? लिंग शरीर के स्वरूप और स्वभाव का वर्णन करें।
5. 'पंच विपर्ययभेदा .... तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः' की व्याख्या करें।

अष्टम् इकाई

प्रत्यय सृष्टि

संरचना

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3प्रत्यय सृष्टि

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 1

8.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (43 से 48 कारिका तक)

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 2

8.5 सारांष

8.6 कठिन शब्दावली

8.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

8.8 अनुषंसित ग्रन्थ

8.9 अभ्यास प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

देव सृष्टि प्रायः सत्व गुण प्रधान होती है और उर्ध्व लोकों में रहा करती है। तिर्यक तमोगुण प्रधान होती है। यह निम्न वर्ग की सृष्टि है। माध्यम दर्जे की भूलोक में रहने वाली जो मानव सृष्टि होती है, वह रजोगुण प्रधान होती है। इस सृष्टि के भीतर एक–एक वृद्ध पुरुष के साथ एक–एक लिंग शरीर सदा सम्बद्ध ही रहता है। जब तक पुरुष को उस लिंग देह से छुटकारा नहीं मिलता तब तक उसे जरा, मृत्यु, जन्म व्याधि, विरह, दारिद्रय आदि दुःखों को भोगना ही पड़ता है। महतत्त्व से लेकर विशेषभूत सृष्टि तक की वह सारी प्रकृति ही की सृष्टि होती है। प्रकृति ही इन तत्त्वों के रूप में परिवर्तित होती हुई परिणाम के द्वारा इनकी सृष्टि करती है ईश्वर या ब्रह्म इस सृष्टि को नहीं करता है। अतः सृष्टि ईश्वर की ब्रह्म की प्रेरणा से न होकर प्रकृति की अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से ही होती है। प्रकृति का प्रवर्तक एक–मात्र पुरुषार्थ ही होता है। उसी की सिद्धि के लिये प्रकृति स्वयमेव प्रवृत्त होती रहती है। जिस तरह से संसार में कई लोग एकमात्र औत्सुक्य शान्ति के लिए अनेक कार्यों में प्रवृत्त होते रहते हैं उसी तरह से पुरुष को मुक्त करने के लिये मूल प्रकृति प्रवृत्त होती है। जिस तरह से कोई नर्तकी रंगभूमि में अपने नृत्य और अभिनय का प्रदर्शन समाप्त करके वहां से चली जाती है, उसी तरह से पुरुष को अपना वास्तविक स्वरूप दिखा कर प्रकृति भी उससे निवृत्त हो जाती है।

8.2 उद्देश्य

- निर्गुण पुरुष
- त्रिगुणमयी प्रकृति
- भौतिक सृष्टि उपदेश

8.3 प्रत्यय सृष्टि

विपर्यय – विपर्यय अर्थात् मिथ्या–ज्ञान के पाँच प्रकार होते हैं, उनके नाम हैं– 1. तमस् 2. मोह, 3. महामोह, 4. तमिस्त्र और 5. अन्ध तामिस्त्र। योग दर्शन में इन्हें पाँच क्लेश कहा गया है। उनके काम ये हैं। 1. अविद्या, 2. अस्मिता, 3. राग, 4. द्वेष और 5. अभिनिवेश। योग सूत्रों में 1. अविद्या का लक्षण यह कहा गया है–''अनित्याशुचि–दुःखनात्मसु नित्य–शुचि–सुखात्मख्यातिरविद्या'' इसका तात्पर्य यह है कि अविद्या उस मिथ्या–ज्ञान को कहते है जिसके प्रभाव से प्राणी अनित्य पदार्थों का नित्य, अपवित्र भावों को पवित्र, दुःखात्मक भावों को सुखात्मक और अनात्मस्वरूप वस्तुओं को आत्मा समझ बैठता है। शरीर आत्मा आदि नहीं है, परन्तु प्राणी को आत्मा समझता है। यह अविद्या है। सांसारिक विषय–सुख और स्वर्ग–सुख भी अन्ततोगत्वा वस्तुतः दुःखात्मक ही हैं परन्तु प्राणी इन्हें सुखात्मक समझ बैठता है। शरीर वस्तुतः अपवित्र होता है, परन्तु प्राणी इस पवित्र मानते हैं। संसार अनित्य है परन्तु अविद्या के कारण प्राणी इसे नित्य समझते रहते हैं। इस प्रकार के समस्त असत् विश्वास अविद्या में गिने जाते हैं। इन्हीं को सांख्य शास्त्र ''तमस्'' कहा गया है। 2. अस्मिता का लक्षण– ''दृग्दर्शन शक्योरेकात्मतेवस्मिता'' दृक–शक्ति अर्थात् चेतना–शक्ति और दर्शन–शक्ति अर्थात् विषय प्रकार का साधन बनने वाली बुद्धि की वृत्ति वस्तुतः दो भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं, इनको प्रायः एक रूप ही समझा जाता है। शास्त्र में ''मोह'' नाम दिया गया है। 3. राग का लक्षण – ''सुखानुशयी रागः''। किसी विषय को सुखात्मक समझते हुये उसके साथ रखी जाने वाली आसक्ति को राग कहा जाता है। राग को ही सांख्य शास्त्र में ''महामोह'' नाम दिया गया है। 4. द्वेष का लक्षण– ''दुःखानुशयी द्वेषः''। किसी वस्तु को दुःखात्मक समझने से उसके प्रति रहने वाली घृणा को द्वेष को ही सांख्य शास्त्र में ''तामिस्त्र'' नाम दिया गया है। 5. अभिनिवेश का लक्षण– ''स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः''। पिछले चार अविद्या आदि क्लेशों के अनुसार ही पक्का विश्वास रखना अभिनिवेश कहलाता है। यह अभिनिवेश प्राणी को जन्म से ही स्वभावतः चलता रहता है। तमस् के आठ प्रकार बनते हैं। अव्यक्त, महतत्त्व, अंहकार और पाँच तन्मात्र तत्त्व तो वस्तुतः आत्मस्वरूप नहीं होते हैं, परन्तु अविद्या के कारण प्राणी इन्हीं आठ को आत्मस्वरूप समझ बैठता है। इस तरह से तमस् आठ प्रकार का बन जाता है। मोह के भी आठ प्रकार बन जाते हैं। देवताओं के पास अणिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्य या आठ प्रकार की सिद्धियाँ है। उन आठों के साथ उन्हें अस्मिता रूप अभिमान में रहता है। उससे वे अणिमा आदि सिद्धियों के वैभव को ही अपना शाश्वत स्वरूप समझते हुये आठ प्रकार के मोह के पात्र बनते हैं। महामोह दस प्रकार का होता है। इन्द्रियों के पाँच

विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, दिव्य और आदिव्य इन दो–दो प्रकारों के होते हुये दस बन जाते हैं। वह दस प्रकार का महामोह होता है। आसक्ति रूप राग होता है। वह दस प्रकार का महामोह होता है। आसक्ति के दस विषयों के सम्बन्ध से महामोह दस तरह माना जाता है। शब्द आदि इसके विषय होते है। अतः इन्हें रंजनीय कहा गया है। अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ इन रंजनीय विषयों की प्राप्ति के उपाय बनती हैं। एक विषय और दूसरे विषय का तथा एक सिद्धि और दूसरी सिद्धि का परस्पर विरोध होता है। अतः ये अट्ठारह एक–दूसरे के मार्ग में बाधा डालने के कारण अट्ठारहों द्वेष के पात्र भी बन जाते हैं। इनके सम्बन्ध से द्वेष अर्थात् तामिस्त्र अट्ठारह प्रकार का बनता है। देवगण आठ प्रकार की अणिमा आदि सिद्धियों को प्रकार उसके द्वारा इस प्रकार के विषयों का उपयोग करते हुये भी इस शंका से घिरे ही रहते हैं कि कहीं असुरों के द्वारा इन अट्ठारह का अपहरण न किया जाये। इस तरह से इन अट्ठारहों के प्रति विनाश की चिन्ता और भय रहता है। ये इन्हें सदैव अपने हाथ में ही रखना चाहते हुये इसी बात की चिन्ता के कारण अट्ठारह प्रकार के अभिनिवेश के पात्र बने ही रहते है। यह उनका अट्ठारह प्रकार का अन्धतामिस्त्र नामक विपर्यय होता है।

अशक्ति –इन्द्रियाँ ग्यारह होती है। अतः इन्द्रियों की विकलता भी ग्यारह प्रकार की होती है। उससे इन्द्रियों के द्वार से बुद्धि में ग्यारह प्रकार की अशक्तियाँ होती है। बुद्धि में नौ प्रकार की तुष्टियों और आठ प्रकार की सिद्धियों का होना सम्भव होता है, परन्तु साथ ही उनका न होना सम्भव होता है। इस तरह से आठ सिद्धियों और नौ तुष्टियों की विकलता के कारण बुद्धि की अपनी अशक्तियाँ सत्रह होती है। किसी एक की बुद्धि के भीतर इन सभी अशक्तियों का होना आवश्यक नहीं है। परन्तु किसी में कोई और किसी में कोई अशक्तियाँ हुआ ही करती है। यह सारी अशक्तियाँ 11 + 17 = 28 अट्ठाईस बन जाती है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. भाव सर्ग कितने हैं?
2. मिथ्या ज्ञान क्या है?

8.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (43 से 48 कारिका तक)

सांसिद्धिकाष्च भावाः प्राकृतिका, वैकृताष्च धर्माद्याः।

दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणष्च कललाद्याः।। 43।।

अन्वयः–प्राकृतिकाः, सांसिद्धिकाः, च, वैकृताः, च, धर्माद्याः, भावाः, करणाश्रयिणः, च, कललाद्याः, कार्याश्रयिणः, दृष्टाः।।

शब्दार्थः– प्राकृतिकाः –प्रकृति अर्थात् स्वभाव से ही सिद्ध, **सांसिद्धिकाः** – सांसिद्धिक, **च** –तथा, **वैकृताः** –उपाय से सिद्ध वैकृत, **धर्माद्याः** –धर्म, अधर्म आदि, **भावाः** –भाव, **करणाश्रयिणः** –बुद्धि के आश्रय से रहने वाले, **च** –एवं, **कललाद्याः** –कलल आदि, **कार्याश्रयिणः** –कार्य अर्थात् शरीर के आश्रय से रहने वाले, **दृष्टाः** –देखे गए हैं।।

अर्थः—प्रकृति अर्थात् स्वभाव से ही सिद्ध 'सांसिद्धिक', तथा वैकृत अर्थात् 'असांसिद्धिक' धर्म, अधर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि भाव बुद्धि के आश्रय से रहने वाले एवं कलल आदि भाव कार्य अर्थात् शरीर के आश्रय से रहने वाले हैं।।

व्याख्या —धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान आदि आठ भाव हैं। वे दो प्रकार के हैं— 1. सांसिद्धिक—स्वाभाविक और 2. वैकृत अर्थात् अस्वाभाविक। उपायविशेष से सिद्ध होने वाले ये भाव करण – बुद्धि में आश्रित रहते हैं और इन भावों से उत्पन्न होने वाले शरीरों में आश्रित होते हैं; क्योंकि इन भावों से गर्भ में शरीर की कलल, बुद्बुद, मांसपिण्ड, हाथ—पैर आदि ये युक्त पूर्ण अंग—प्रत्यंगों का ढांचा— आदि नाना दशा होती है। जन्म के बाद, बाल्य, कौमार, युवा, वृद्ध आदि दशा भी होती है। ये धर्माधर्म आदि निमित्तभूत भावों से ही होती है, अतः ये दशाएं 'नैमित्तिक' कहलाती है। इन्हीं के द्वारा यह लिंगशरीर स्थूल देह धारण करके नट की तरह कभी देव, कभी मनुष्य, कभी राजा, कभी रंक, कभी पशु—पक्षी आदि बनता रहता है। इनमें सांसिद्धिक धर्म, ज्ञान आदि— कपिल महामुनि आदि के हैं; क्योंकि वे सृष्टि के आदि में ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि से युक्त ही प्रादुर्भूत हुए थे। जन्म के अनन्तर किसी उपायविशेष देवाराधन आदि से जो धर्म, ज्ञान आदि उत्पन्न हों, वे 'वैकृत' कहलाते हैं। जैसे वाल्मीकि मुनि को गुरुपदेश के बाद राम नाम जपने से ही ज्ञान—वैराग्य आदि का प्रादुर्भाव हुआ था। अतः उनके भाव वैकृत – उपायों से सिद्ध किए गए— कहलाते हैं। इसी प्रकार भावों के विषय में भी जानना चाहिए। जैसे राक्षस आदि के अधर्म आदि स्वाभाविक हैं, सर्प आदि के अज्ञान आदि स्वाभाविक भाव हैं, इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।।

धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्तादभ्वत्यधर्मेण।

ज्ञानेन चाऽपवर्गो, विपर्ययादिष्यते बन्धः।। 44।।

अन्वयः—धर्मेण, ऊर्ध्वम्, गमनम्, अधर्मेण, अधस्तात्, गमनम्, भवति, ज्ञानेन, अपवर्गः, विपर्ययात्, बन्धः, इष्यते।।

शब्दार्थः— **धर्मेण** —धर्म से, **ऊर्ध्वम्** – ऊपर के लोकों में, **गमनम्** —जाना, **अधर्मेण** —अधर्म से, **अधस्तात्** —नीचे के लोकों में, **गमनम्** —जाना, **भवति** —होता है, **ज्ञानेन** —ज्ञान से, **अपवर्गः** —मोक्ष, **विपर्ययात्** —उससे विपरीत अर्थात अज्ञान से, **बन्धः** —बन्धन, **इष्यते** —कहा गया है।।

अर्थः—धर्म से ऊपर के लोकों में तथा अधर्म से नीचे के लोकों में जाना होता है। ज्ञान से मोक्ष तथा उसके विपरीत अर्थात् अज्ञान से बन्धन कहा गया है।।

व्याख्या —प्राणियों का धर्म से स्वर्ग आदि ऊँचे लोकों में गमन होता है और अधर्म से अधोगति होती है और ज्ञान से अपवर्ग होता है और अज्ञान से बन्ध होता है। प्रकृति और उसके कार्यों से पुरुष का ऐक्य समझना 'अज्ञान' है एवं प्रकृति और उसके कार्य—बुद्धि आदि से पुरुष को पृथक् समझना 'ज्ञान' है। 71 चतुर्युगों का एक मन्वन्तर अर्थात् 306720000 वर्षों का एक मन्वन्तर होता है। ऐसे एक लाख मन्वन्तर तक प्रकृतिचिन्तक लोग प्रकृति में ही लीन होकर रहते हैं। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए।।

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्।

ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः।। 45।।

अन्वयः—वैराग्यात्, प्रकृतिलयः, राजसात्, रागात्, संसारः, ऐश्वर्यात्, अविघातः, विपर्ययात्, तद्विपर्यासः, भवति।।

शब्दार्थः— वैराग्यात् —वैराग्य से, **प्रकृतिलयः** —प्रकृति में लय, **राजसात्** —रजोमय, **रागात्** —राग से, **संसारः** —एक जन्म से दूसरे जन्म में संसरण, **ऐष्वर्यात्** —ऐश्वर्य से, **अविघातः** —सफलता, **विपर्ययात्** —ऐश्वर्य के अभाव से, **तद्विपर्यासः** —उसका हनन, **भवति** —होता है।।

अर्थः—वैराग्य से प्रकृति में लय, रजोमय राग से एक जन्म से दूसरे जन्म में संसरण, ऐश्वर्य से सफलता तथा ऐश्वर्य के अभाव से उसका हनन होता है।।

व्याख्या —पुरुष के सच्चे तत्त्व को नहीं जानने वाले विवेक—ज्ञान—शून्य पुरुष को यदि केवल वैराग्य होता तो वह अपनी उपासना के अनुसार प्रकृति में या प्रकृति के कार्य— बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, भूत आदि में ही कुछ काल के लिए लीन होगा; पर उन सबका मोक्ष नहीं हो सकता है। अतः उनको पुनः संसार के दुःखों का अनुभव करने के लिए नाना शरीर धारण करना ही पड़ता है और वैराग्य से ही संसार होता है; क्योंकि राग तो रजोगुण का कार्य है, अतः वह राग दुःख का ही देने वाला है— अतः दुःख का हेतु, संसाररूपी बन्धन— उनका छूटने नहीं पाता है और ऐश्वर्य से इच्छाओं की सफलता होती है। जो वह योगी चाहता है, वही हो जाता है और ईश्वर की तरह ही उसकी भी इच्छा का कभी कहीं भी विघात नहीं हो सकता है और अनैश्वर्य से सर्वत्र ही इच्छा का विघात ही होता है और उसके कार्यों में असफलता विघ्न आदि होते ही रहते हैं।।

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाषक्तितुष्टिसिद्धयाख्यः।

गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पंचाषत्।। 46।।

अन्वयः—विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धयाख्यः, एषः, प्रत्ययसर्गः, गुणवैषम्य—विमर्दात्, तस्य, भेदाः, तु पंचाशत्।।

शब्दार्थः— विपर्ययाषक्तिष्टिसिद्धयाख्यः —विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नामवाला, **एषः** —यह गण, **प्रत्ययसर्गः** —बुद्धि का परिणाम, **गुणवैषम्यविमर्दात्** —गुणों की न्यूनाधिकता से पारस्परिक अभिभव होने के कारण, **तस्य** —उसके, **भेदाः** —भेद, **तु** —तो, **पंचाषत्** —पचास।।

अर्थः—विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नामवाला यह गण बुद्धि का परिणाम है। गुणों की न्यूनाधिकता से पारस्परिक अभिभव होने के कारण इस प्रत्यय सर्ग के भेद तो पचास होते हैं।।

व्याख्या —धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, अनुराग, राग, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य— ये आठ बुद्धि के धर्म ही भाव कहलाते हैं। अतः यह बुद्धि की ही सृष्टि है। इसी प्रकार 1. विपर्यय, 2. अशक्ति, 3. तुष्टि, 4. सिद्धि— ये भी बुद्धि के ही धर्म हैं और ये धर्मादि आठ में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं; अतः ये भी बुद्धि की ही सृष्टि हैं; क्योंकि विपर्यय का अज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है, सिद्धि का ज्ञान में अन्तर्भाव होता है, तुष्टि में धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य का अन्तर्भाव होता है, अशक्ति में अनैश्वर्य आदि का अन्तर्भाव हो जाता है। अतः अविपर्यय आदि और धर्म—अधर्म आदि— ये सब बुद्धि की ही सृष्टि हैं अर्थात् ये सब बुद्धि के ही धर्म है। इस बुद्धि के सर्ग के सत्त्व, रज, तम गुणों के कम—ज्यादा होने से तथा एक के प्रबल और दूसरे के निर्बल होने से पचास भेद होते हैं। ये पचास भेद आगे की कारिका में स्पष्ट कहे जाएंगे।

यह तीनों गुणों का उपमर्द– निर्बलता, सबलता, कोमलता, धृष्टता आदि के भेद से परस्पर संघर्षरूप से होता है। इन्हीं भेदों का तथा इनके उपभेदों का वर्णन ही चित्ररूप से पुरी के श्रीजगन्नाथ जी के मन्दिर आदि में किया गया है। जिनमें एक प्रबल गुण को पुरुषरूप देकर बाकी के दो गुणों को कोमल स्त्रीरूप देकर या दो को पुरुषरूप देकर बाकी एक को स्त्रीरूप दिया गया है। यही गुणों का उपमर्द वहां चित्रों में लौकिक रूप से दिखाया गया है। इसी में सांख्य शास्त्र की आठ सिद्धियों का रहस्यभूत मार्ग दिखाया गया है, जिसको ठीक से नहीं समझने वाले ही उन्हें अश्लील कहकर नाक सिकोड़ते हैं। वास्तव में यह सृष्टि का रहस्य और सिद्धियों का गुप्त मार्ग ही लोकोपकारार्थ सांकेतिक रूप से अंकित किया गया है। अतः यह बहुत सी गूढ़ निधि है। इसके रहस्य को जानने वाले अब भारतवर्ष में ही नहीं; किन्तु सारे संसार में भी केवल एक या दो ही व्यक्ति हो सकते हैं। ये चित्र तो सर्वतोभावेन गूढ उपनिषद् विद्या के ही हैं। अब उनके जानकार ही नही रह गए हैं। वास्तव में ये जगन्नाथ जी के मन्दिर के चित्र अध्यात्मविद्या के ज्ञाताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।।

पंच विपर्ययभेदा भवन्त्यषक्तिष्च करणवैकल्यात्।

अष्टाविंषतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः।। 47।।

अन्वयः–पंच, विपर्ययभेदाः, भवन्ति, करणवैकल्यात्, अशक्ति, अष्टाविंशतिभेदा, तुष्टिः, नवधा, सिद्धिः, अष्टधा।।

शब्दार्थः– पंच –पाँच, **विपर्ययभेदाः –**विपर्यय के भेद, **भवन्ति –**होते हैं, **करण वैकल्यात् –**करणों के दोष के कारण, **अशक्तिः –**अशक्ति, **अष्टाविंषतिभेदाः –**अट्ठाइस प्रकार की, **तुष्टिः –**तुष्टि, **नवधा –**नव प्रकार की।।

अर्थः–पाँच 'विपर्यय' के भेद होते हैं। करणों के दोष के कारण अशक्ति, 'तुष्टि' नव प्रकार की, तथा 'सिद्धि' आठ प्रकार की होती है।।

व्याख्या –पूर्व में जो बुद्धि की सृष्टि पचास प्रकार की कही गई है, वे पचास भेद ये हैं– पाँच विपर्यय के भेद। बुद्धि, अहंकार, मन और दश चक्षुरादि इन्द्रिय– इन तेरह करणों की विकलता से अट्ठाईस अशक्ति के भेद। नौ तुष्टि के भेद, आठ सिद्धियों के भेद– ये मिलकर बुद्धि की सृष्टि के पचास भेद होते हैं। जिनमें विपर्यय के पाँच भेद ये हैं– 1. अविद्या या तम, 2. अस्मिता या मोह, 3. राग या महामोह, 4. द्वेष या तामिस्त्र, 5. अभिनिवेश या अन्धतामिस्त्र।

1. अविद्या –अनित्य, मलिन, दुःखप्रद तथा आत्मभिन्न शरीर आदि को नित्य, मनोहर, सुखप्रद और आत्मा आदि समझना ही अविद्या और अज्ञान या तम कहलाता है।

2. अस्मिता –अहंकार– मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ इत्यादि अभिमान। बुद्धि के धर्मों को अपने में समझना। यह अज्ञान जन्य अभिमान–अपने को सुखी–दुःखी आदि मानना। इसे मोह भी कहते हैं।

3. राग –सुख आदि की इच्छा और सुख आदि के साधनों की इच्छा। इसे महामोह भी कहते हैं।

4. द्वेष –दुःख और उसके साधनों से छुटकारा पाने की इच्छा, उन्हें छोड़ने की इच्छा और उनसे क्रोध और अरुचि। इसे तामिस्त्र भी कहते हैं।

5. अभिनिवेश –मरण, शत्रु आदि से भय। अनेक जन्मों से हृदय में दृढ़ जमा हुआ मृत्यु तथा शत्रु आदि का त्रास। यह अन्धतामिस्त्र कहलाता है। ये पाँच विपर्यय, भ्रम, अज्ञान, अविद्या के भेद हैं।

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च, दशविधो महामोहः।

तामिस्त्रोऽष्टादषधा, तथा भवन्त्यन्धतामिस्रः।। 48।।

अन्वयः–तमसः, मोहस्य, च, भेदः, अष्टविधः, महामोहः, दशविधः, तामिस्रः, तथा, अन्धतामिस्रः, अष्टादशधा, भवन्ति।।

शब्दार्थः– **तमसः** –तमस् अर्थात् अविद्या का, **मोहस्य** –मोह का, **भेदः** –भेद, **अष्टविधः** –आठ प्रकार, **महामोहः** –महामोह, **दशविधः** –दश प्रकार, **तामिस्रः** –तामिस्र, **तथा** –और, **अन्धतामिस्रः** –अन्धतामिस्र, **अष्टादषधा** –अठारह प्रकार, **भवन्ति** –होते हैं।।

अर्थः–तमस् और मोह का भेद आठ–आठ प्रकार, महामोह दस प्रकार, तामिस और अन्धतामिस अट्ठारह–अट्ठारह प्रकार होते हैं।।

व्याख्या –पूर्वोक्त पाँच विपर्ययों के अवान्तर भेद और भी हैं, जिससे यह विपर्यय भ्रम 62 प्रकार का होता है। यथा–

1. तम –अव्यक्त, महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्र– इन आठों में जो आत्मा पुरुष से भिन्न हैं, आत्मबुद्धि करना ही तम है। यह तम आठ प्रकार का है; क्योंकि इसके विषय अव्यक्त, महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्र– ये आठ हैं, अतः इनके विषय का भ्रम भी आठ प्रकार का हो जाता है।

2. मोह –मोह भी आठ प्रकार का है; क्योंकि देवता लोग अणिमा, महिमा, लघिमा आदि आठ अलौकिक सिद्धियों को पाकर अपने को अजर–अमर समझते हैं और अपने ऐश्वर्य को भी सदा बना रहने वाला अविनाशी समझते हैं; पर यह झूठा अभिमान है, अतः यह अस्मिता ही है। इस अस्मिता के विषय आठ सिद्धियाँ हैं; अतः यह अस्मिता भी आठ प्रकार का है।

3. महामोह –राग– शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध– ये पाँच विषय हैं। ये स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दस प्रकार के होते हैं। इन दश प्रकार के दिव्य और साधारण शब्द आदि आकर्षक विषयों में आसक्ति ही राग और महामोह कहलाती है। इस राग के विषय दिव्य शब्द आदि दस प्रकार हैं, अतः विषयभेद से यह महामोह भी दश प्रकार का होता है।

4. तामिस्र –द्वेष– यह अट्ठारह प्रकार का है, क्योंकि हृदय को आह्वाद और आनन्द देने वाले आकर्षक मधुर दिव्य शब्द और अदिव्य आदि साक्षात् सुख देने वाले दस विषय और उन दिव्य शब्द आदि दस विषयों के उपाय आठ प्रकार की अणिमा आदि सिद्धियाँ हैं। इन सभी में द्वेष होना तामिस्र है। क्योंकि दिव्य स्पर्श के समय यदि दिव्य शब्द भी सुनाई देगा, तो वह भी दिव्य स्पर्शसुख के अनुभवरूपी आनन्द में विघ्न और व्यवधान उपस्थित करने वाला होने से द्वेष्य ही होता है। अतः उन दश विषयों में भी चालनीन्याय से एक की उपस्थिति में दूसरे की उपस्थिति होने से द्वेष होना स्वाभाविक है। इसी

प्रकार दिव्य स्पर्शसुख के अनुभव के समय दिव्य शब्द की उपायभूत सिद्धि में भी द्वेष होता है। अतः शब्द आदि दस विषय और उनकी अचूक उपाय आठ सिद्धियाँ– इनमें होने वाला द्वेष भी अट्ठारह प्रकार का हो जाता है; क्योंकि विषयों के अट्ठारह होने से उनका द्वेष भी अट्ठारह प्रकार का हो जाता है।

5. अन्धतामिस्त्र –यह अभिनिवेश भी अट्ठारह प्रकार का है; क्योंकि इसके विषय दस शब्द आदि और उन विषयों की प्राप्ति के उपाय अष्टविध ऐश्वर्य– इन 118 के विषय का भय भी विषयभेद से 18 प्रकार का होता है। जैसे– देवता लोग आठ सिद्धियों से युक्त दिव्य ऐश्वर्य पाकर उसकी सहायता से दिव्य और अदिव्य शब्द, स्पर्श आदि 10 प्रकार के विषयों के सुखों को भोगते हुए अपने मन में डरते रहते हैं कि कहीं हमारे शत्रु दैत्य, दानव, असुर आदि हमारे इन 8 प्रकार की सिद्धियों को, हमारे 10 प्रकार के इन विषयों को हमसे छीन न लें इत्यादि। यह भय अविद्या और अज्ञान से ही होता है। अतः यह अभिनिवेश भी अपने विषयों के 18 प्रकार के होने से 18 प्रकार का है।

इस प्रकार पाँच प्रकार के विपर्यय के अवान्तर भेद 62 प्रकार के होते हैं। जैसे–

8 तम।

8 मोह।

10 महामोह।

18 तामिस्र।

18 अन्धतामिस्र।

इस प्रकार भ्रम के 62 भेद हुए।।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. विपर्यय के कितने भेद हैं?
2. तम और मोह के कितने भेद हैं?
3. तुष्टि के कितने भेद हैं?

8.5 सारांष

प्रत्यय सर्ग का अर्थभाव सर्ग है विपर्यय, अशक्ति तुष्टि और सिद्धि ये चार भाव सर्ग हैं। मिथ्या ज्ञान विपर्यय है प्रयोजन सिद्ध होने में असमर्थता अशक्ति हैं। उपयोगी प्रयत्न से विरत होना तुष्टि है। इष्ट की प्राप्ति सिद्धि है विपर्यय के पांच भेद, करणों के दोष के कारण अशक्ति के अट्ठाइस भेद, तुष्टि के नौ भेद तथा सिद्धि के आठ भेद होते हैं।

8.6 कठिन शब्दावली

सांसिद्धिकाः – सांसिद्धिक

अपवर्गः –मोक्ष

विपर्ययात् –उससे विपरीत अर्थात अज्ञान से

ऊर्ध्वम् – ऊपर के लोकों में

रागात् –राग से

तद्विपर्यासः –उसका हनन

पंचाषत् –पचास

विपर्ययभेदाः –विपर्यय के भेद

अष्टाविंषतिभेदाः –अट्ठाइस प्रकार की

अष्टविधः –आठ प्रकार

तामिस्रः –तामिस्र

नवधा –नव प्रकार की

विपर्ययाषक्तिष्टिसिद्ध्याख्यः –विपर्ययअशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नामवाला

8.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. चार
2. विपर्यय

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. पांच
2. आठ–आठ
3. नौ

8.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. सांख्यकारिका, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, बालकृष्ण त्रिपाठी, बी. 2/2, भदैनी, वाराणसी।
2. सांख्यकारिका, संस्कृत व्याख्याकार– म. म. श्री गुरुप्रसादशास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– आचार्य श्री सीतारामशास्त्री, प्रो. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
3. सांख्य तत्त्व प्रदीप, डॉ. अमल धारी सिंह, भारती विद्या प्रकाशन 1, यू.वी. बैंगलो रोड, दिल्ली–07।

8.9 अभ्यास प्रश्न

1. सांख्यकारिका के अनुसार विपर्यय के प्रकारों का वर्णन करें।
2. सांख्य में वर्णित सिद्धियों और तुष्टियों पर प्रकाश डालें।
3. ईश्वर कृत सांख्यकारिका के अनुसार भौतिक सृष्टि का सविस्तार वर्णन करें।
4. प्रकृति के स्वभाव का और उसकी प्रवृत्ति के कारण का वर्णन करें।
5. 'रंगस्य दर्शयित्वा .... विनिवर्तते प्रकृतिः'। व्याख्या सहित वर्णन करें।

नवम् इकाई

तुष्टि एवं सिद्धि विवेचन

संरचना

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 तुष्टि एवं सिद्धि विवेचन

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 1

9.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (49 से 54 कारिका तक)

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 2

9.5 सारांष

9.6 कठिन शब्दावली

9.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

9.8 अनुषंसित ग्रन्थ

9.9 अभ्यास प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

तुष्टि तथा सिद्धि दोनों बौद्धिक परिणाम हैं। तुष्टि तथा सिद्धि मिलकर सत्रह होते हैं। अतः सत्रह प्रकार के बौद्धिक विकार होते हैं। यही सप्तदश बुद्धिवध हैं। तुष्टि तथा सिद्धि के आधार पर इनका नामकरण नहीं किया जा सकता। ये अन्तःकरण की अस्थिरता के सूचक हैं। तुष्टियों एवं सिद्धियों के आधार पर सत्रहबुद्धिबधों का परिगणन नहीं किया जा सकता। प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य चार आध्यात्मिक तथा विषयों के शान्त होने से पांच बाह्य नौ तुष्टियां मानी गयी हैं।

9.2 उद्देश्य

- नव तुष्टियों का उपदेश
- अष्ट सिद्धियों का उपदेश
- भौतिक सृष्टि उपदेश

9.3 तुष्टि एवं सिद्धि विवेचन

तुष्टि विवेचन –मोक्ष के विषय में चार प्रकार के उपदेशों के सुनने से प्राणियों की वृद्धि में चार प्रकार की आध्यात्मिक तुष्टियों का आविर्भाव होता है। 1. किसी को ऐसा उपदेश मिलता है कि विवेक ख्याति प्रकृति का ही एक विशेष परिणाम होता है। उसे प्रकृति स्वयमेव प्रकट कर देती है। अतः उसके लिये यत्न और चिन्ता की कोई भी आवश्यकता नहीं। ऐसा प्राणी इस विश्वास से ही सन्तुष्ट होकर कितने ही जन्मों तक अविवेक ही के भीतर पड़ा रहता है। इस तुष्टि का नाम प्रकृति होता है। इसे

''अम्भस'' भी कहते हैं। 2. किन्हीं प्राणियों को यह विश्वास बना रहता है कि केवल प्रकृति से ही विवेक ख्याति नहीं होती है। वह तो वैराग्य और संन्यास से ही हुआ करती है। अतः उसके लिये ध्यान, धारणा, समाधि आदि के अभ्यास की आवश्यकता नहीं। वे प्राणी इसी उपदेश पर सन्तुष्ट होकर रहते है और कई जन्मों को इसी तरह गंवाते हैं। पिछली शताब्दी के अधिकांश साधु ऐसे ही हुआ करते थे। इस तुष्टि को ''उपादान'' नाम दिया गया है। इसी का दूसरा ''सलिल'' भी होता है। 3. तीसरी तुष्टि को ''काल'' कहते हैं इस तुष्टि के प्रभाव से प्रभावित प्राणी इस पर विश्वास करता रहता है कि विवेक ख्याति अपने समय पर होती है, अतः उसकी प्राप्ति के लिये उतावलापन छोड़ देना चाहिये। इस तुष्टि के प्रभाव से प्राणी योग के अभ्यास के प्रति प्रवृत्त नहीं होता है। इसका दूसरा नाम ''मेघ'' भी होता है। 4. कोई प्राणी ऐसा विश्वास कर बैठते हैं कि विवेक ख्याति भाग्य से ही होती है। जब भाग्य परिपक्व हो जाता है। अतः उसके लिये उत्कण्ठित होते रहना व्यर्थ है। यह भाग्य नाम की तुष्टि भी प्राणी को चिरकाल तक अविवेक में ही उलझायें रखती है। इस तुष्टि का दूसरा परिभाषिक नाम ''वृष्ट'' होता है। ये चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ होती है।

बाह्य तुष्टियाँ पाँच होती हैं। उनका स्वरूप विषयों का उपरम होता हैं। विषयों को उपरम से छुटकारा होता हैं। पाँच प्रकार की भावनाओं से विषय छूट जाते हैं। अतः विषयोरम रूपी तुष्टियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। 1. विषयों के अर्जन के सभी उपाय दुःखमय ही हुआ करते हैं इस विचार के प्रभाव से जो विषयों का उपरम होता है, वह पहली बाह्यतुष्टि होती हैं इसका परिभाषिक नाम ''पार'' होता है। 2. अर्जित विषयों के भी विनाश के बहुतेरे कारण होते हैं। अतः उनकी रक्षा करना भी अतीव दुःखमय ही होता है, इस विचार से जो विषयोपरम होता है वह दूसरी बाह्य तुष्टि होती है। इसका शास्त्रीय नाम ''सुपार'' होता है। 3. बड़े यत्नों से कमाये हुये और सुरक्षित रखे हुये विषयों का भी क्षय भोग से ही जाता है। उस क्षय की भावना से जो विषय–निवृत्ति हो जाती है, वह तीसरी बाह्य तुष्टि होती है। इसे ''पारापार'' नाम दिया गया है। 4. कभी प्राणी को ऐसे विचार का उदय हो जाता है कि विषयों के भोग से उनके प्रति वासना उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है, शान्त नहीं होती हैं। वह वासना विषय सेवन करने वाले प्राणी को सदा दुःख ही देता है। इस विचार के उदय से जो विषय–निवृत्ति हुआ करती है, वह चौथी बाह्य तुष्टि होती है। इस तुष्टि का परिभाषिक नाम ''अनुत्तमाम्भः'' होता है। 5. किसी–किसी प्राणी को कभी–कभी यह विचार उठता है कि विषयभोग जीव हिंसा या जीव पीड़न के बिना होता ही नहीं। इस हिंसादोष के विचार से जो विषयों का उपरम उसे हुआ करता है, वह पाँचवी बाह्य तुष्टि होती है। इस तुष्टि का शास्त्रीय नाम ''उत्तमाम्भः'' होता है इस तरह से तुष्टियाँ 4+5=9 नौः होती है।

सिद्धि विवेचन –सिद्धियाँ दो प्रकार की होती हैं 1. गौण और 2. मुख्य। तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति तीन प्रकार की मुख्य सिद्धियाँ होती हैं। ये सिद्धियाँ उपेय रूप सिद्धियाँ होती हैं उपायरूप सिद्धियों से इन तीन की प्राप्ति हुआ करती है। उन उपायरूप सिद्धियों में एक सिद्धि शास्त्र अध्ययन रूपिणी सिद्धि होती है। यह सिद्धि केवल उपायरूप होती है। आगे की चार सिद्धियाँ उत्तरोत्तर सिद्धियों की अपेक्षा से उपायरूप होती हैं पूर्व–पूर्व सिद्धियों की अपेक्षा से उपेय रूप भी होती हैं। इन पाँच

सिद्धियों का यह स्वरूप होता है– 1. गुरु के मुख से विधि–पूर्वक शास्त्र के शब्दों की प्राप्ति को ''तार'' नामक सिद्धि कहते है। यही सिद्धि उपाय सिद्धि होती है यह गौण सिद्धियों में सबसे पहली सिद्धि होती है। 2. शब्दों को ग्रहण करने से उनके अर्थ का जो बोध साधक को होता है, वह ''सुतार'' नाम दूसरी गौण सिद्धि होती है। यह तार सिद्धि की उपेय होती है और तृतीय सिद्धि की उपाय भी होती है। 3. अर्थ ज्ञान के अनन्तर उसके विषय में संशय आदि की निवृत्ति के लिये जो तर्क–वित्तर्क आदि के द्वारा मनन किया जाता हैं, उसे ''तारतार'' नाम की तीसरी गौण सिद्धि माना जाता है। 4. एकमात्र अपनी बुद्धि ही के बल से जो मनन किया जाता है उमें अनेक त्रुटियाँ रह जाने की सम्भावना और आशंका रहती है। अतः वह मनन यथार्थ मनन नहीं हो सकता है। इसलिये अपने मित्र मण्डल के साथ मिल–जुलकर शास्त्र के वास्तविक तात्पर्य निर्णय के लिये मनन किया जाता है। उस मण्डल में गुरु भी होते हैं, ब्रह्मचारी भी होते है और शिष्य भी होते हैं। उन सभी के साथ शास्त्र के तात्पर्य के विषय में संवाद, चिन्तन, विमर्श आदि करना चौथी गौण सिद्धि होती है। इस सिद्धि को ''सुहत्प्राप्ति''नाम सिद्धि कहा जाता है। इसका पूरा–पारिभाषिक नाम ''रम्यक'' सिद्धि होता है। तार–तार सिद्धि इस रम्यक सिद्धि की उपायभूत सिद्धि होती है और उसकी उपेय सिद्धि होती है। 5. विवेकख्याति के लिये समस्त संशयों, विपर्ययों आदि के सर्वथा शोधन करने को ''सदा–मुदिता'' नाम पाँचवी गौण सिद्धि कहा जाता है। यह सिद्धि रम्यक सिद्धि की उपेय होती हैं और रम्यक इसकी उपायभूत सिद्ध हुआ करती है। इस पाँचवी गौण सिद्धि का एक और परिभाषिक नाम ''दान'' भी होता है। यह दान शब्द दो दाने से न बनकर दैप् शोधने से बनता है और इसका अर्थ शोधन भी होता है। यह सिद्धि मुख्य सिद्धियों की साक्षात् उपायभूत सिद्धि होती है तीन प्रकार के दुःखों की निश्चित और आत्यन्तिक निवृत्ति तीन मुख्य सिद्धियाँ होती है। उनमें से एक का परिभाषिक नाम 6. ''प्रमोद'' होता है, दूसरी को शास्त्रों में 7. ''मुदित'' नाम दिया है और तीसरी का शास्त्रीय नाम 8. ''मोदमान'' नाम दिया है और तीसरी का शास्त्रीय नाम 8. ''मोदमान'' होता है। ये सारी आठ सिद्धियाँ होती है। सभी विपर्यय, सभी अशक्तियाँ और तुष्टियाँ भी इन आठ प्रकार की सिद्धियों से मार्ग में बाधा डालने वाले पदार्थ होते है। अतः इन तीनों वर्गों की प्रत्यय सृष्टि को सिद्धियों के लिये तीन प्रकार का अंकुश कहा गया है।

उपरोक्त चार वर्गों वाली बुद्धि की प्रत्यय सृष्टि के बिना केवल तन्मात्र सृष्टि अर्थात् विषय सृष्टि के ही द्वारा पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है और न ही विषय सृष्टि के बिना इस प्रत्यय सृष्टि ही के द्वारा पुरुषार्थ सिद्धि हो सकता है। फिर प्रत्यय सिद्धि के बिना तन्मात्र सृष्टि भी नहीं हो सकती है और न ही तन्मात्र सृष्टि के बिना प्रत्यय सृष्टि ही हो सकती है। तात्पर्य यह है कि ये दोनों प्रकार की सृष्टियाँ परस्पर सापेक्ष है और दोनों के परस्पर सहयोग से ही पुरुषार्थ से ही पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। तन्मात्र सृष्टि भोग्य होती है ओर प्रत्यय सृष्टि भोग का आयतन बनती है। जब तब यह दोनों प्रकार की सृष्टि न हो तब तक भोग का होना सम्भव नहीं होता है। इसलिये बुद्धि तत्त्व से दोनों प्रकार की सृष्टि हुआ करती है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. तुष्टि एवं सिद्धियों के भेद से .... बद्ध होते हैं?
2. सांख्यकारिका के अनुसार कितनी तुष्टियां मानी गई हैं?

9.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (49 से 54 कारिका तक)

एकादषेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरषक्तिरुछिष्टा।

सप्तदषवधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम्।। 49।।

अन्वयः–बुद्धिवधैः, सह, एकादशेन्द्रियवधाः, अशक्तिः, उद्दिष्टाः, तुष्टिसिद्धीनाम्, विपर्ययात्, बुद्धैः, सप्तदशवधाः।।

शब्दार्थः– बुद्धिवधैः –बुद्धि के उपघातों के, **सह** –साथ, **एकादषेन्द्रियवधाः** –ग्यारह इन्द्रियों के उपघात, **अशक्तिः** –अशक्ति, **उद्दिष्टाः** –कहे गए हैं, **तुष्टिसिद्धीनाम्** –तुष्टि तथा सिद्धि के, **विपर्ययात्** –विपर्यय से, **बुद्धेः** –बुद्धि के, **सप्तदषवधाः** –सत्रह उपघात।।

अर्थः–बुद्धि के उपघातों के साथ ग्यारह इन्द्रियों के उपघात अशक्ति कहलाते हैं। नव 'तुष्टि' तथा अष्ट 'सिद्धि' के विपर्यय से बुद्धि के सत्रह उपघात होते हैं।।

व्याख्या –विपर्यय के पाँच भेद और उन पाँचों के 62 अवान्तर भेद बताकर अब अशक्ति के 28 भेद बताते हैं। श्रोत्र आदि पाँच बुद्धीन्द्रियों की त्रुटियों से, पाँच त्वक् आदि कर्मेन्द्रियों की त्रुटियों से तथा मन के दोष से परम्परया 11 बुद्धि की अशक्तियाँ होती हैं और नौ तुष्टियों के विपर्यय से अतुष्टियाँ भी नौ होती हैं। तथा आठ सिद्धियों के विपर्यय से असिद्धियाँ भी आठ होती हैं। ये 17 अशक्तियाँ बुद्धि की साक्षात् अशक्तियाँ हैं। यह सब मिलकर 11 + 17 = 28 बुद्धि की शक्तियाँ होती हैं। इस प्रकार अट्ठाईस प्रकार की बुद्धि की अट्ठाईस अशक्तियाँ होती हैं। इन्द्रियों की 11 अशक्तियाँ बुद्धि की अशक्ति में हेतु होती हैं; अतः परम्परा से इन्द्रिय वध की बुद्धि की अशक्ति ही है; क्योंकि हेतु और हेतुमान् का अभेद होता है। अतः इन्द्रियवधजन्य बुद्धि की अशक्तियाँ भी इन्द्रियवध ही कही गई हैं, इसलिए कारिका में 'एकादश इन्द्रियवधाः' अशक्तिः– ऐसा सामानाधिकरण्य से प्रयोग किया गया है। इनमें श्रोत्र का दोष बहिरा होना, त्वक् का दोष कुष्ठी होना, चक्षु का दोष अन्ध होना, जिह्वा का दोष जड़ होना, घ्राण का वध– सूंघने की शक्ति का नष्ट होना, कफ से पूर्ण हो जाना; वाक् का दोष मूक होना, गूंगा होना; हाथों का दोष टेढ़ा होना, पैरों का दोष पंगुल होना, गुद का दोष कब्जी होना आदि, लिंग का दोष नपुंसक होना, मन को दोष शोक, काम, क्रोध आदि से उद्विग्न होना और उन्माद है। इन 11 इन्द्रियों के वधों से बुद्धि अपना व्यापार ठीक से नहीं कर सकती है; क्योंकि अन्धे की बुद्धि घटरूप नहीं बता सकती है, लंगड़े की बुद्धि गमन व्यापार की अध्यवसाय नहीं कर सकती है। इस प्रकार इन्द्रियों के दोषों से ही बुद्धि के व्यापार में भी दोष आ जाते हैं। इस तरह से 11 इन्द्रियों के दोषों से 11 प्रकार की बुद्धि की अशक्ति होती है और बुद्धि की 17 अशक्तियाँ स्वरूपतः होती हैं। वे नौ तुष्टियों

और आठ सिद्धियों से ही होती हैं। ये नौ तुष्टियाँ और आठ सिद्धियाँ आगे की कारिकाओं में स्वयं ग्रन्थकार कहेंगे। इन नौ तुष्टियों और आठ सिद्धियों के अभाव से ही अतुष्टि और असिद्धि होती है।

आध्यात्मिक्यष्चतस्त्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।

बाह्या विषयोपरमात् पंच नव तुष्टयोऽभिमताः।। 50।।

अन्वयः—प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः, चतस्त्रः, आध्यात्मिक्यः, विषयोपरमात्, पंच, बाह्याः, नव, तुष्टयः, अभिमताः।।

शब्दार्थः— प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः —प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य, **विषयोपरमात्** —विषयों से वैराग्य होने के कारण, **पंच** —पाँच, **बाह्याः** —बाहरी, **नव** —नौ, **तुष्टयः** —तुष्टियाँ, **अभिमताः** —मानी गयी हैं।।

अर्थः—प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामक चार 'आध्यात्मिक' तथा विषयों से वैराग्य होने के कारण पाँच 'बाह्य'— इस प्रकार नव तुष्टियाँ मानी गयी है।।

व्याख्या —अब नौ तुष्टियाँ स्पष्टतया बताते हैं। पूर्वोक्त चार आध्यात्मिकी तुष्टियाँ और पाँच बाह्य तुष्टियाँ— ये दोनों मिलकर नौ तुष्टियाँ होती हैं। इनमें बाह्य तुष्टियाँ पाँचों विषयों से वैराग्य होने पर होती हैं; क्योंकि शब्दादि विषय पाँच हैं, अतः उनके वैराग्य भी पाँच ही होंगे और वैराग्यों के कारण भी— 1. उपार्जन करने में कष्ट, 2. रक्षा में कष्ट, 3. उपभोग में धन क्षीण होने से कष्ट, 4. उपभोग की आदत पड़ने पर विषयों के नहीं मिलने पर दुःख। जैसे अफीमची को समय पर अफीम नहीं मिलने से अत्यन्त कष्ट होता है, उसी तरह कामी को भी विषय—सामग्री नहीं मिलने से कष्ट होता है। 5. धनोपार्जन में प्राणिहिंसा एवं पीड़ा और— ये पाँच मुख्य हैं। अतः बाह्य तुष्टियाँ भी पाँच है। आध्यात्मिकी चार तुष्टियों से मिलने पर ये नौ तुष्टियाँ होती हैं। इन तुष्टियों का स्वरूप—परिचय 49वीं कारिका की व्याख्या भाषा—टीका में स्पष्ट लिख दिया गया है। अतः इनका स्वरूप—परिचय वहीं से करना चाहिए।।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।

दानंच सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽकुषस्त्रिविधः।। 51।।

अन्वयः—अध्ययनम्, शब्दः, ऊहः, सुहृत्प्राप्तिः, दानम्, त्रयः, दुःखविघाताः, अष्टौ, सिद्धयः, पूर्वः, सिद्धेः, अंकुशः।।

शब्दार्थः— अध्ययनम् —गुरु से पढ़ना, **शब्दः** —शब्द, **ऊहः** —मनन, **सुहृत्प्राप्तिः** —मित्रों की प्राप्ति, **दानम्** —दान, **त्रयः** —त्रिविध, **दुःखविघाताः** —दुःखविनाश, **अष्टौ** —आठ, **सिद्धयः** —सिद्धियाँ, हैं। **पूर्वः** —पूर्वागत, **त्रिविधः** —तीनों, **सिद्धेः** —सिद्धि की, **अंकुशः** —विरोधिनी, हैं।।

अर्थः—गुरु से सविधि पढ़ना, शब्द, मनन, सहृत्पाप्ति, दान त्रिविध दुःखों का विनाश— ये आठ सिद्धियाँ हैं। पूर्वागत तीनों विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि— 'सिद्धि की विरोधिनी कही गयी हैं।।

व्याख्या —1. ऊह, 2 शब्द, 3. अध्ययन, 4. आध्यात्मिक दुःखों का विघात, 5. आधिभौतिक दुःखों का विनाश, 6. आधिदैविक दुःखों का विनाश, 7. सुहृत्प्राप्ति, 8. दान—विवेकज्ञान की शुद्धि को अविच्छिन्न धारावाहिक— ये आठ सिद्धियाँ हैं। प्रत्यय के सर्गों में से ये आठों सिद्धियाँ मुमुक्षु के लिए उपादेय हैं और

बाकी के विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि– ये तीनों प्रत्ययसर्ग परित्याज्य हैं; क्योंकि ये बुद्धि के सर्गसिद्धिरूप हथनी को हटाने में अंकुश की तरह ही हैं अर्थात् ये तीनों सिद्धियों के बाधक ही हैं। अतः विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि– ये तीनों मुमुक्षुओं के लिए सर्वथा त्याज्य ही हैं। सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने– अध्ययन, 2. शब्द, 3. ऊह, 4. सुहृत्प्राप्ति, 5. दान, 6–8. दुःखत्रयविघात– इस क्रम से आठ सिद्धियाँ रखी हैं। उनमें पहले पाँच गौण हैं, बाकी तीन मुख्य हैं।।

न विना भावैर्लिंगं, न विना लिंगेन भावनिर्वृत्तिः।

लिंगाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।। 52।।

अन्वयः–भावैः, विना, लिंगम्, न, लिंगेन, विना, भावनिर्वृत्तिः, न, तस्मात्, लिंगाख्यः, भावाख्यः, द्विविधः, सर्गः, प्रवर्तते।।

शब्दार्थः– भावैः –बौद्धिक परिणामों के, **विना –**बिना, **लिंगम् –**तन्मात्र–परिणाम, **न –**नहीं, **लिंगेन –**तन्मात्र–परिणाम के, **विना –**बिना, **भावनिर्वृत्तिः –**बौद्धिक परिणामों की चरितार्थता, **न –**नहीं, **तस्मात् –**इसलिए, **लिंगाख्यः –**तन्मात्र–परिणाम, **भावाख्यः –**बौद्धिक परिणाम, **द्विविधः –**दो प्रकार की, **सर्गः –**सृष्टि, **प्रवर्तते –**होती है।।

अर्थः–बौद्धिक परिणामों के विना तन्मात्र परिणाम नहीं सम्भव है और तन्मात्र परिणाम के बिना बौद्धिक परिणामों की चरितार्थता भी नहीं है। इसलिए तन्मात्र परिणाम और बौद्धिक परिणाम–दोनों ही प्रकार–की सृष्टि होती है।।

व्याख्या –धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान आदि बुद्धि के आठ धर्म 'भाव' कहलाते हैं। उनसे युक्त बुद्धि की सृष्टि के बिना लिंग की उत्पत्ति और पुरुषार्थ साधनता नहीं हो सकती है और लिंग की सृष्टि के बिना भावों तथा अन्तःकरणों और बाह्य को पुरुषार्थ–साधनता भी नहीं हो सकती है। क्योंकि भोग ही पुरुषार्थ है। पर वह भोग न तो भोग्य शब्दादि विषयों के बिना हो सकता है और न तो भोगायतन शरीरद्वय के बिना ही हो सकता है, अतः भोग की सिद्धि के लिए तन्मात्र सर्ग आवश्यक ही है और वह भोग इन्द्रियों के बिना और अन्तःकरणों केबिना भी नहीं हो सकता है और इन्द्रियाँ और अन्तःकरण बुद्धि आदि भी भावों के बिना नहीं हो सकती हैं, अतः बुद्धि से भावसर्ग और तन्मात्रघटित सर्ग– इन दोनों ही सर्गों को मानना आवश्यक है। एक सर्ग के बिना दूसरा सर्ग भोग और अपवर्गरूप पुरुषार्थ को कर ही नहीं सकता है; अतः दोनों ही सर्गों को मानना आवश्यक है।।

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनष्च पंचधा भवति।

मानुषष्चैकविधः, समासतो भौतिकः सर्गः।। 53।।

अन्वयः–दैवः, अष्टविकल्प, तैर्यग्योनः च, पंचधा, मानुषः, एकविधः, भवति, समासतः, भौतिकः सर्गः।।

शब्दार्थः– दैवः –देव–सृष्टि, **अष्टविकल्पः –**आठ प्रकार की, **तैर्यग्योनः –**तिर्यक्–सृष्टि, **पंचधा –**पाँच प्रकार की, **मानुषः –**मनुष्य सृष्टि, **एकविधः –**एक प्रकार की, **भवति –**होती है, **समासतः –**संक्षेप से, **भौतिकः –**भौतिक, **सर्गः –**सृष्टि।।

अर्थः—देव—सृष्टि आठ प्रकार की, तिर्यक्—सृष्टि पाँच प्रकार की, तथा मनुष्य सृष्टि एक प्रकार की होती है। संक्षेप में भौतिक सृष्टि है।।

व्याख्या —बुद्धि के सर्ग का विभाग करके अब तामस अहंकार से उत्पन्न भूतादि कृत सर्ग का विभाग करते हैं। 1. ब्राह्म, 2. प्राजापत्य, 3. ऐन्द्र, 4. पैत्र, 5. गान्धर्व, 6. याक्ष, 7. राक्षस, 8. पैशाच—भेद से आठ प्रकार का दैवसर्ग होता है। 1. पशु, 2. मृग, 3. पक्षी, 4. सरीसृप, 5. स्थावर भेद से पाँच प्रकार का तिर्यग्योनि का सर्ग होता है और एक प्रकार का मनुष्य सर्ग होता है। इस प्रकार संक्षेप से 14 प्रकार का पाँचभौतिक सर्ग होता है। इनमें से ब्राह्मसर्ग ऊर्ध्ववर्त्ती सत्यलोक, तपोलोक, जनलोक में है। प्राजापत्य सर्ग महर्लोक में है। ऐन्द्र सर्ग स्वर्गलोक में है। पैत्र सर्ग पितृलोक में है। गान्धर्व सर्ग पर्वतों की दरी कन्दराओं में है। याक्ष सर्ग वरुणलोक में है। पातालों में पैशाच व राक्षस सर्ग है। इस तरह 14 लोकों में 14 प्रकार का भूतसर्ग सिद्ध हुआ है।।

ऊर्ध्वं सत्त्वविषालस्तमोविषालष्च मूलतः सर्गः।

मध्ये रजोविषालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः।। 54।।

अन्वयः—ऊर्ध्वम्, सत्त्वविशालः, मूलतः, तमोविशालः, मध्ये, रजोविशालः, सर्गः, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः।।

शब्दार्थः— ऊर्ध्वम् —ऊपर के लोकों में, **सत्त्वविशाल** —सत्त्वप्रधान, **मूलतः** —नीचे के लोकों में, **तमोविशालः** —तमः प्रधान, **मध्ये** —मध्य लोक में, **रजोविषालः** —रजःप्रधान, **सर्गः** —सृष्टि, **ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः** —ब्रह्मा से लेकर तृणादि पर्यन्त।।

अर्थः—ऊपर के लोकों में सत्त्व—प्रधान, नीचे के लोकों में तमःप्रधान तथा मध्य—लोक में रजः—प्रधान सृष्टि होती है। यही ब्रह्मा से लेकर तृणादि—पर्यन्त।।

व्याख्या —पूर्वोक्त भूतादि कृत पाँचभौतिक चौदह प्रकार के सर्ग में भी चैतन्य की कमी—ज्यादा से तीन भेद होते हैं। यथा सत्त्व गुणबहुल देवयोनियों में चैतन्य की मात्रा अधिक होती है और वे ऊर्ध्व लोकों में निवास करते हैं और सुखी हैं। रजोगुणबहुल मानुष सर्ग मनुष्य मध्यलोक में निवास करते हैं और वे रजोगुणबहुल होने से धर्माधर्मप्रद कार्यों में लगे रहते हैं तथा प्रायः दुःखी रहते हैं। इसी प्रकार तमोबहुल तिर्यक् सर्ग पशु, पक्षी, सर्प, नाग, भूत, प्रेत, असुर, राक्षस आदि नीचे पाताल लोक में रहते हैं और पशु, पक्षी, सर्प आदि तमोबहुल होने से ही जघन्य माने जाते हैं। इसी प्रकार ऊपर ब्रह्मा से लेकर नीचे लता गुल्म आदि तक ये सभी भूत— भौतिक सर्ग ही हैं। सारांश यह कि देवता, पितृ, गन्धर्व आदि सत्त्वबहुल देवजातियाँ ऊपर के लोकों में निवास करती हैं और सुखी हैं। तमोगुणप्रधान नाग, असुर, भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस आदि तथा लता, वृक्ष, गुल्म आदि निकृष्ट जातियाँ पाताल आदि अधो लोकों में निवास करती हैं और निकृष्ट तथा अधोगति वाली और मोहावृत मानी जाती हैं। रजोगुणप्रधान मनुष्य जाति भूलोक में रहती है और प्रायः दुःख, रोग, शोक आदि से व्याप्त रहती है।।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. तिर्यक् सृष्टि कितने प्रकार की होती है?
2. सांख्य के अनुसार देव सृष्टि कितने प्रकार की है?
3. सिद्धियां कितने प्रकार की होती हैं?
4. भौतिक सृष्टि कितने प्रकार की है?

9.5 सारांष

अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के प्रति उदासीनता का भाव तुष्टि है। प्रकृति ही सब करती है। पुरुषार्थ का कोई महत्त्व नहीं है– ऐसा सोच कर अपने उद्देश्य के प्रति निष्क्रिय हो जाना प्रकृतितुष्टि है। हमें इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए उपयुक्त साधनों को इकट्ठा करना पड़ेगा जो हमारे सामर्थ्य के बाहर हैं– ऐसा सोचकर प्रयत्न से विरत हो जाना उपादानतुष्टि है।

अभिमतन, फल की प्राप्ति सिद्धि है। सदसद् का विवेक होना विचार सामर्थ्य आदि का नाम ऊह है। शब्दों का अर्थ सहित सम्यक् ज्ञान, वाक् प्रतिभा से सबको आकर्षित करने की शक्ति शब्दसिद्धि है। दूसरों के विचारों एवं मनोभावों को समझने की शक्ति अध्ययन है। प्राणी सामान्य क्रूर से क्रूर, शत्रुभावापन्न प्राणियों को स्वानुकूल बनाने की सामर्थ्य सुहृत्प्राप्ति नामक सिद्धि है। दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीन हैं– इनके निवारण का सामर्थ्य रखना– यही तीन सिद्धियां हैं। सिद्धियां लौकिक उत्कर्ष के सूचक हैं– इनसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

9.6 कठिन शब्दावली

बुद्धिवधैः –बुद्धि के उपघातों के

तुष्टिसिद्धीनाम् –तुष्टि तथा सिद्धि के

विपर्ययात् –विपर्यय से

अभिमताः –मानी गयी हैं

सुहृत्प्राप्तिः –मित्रों की प्राप्ति

दुःखविधाताः –दुःखविनाश

भावनिर्वृत्तिः –बौद्धिक परिणामों की चरितार्थता

भावाख्यः –बौद्धिक परिणाम

द्विविधः –दो प्रकार की

अष्टविकल्पः –आठ प्रकार की

तैर्यग्योनः –तिर्यक्–सृष्टि

रजोविषालः –रजःप्रधान

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः –ब्रह्मा से लेकर तृणादि पर्यन्त

प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः –प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य

9.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. सत्रह
2. नौ

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. पांच
2. आठ

3. आठ
4. चौदह

9.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. सांख्यकारिका, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, बालकृष्ण त्रिपाठी, बी. 2/2, भदैनी, वाराणसी।
2. सांख्यकारिका, संस्कृत व्याख्याकार– म. म. श्री गुरुप्रसादशास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– आचार्य श्री सीतारामशास्त्री, प्रो. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
3. सांख्य तत्त्व प्रदीप, डॉ. अमल धारी सिंह, भारती विद्या प्रकाशन 1, य.वी. बैंगलो रोड, दिल्ली–07।

9.9 अभ्यास प्रश्न

1. सांख्य में वर्णित सिद्धियों पर प्रकाश डालें।
2. सांख्य में वर्णित तुष्टियों पर प्रकाश डालें।
3. भौतिक सृष्टि क्या है? स्पष्ट करें।
4. ऊहः शब्दोऽध्ययनं .... पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः। व्याख्यायित करें।

दषम्इकाई

प्रकृति–पुरुष विवेचन

संरचना

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 प्रकृति–पुरुष विवेचन

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

10.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (55 से 60 कारिका तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

10.5 सारांष

10.6 कठिन शब्दावली

10.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

10.8 अनुषंसित ग्रन्थ

10.9 अभ्यास प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

विवेकी मनुष्य के भोगापवर्ग रूप प्रयोजनों की सिद्धि में प्रकृति का कोई स्वार्थ नहीं है। प्रकृति का समस्त कार्य पुरुष की विद्यमानता में ही प्रकाशित होता है। त्रिगुण से युक्त होने के कारण प्रकृति को गुणवती कहा गया है। विवेकी मनुष्य (पुमान्) के द्विविध प्रयोजनों को निःस्वार्थ सिद्ध करने के कारण उसे उपकारिणी कहा गया है। विवेकी मनुष्य प्रकृति के प्रति कोई कृतज्ञता नहीं रखता। इसलिए उसे अनुपकारी कहा गया है। पुंसः पद 'पुम्' शब्द के षष्ठी विभक्ति के एक वचन का रूप है। प्रकृति लाखों में किसी एक मनुष्य के ही द्विविध प्रयोजनों को सिद्ध कर पाती है, सभी के नहीं। यह सामान्य बात है कि ज्ञान सभी को उत्पन्न नहीं होता है। प्रकृति की सारी कला का अस्तित्व पुरुष की विद्यमानता में ही संभव है। पुरुष के लिए 'अगुण' पद आया है। विषय अनेक हैं, अतएव उनका भोग अनेक प्रकार से हो सकता है।

10.2 उद्देश्य

- त्रिगुणमयी प्रकृति ज्ञान
- निर्गुण पुरुष
- महत् ज्ञान
- पंचमहाभूत ज्ञान

10.3 प्रकृति–पुरुष विवेचन

जीवात्मा नाना योनियों में जन्म, जरा तथा मरण से उत्पन्न दुःख को भोगता है। 'विशेष' पद के साथ 'एषः' शब्द विशेषण रूप में प्रयुक्त है, जिसका अर्थ यह हुआ कि यह महत् से लेकर पंच महाभूतों से बनी हुई प्रकृति की विशेष सृष्टि है, जो प्रत्येक मनुष्य को मुक्त होने के लिए है। पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति स्वतः प्रवृत्त होती है। डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य का कहना है कि प्रधान की प्रवृत्ति महदादि रूप में परिणत होना हैं तथा मोक्ष महदादि परिणाम की समाप्ति है। सांख्यसूत्र में भी अचेतन दूध की प्रवृत्ति का उल्लेख है। मुसलगांवकर ने यज्ञ का अर्थ वत्स के स्वरूप से अनभिज्ञ किया है।

मनुष्य के प्रयोजन दो हैं– भोग एवं कैवल्य। ये दोनों प्रकृति द्वारा सिद्ध होते हैं। जब उसके प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, तब प्रकृति उसके लिए निवृत्त हो जाती है। 'आत्मानं प्रकाश्य' का अर्थ है उस मनुष्य के प्रयोजनों को चरितार्थ कर देना।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. महत् से लेकर पंचमहाभूतों से बनी हुई प्रकृति की विशेष सृष्टि .... को मुक्त होने के लिए आवश्यक है।
2. सांख्यकारिका के अनुसार कैवल्य प्राप्त मनुष्य को क्या कहा गया है?

10.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (55 से 60 कारिका तक)

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।

लिंगस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन।। 55।।

अन्वयः–चेतनः, पुरुषः, लिंगस्य, आविनिवृत्तेः, तत्र, जरामरणकृतम्, दुःखम्, प्राप्नोति, तस्मात्, दुःखम्, स्वभावेन।।

शब्दार्थः– चेतनः –चेतन, **पुरुषः** –पुरुष, **लिंगस्य** –लिंगशरीर के, **आ विनिवृत्ते** –विनाश होने तक, **तत्र** –ऊपर, नीचे तथा मध्य के लोको में, **जरामरणकृतम्** –जरा मरण से उत्पन्न, **दुःखम्** –दुःख को, **प्राप्नोति** –भोगता है, **तस्मात्** –अतः, **दुःखम्** –दुःख, **स्वभावेन** –स्वभाव से।।

अर्थः–चेतन पुरुष लिंग शरीर के विनाश होने तक, ऊपर, नीचे तथा मध्य के लोकों में, जरा–मरण से उत्पन्न दुःख को भोगता है। अतः दुःख स्वभाव से ही (इस सृष्टि में हैं)।।

व्याख्या –पूर्वोक्त जितनी भी जातियाँ रहती हैं, उन सबमें भी शरीरधारी प्राणीमात्र को ही वृद्धावस्था से और मरण आदि से भय होता ही है; क्योंकि चाहे राजा हो, चाहे वह कीट–पतंग हो, मरण से भय सबको होता है। सभी चाहते हैं कि हम कभी न मरें, किन्तु सदा जीते ही रहें और भय का कारण दुःख ही होता है; अतः मरण सभी के लिए दुःखप्रद है और यह चेतन तब तक इस मरणादि कृत दुःख को पाता रहता है, जब तक इस लिंग के साथ पुरुष का सम्बन्ध नहीं छूटता है। अर्थात् यह चेतन पुरुष जिस–जिस योनि में जाकर जो–जो शरीर धारण करके भोगों का उपभोग करता है, वहां सर्वत्र मरण और जरा का भय उसे बना ही रहता है। अतः मरण आदि दुःखों का वह सर्वत्र अनुभव करता रहता है

और जरा–मरणकृत दुःख पुरुष को तब तक होता ही रहेगा, जब तक उसका लिंगशरीर के साथ सम्बन्ध नहीं छूट जाएगा।।

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविषेषभूतपर्यन्तः।

प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः।। 56।।

अन्वयः–इति, एषः, महदादिविशेषभूतपर्यन्तः, प्रकृतिकृतः, स्वार्थः, इव, परार्थः, आरम्भः, प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्।।

शब्दार्थः– इति –इस प्रकार, **एषः** –यह, **महदादिविषेषभूतपर्यन्तः** –महत्तत्त्व से लेकर आकाशादि महाभूतों तक की, **प्रकृतिकृतः** –प्रकृति के द्वारा की गयी, **स्वार्थः** –अपने प्रयोजन के, **इव** –समान, **परार्थः** –दूसरे के लिए, **आरम्भः** –सृष्टि, **प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्** –प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए।।

अर्थः–इस प्रकार यह महत्तत्त्व से लेकर आकाशादि महाभूतों तक की प्रकृति के द्वारा की गयी, अपने प्रयोजन के समान दूसरे के लिए, सृष्टि प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए है।।

व्याख्या –पूर्वोक्त तन्मात्रसर्ग और प्रत्ययसर्ग– जो महत्तत्त्व से लेकर पृथ्वी तक है– यह मूल प्रकृति का ही किया हुआ है और जैसे लोग अपने–अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही प्रकृति भी पुरुषों के कार्य के लिए ही स्वतः प्रवृत्त होती है और वह जिस पुरुष को मुक्त कर देती है, फिर उसके लिए सर्ग के लिए पुनः वह उसी तरह प्रवृत्त नहीं होती है, जैसे चावल आदि बनाने वाला रसोइया चावल आदि बनाने के लिए प्रवृत्त होता है और चावल आदि बन जाने पर उस कार्य से निवृत्त हो जाता है। प्रकृति भी उस पुरुष के लिए अपना कर्त्तव्य कार्य कर चुकी है, अतः वह पुनः उसके लिए भोग–मोक्ष के लिए सर्ग का आरम्भ नहीं करती है। अतः वह मुक्त पुरुष बुद्धि के सम्बन्ध से बने हुए सूक्ष्म शरीर आदि बन्धनों से छूट जाता है और लिंग शरीर की निवृत्ति हो जाने से वह पुरुष तीनों प्रकार के दुःखों से सदा के लिए रहित हो जाता है।।

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।

पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।। 57।।

अन्वयाः–यथा, वत्सविवृद्धिनिमित्तम्, अज्ञस्य, क्षीरस्य, प्रवृत्तिः, तथा, पुरुषविमोक्षनिमित्तम्, प्रधानस्य, प्रवृत्तिः।।

शब्दार्थः– यथा –जैसे, **वत्सविवृद्धिनिमित्तम्** –बछड़े के बढ़ने के लिए, **अज्ञस्य** –अचेतन, **क्षीरस्य** – दुग्ध का, **प्रवृत्तिः** –बहना प्रारम्भ होता है, **तथा** –वैसे ही, **पुरुषविमोक्षनिमित्तम्** –पुरुष के मोक्ष के लिए, **प्रधानस्य** –प्रकृति की, **प्रवृत्तिः** –सृष्टि की ओर उन्मुखता।।

अर्थः–जैसे बिछड़े के बढ़ने के लिए अचेतन दुग्ध का बहना प्रारम्भ होता है, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति की सृष्टि की ओर उन्मुखता होती है।।

व्याख्या –जैसे बालक आदि के पालन–पोषण के लिए माता के स्तनों से अचेतन दूध भी स्वयं निकलने लगता है, उसी प्रकार पुरुषों की मुक्ति आदि के लिए जड प्रकृति भी स्वयमेव प्रवृत्त होती है क्योंकि चेतन की प्रवृत्ति स्वार्थ की सिद्धि के लिए या करुणा से परोपकार के लिए ही होती है और जगत् की सृष्टि में ईश्वर की न तो कोई स्वार्थ की सिद्धि होती है और न तो परोपकार ही प्रयोजन हो सकता है; क्योंकि सृष्टि से पहले तो सूक्ष्म शरीर और विषय आदि थे ही नहीं। अतः कोई दुःखी भी नहीं था, फिर

ईश्वर किस पर दया दिखाने को सृष्टि–कार्य में प्रकृति का अधिष्ठाता होकर उसे प्रवृत्त करेगा और ईश्वर का जगत् की सृष्टि से कोई स्वार्थ भी सिद्ध नहीं हो सकता है; अतः ईश्वर के बिना भी यह जगत् की सृष्टि तो केवल जड़ प्रकृति से ही होती है। यह सृष्टि तो प्रकृति का ही कार्य है। जैसे बछड़े की वृद्धि के लिए दूध स्वयं माता के स्तनों में आ जाता है, वैसे ही प्रकृति भी पुरुष के भोगापवर्ग के लिए स्वमेव सृष्टिरूप कार्य में प्रवृत्त होती है– यही सांख्य का मत है।।

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।

पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्।। 58।।

अन्वयः–यथा, लोकः, औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम्, क्रियासु, प्रवर्तते, तद्वत्, अव्यक्तम्, पुरुषस्य, विमोक्षार्थम्, प्रवर्तते।।

शब्दार्थः– यथा –जैसे, **लोकः** –व्यक्ति, **औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम्** –स्वेच्छा की पूर्ति के लिए, **क्रियासु** –कार्यों में, **प्रवर्तते** –प्रवृत्त होता है, **तद्वत्** –उसी प्रकार, **अव्यक्तम्** –प्रकृति, **पुरुषस्य** –पुरुष के, **विमोक्षार्थम्** –मोक्ष के लिए।।

अर्थः–जैसे व्यक्ति अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए कार्यों में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है।।

व्याख्या –जैसे सांसारिक लोग अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए– अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार यह प्रकृति भी केवल परोपकार के लिए ही प्रवृत्त होती है और परोपकारार्थ ही स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा शब्दादि विषयों की सृष्टि करती है; क्योंकि उनसे ही पुरुष का भोग और अपवर्ग सिद्ध हो सकता है। अतः यह सृष्टि परोपकार के लिए प्रकृति की ही की हुई है।।

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।

पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः।। 59।।

अन्वयः–यथा, नर्तकी, रंगस्य, दर्शयित्वा, नृत्यात्, निवर्तते, तथा, प्रकृतिः, पुरुषस्य, आत्मानम्, प्रकाश्य, विनिवर्तते।।

शब्दार्थः– यथा – जैसे, **नर्तकी** –नर्तकी, **रंगस्य** –रंगस्य दर्शकों को, **दर्शयित्वा** –दिखलाकर, **नृत्यात्** –नृत्य से, **निवर्तते** –निवृत्त हो जाती है, **तथा** –उसी प्रकार, **प्रकृतिः** –प्रकृति, **पुरुषस्य** –पुरुष के, **आत्मानम्** –अपने को, **प्रकाष्य** –प्रकट कर, **विनिवर्तते** –सर्वदा के लिए सृष्टि कार्य से विरत हो जाती है।।

अर्थः–जैसे नर्तकी रंगस्थ दर्शकों को दिखला कर नृत्य से निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकट कर सर्वदा के लिए सृष्टि कार्य से विरत हो जाती है।।

व्याख्या –जैसे नर्त्तकी अनेक हाव, भाव, कटाक्षपूर्वक अपना नाच–गान रंगस्थल में स्थित दर्शकों को दिखाकर, उनको रिझाकर अन्त में स्वयं अपने–आप नाच से निवृत्त हो जाती है अर्थात् नाचना छोड़कर बैठ जाती है, वैसे ही यह प्रकृति भी पुरुष को अपना कर्त्तव्य दिखाकर अपवर्ग कराकर अन्त में अपने स्वरूप का सच्चा परिचय उसे देकर 'मैं जड़ और भाग्य हूँ, अतः तुमसे मैं भिन्न हूँ, तुम चेतन हो, अतः तुम मेरे से भिन्न हो, यह सुख–दुःख सब मेरा ही है, तुम तो सुख–दुःख आदि से रहित हो' यह बताकर

फिर उस पुरुष के लिए अपना व्यापार करना बन्द कर देती है। इस प्रकार विवेक–ज्ञान प्राप्त कर वह पुरुष भी त्रिविध दुःखों से सदा के लिए छूट जाता है और सदा के लिए संसार से मुक्त हो जाता है।।

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।

गुणवत्यगुणस्य सतस्तयार्थमपार्थकं चरति।। 60।।

अन्वयः–गुणवती, उपकारिणी, अपार्थकम्, अगुणस्य, अनुपकारिणः, सतः, तस्य, पुंसः, नानाविधैः, उपायैः चरति।।

शब्दार्थः– गुणवती –गुणमयी, **उपकारिणी** –उपकार करने वाले, **अपार्थकम्** –निःस्वार्थपूर्वक, **अगुणस्य** –निगुर्ण, **अनुपकारिणः** –प्रत्युपकार–विहीन, **सतः** –कभी भी विनष्ट न होने वाले, **तस्य** –उस, **पुंसः** –पुरुष का, **नानाविधैः** –अनेक प्रकार के, **उपायैः** –उपायों द्वारा, **चरति** –कार्य–साधन करती है।।

अर्थः–गुणमयी एवं उपकारिणी प्रकृति बिना किसी स्वार्थ के ही निगुर्ण तथा प्रत्युपकार–विहीन अविनाशी उस पुरुष का अनेक उपायों द्वारा कार्य साधन करती है।।

व्याख्या –जैसे कोई गुणी और उपकारी अपने निर्गुण और अनुपकारी स्वामी की नाना प्रकार से तथा अनेक उपायों से सेवा करके भी उससे कुछ भी फल नहीं पाता है और उसके सभी कार्य निरर्थक ही करता रहता है, वैसे ही यह बेचारी प्रकृति भी, जो बड़ी गुणवती है और पुरुष के लिए भोग और अपवर्ग के साधन सदा जुटाती रहती है, अतः उपकारपरायणा भी है, वह निगुर्ण और अनुपकारी पुरुष के कार्य–भोग और अपवर्ग का साधन–निरर्थक–विना कुछ स्वार्थसिद्धि के लिए ही करती है। अतः प्रकृति का कार्य परार्थ ही है। प्रकृति की उसमें कुछ भी स्वार्थ–सिद्धि नहीं है। केवल पुरुष के लिए ही वह सदा कार्य करती रहती है।।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. सुख–दुःख किसके धर्म है?
2. प्रकृति के लिए किसकी उपमा दी है?
3. प्रकृति पुरुष में क्यों प्रवृत्त होती है?
4. अव्यक्त पुरुष किसके लिए प्रवृत्त होता है?
5. पुरुष मोक्ष के लिए किसकी प्रवृत्ति होती है?

10.5 सारांष

मोक्षकी प्राप्ति मानव शरीर से ही सम्भव है। जिस मनुष्य को कैवल्य की प्राप्ति होना है उसे सांख्यकारिका में पुमान् कहा गया है। प्रधान पद इसी विवेकशील मनुष्य के सन्दर्भ में सांख्यकारिका में प्रयुक्त हुआ है, जिसके सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है। कैवल्य ज्ञान से उत्पन्न होने पर ही प्राप्त हो सकता है। आचार्य माठर एवं गौड़पाद ने विषयोपभोग तथा कैवल्य द्विविध प्रयोजनों के प्रकृति द्वारा सिद्ध होने की बात कही है। युक्तिदीपिकाकार ने प्रकृति तथा पुरुष को दृश्य और दर्शन के रूप में

वर्णित किया है। जयमंगलाकार ने प्रलय अवस्था में पुरुष को प्रधान का प्रेरक कहा है। वाचस्पतिमिश्र का कथन है प्रकृति पुरुष के मोक्ष के लिए प्रबृत्त होती है।

10.6 कठिन शब्दावली

जरामरणकृतम् –जरा मरण से उत्पन्न

प्राप्नोति –भोगता है

स्वभावेन –स्वभाव से

अपार्थकम् –निःस्वार्थपूर्वक

प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम् –प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए

परार्थः –दूसरे के लिए

वत्सविवृद्धिनिमित्तम् –बछड़े के बढ़ने के लिए

प्रवर्तते –प्रवृत्त होती है

पुरुषविमोक्षनिमित्तम् –पुरुष के मोक्ष के लिए

दर्शयित्वा –दिखलाकर

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम् –स्वेच्छा की पूर्ति के लिए

विमोक्षार्थम् –मोक्ष के लिए

नानाविधैः –अनेक प्रकार के

रंगस्य –रंगस्य दर्शकों को

उपायैः –उपायों द्वारा

अव्यक्तम् –प्रकृति

विनिवर्तते –सर्वदा के लिए सृष्टि कार्य से विरत हो जाती है

महदादिविषेषभूतपर्यन्तः –महत्तत्त्व से लेकर आकाशादि महाभूतों तक की

10.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रश्न –1

1. मनुष्य
2. उमान्

स्वयं आंकलन प्रश्न –2

1. बुद्धि
2. नर्तकी
3. मोक्ष हेतु
4. मोक्ष के लिए
5. प्रधान

10.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. सांख्यकारिका, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, बालकृष्ण त्रिपाठी, बी. 2/2, भदैनी, वाराणसी।
2. सांख्यकारिका, संस्कृत व्याख्याकार– म. म. श्री गुरुप्रसादशास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– आचार्य श्री सीतारामशास्त्री, प्रो. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
3. सांख्य तत्त्व प्रदीप, डॉ. अमल धारी सिंह, भारती विद्या प्रकाशन 1, य.वी. बैंगलो रोड, दिल्ली–07।

10.9 अभ्यास प्रश्न

1. प्रकृति के स्वभाव का और उसकी प्रवृत्ति के कारण का वर्णन करें।
2. रंगस्य दर्शयित्वा .... विनिवर्तते प्रकृतिः। व्याख्या सहित वर्णन करें।
3. प्रकृति पुरुष के समक्ष किस रूप में प्रकट होती है? स्पष्ट करें।
4. मानवसृष्टि का सविस्तार वर्णन करें।

एकादष इकाई

जीवात्मा बन्धन मोक्ष

संरचना

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 जीवात्मा बन्धन मोक्ष

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

11.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (61 से 66 कारिका तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

11.5 सारांष

11.6 कठिन शब्दावली

11.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

11.8 अनुषंसित ग्रन्थ

11.9 अभ्यास प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

प्रकृति की सुकुमारता उपमा मात्र है क्योंकि प्रकृति कोई शरीरधारी प्राणी नहीं है। इस प्रकार सांख्य की दृष्टि में प्रकृति से अधिक कोई कोमल नहीं है। तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान होने पर प्रकृति का व्यापार उस विवेकी पुरुष के प्रति बन्द हो जाता है। यही प्रकृति की सुकुमारता है। मैं देख ली गयी का तात्पर्य यह है कि उस विवेकी मनुष्य के भोगापवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं।

11.2 उद्देश्य

- विवेक ख्याति
- प्रकृति–पुरुष ज्ञान
- जीवात्मा ज्ञान
- मोक्ष एवं बन्धन ज्ञान

11.3 जीवात्मा बन्धन मोक्ष

पुरुष तो निगुर्ण और निष्क्रिय एवं परिणाम से शून्य है; अतः वासना सहित अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष, भय– ये पाँचों क्लेश और कर्माशय रूपी जो बन्धन कहलाते हैं, वे पुरुष को नहीं हो सकते हैं; क्योंकि ये अज्ञान आदि तो बुद्धि के परिणाम ही हैं, अतः ये पुरुष को कैसे हो सकते हैं और जन्म–मरण–रूप संसरण भी पुरुष को नहीं हो सकता है; क्योंकि संसरण तो क्रिया है और पुरुष क्रिया से शून्य है। अतः जब पुरुष का बन्ध ही नहीं है, तो उसका मोक्ष भी कैसे हो सकता है, तथापि ये बन्ध

और मोक्ष तथा संसार वस्तुतः प्रकृति के ही धर्म हैं और प्रकृति ही नाना रूप धारण करके अपने को बांधती है, संसरण करती है और बन्धन से भी वही छूटती है; परन्तु प्रकृतिगत बन्धमोक्ष आदि का पुरुष में आरोप करके ही यहां पुरुष का मोक्ष कहा गया है; क्योंकि पुरुष बुद्धि से अपने को अभिन्न मानता है। वह बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर बुद्धि के सुख–दुःखों को अपना ही समझता है; अतः प्रकृति के बन्ध और मोक्षों का पुरुष में आरोप कर लिया जाता है और पुरुष इस प्रकार बद्ध और मुक्त कहलाता है।

विवेक ख्याति –तत्त्व ज्ञान के अभ्यास से पुरुष को बुद्धि के सम्बन्ध से इस निश्चय का दर्शन हो जाता है कि कर्त्तव्य से आविष्ट जीव मैं नहीं हूं। यह तो बुद्धि ही है जिससे कर्त्तव्य का या अहन्ता का अभिमान हुआ करता है। ये ज्ञान, अज्ञान, धर्म, अधर्म आदि आठ विशेषतायें तथा उन आठ विशेषताओं के विविध परिणाम भी सारे के सारे बुद्धि के ही हैं मेरे नहीं है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो में हूँ या मेरी है। यह सब कुछ तो बुद्धि ही है और सारे के सारे भाव बुद्धि के हैं। मैं बुद्धि नहीं हूँ। मैं इससे सर्वथा विविक्त और अत्यन्त तटस्थ तथा उदासीन हूँ। अतः कोई भी भाव मेरा नहीं है। इस प्रकार के विवेक का निश्चय पुरुष को बुद्धि ही के सम्बन्ध से हो जाता है। और पुरुष उस निश्चय का साक्षी बना हुआ उस निश्चय का दर्शन मात्र करता है जब तक निश्चय में कोई भी विपर्यय शेष नहीं रहा जाता है। तो बुद्धि के भीतर केवल और विशुद्ध ज्ञान का उदय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि इस प्रकार से निश्चय कर पाती है कि पुरुष रूप में सर्वथा केवल, असम्बद्ध और उदासीन हूँ। पुरुष की इस सर्वथा केवलता के निश्चय को ही विशुद्ध ज्ञान कहते हैं। यही बुद्धि का वह धर्म होता है। जिसके द्वारा वह मुक्ति को अभिव्यक्त करती है। पुरुष की अत्यन्त केवलता के इस विशुद्ध ज्ञान को ही विवेक–ख्याति कहा जाता है। उसे पुरुष भी इस तथ्य का दर्शन करता है कि यह सारे का सारा प्रंपच बुद्धि का ही है उसका इसके साथ किसी भी प्रकार का कोई भी वास्ता नहीं है। इस प्रकार की विवेक–ख्याति के ही अनन्तर प्रकृति उस पुरुष के प्रति सृष्टि से निवृत्त हो जाती है। अब उस पुरुष के प्रति पुरुषार्थों के सम्पादक करने की कोई अपेक्षा नहीं रहती है। अतः वह धर्म आदि सात बुद्धि धर्मों के रूप में उसके सामने प्रकट नहीं होती है। बुद्धि के ये सात धर्म, बन्धन, के कारण होते हे। केवल एममात्र ज्ञानरूपी आठवें धर्म के ही रूप में उसके सामने ठहरी रहती है इस प्रकार से ठहरी हुई उस प्रकृति का दर्शन वह पुरुष के साक्षी के रूप में करने लग जाता है। वह इस अवस्था में ज्ञानयुक्त बुद्धि के सहारे से शान्त भाव में ठहरने लग जाता है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. बन्धन तथा मोक्ष किसका होता है?
2. प्रकृति कितने रूपों को बांधती है?

11.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (61 से 66 कारिका तक)

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्षनमुपैति पुरुषस्य।। 61।।

अन्वयः –मे, इति, मतिः, भवति, प्रकृतेः, सुकुमारतरम्, किंचित्, न, अस्ति, या, दृष्टा, अस्मि, इति, पुनः, पुरुषस्य, दर्शनम्, न, उपैति।।

शब्दार्थः– मे –मेरी, **इति** –ऐसी, **मतिः** –धारण, **भवति** –होती है, **प्रकृतेः** –प्रकृति से, **सुकुमारतरम्** –अधिक लज्जालु, **किंचित्** –कुछ, **न** –नहीं, **अस्ति** –है, **या** –जो, **दृष्टा** –देख ली गई, **अस्मि** –हूँ, **इति** –ऐसा सोच कर, **पुनः** –फिर, **पुरुषस्य** –पुरुष के, **दर्शनम्** –दृष्टि को, **न** –नहीं, **उपैति** –प्राप्त होती है।।

अर्थः–मेरी ऐसी धारण है कि प्रकृति से अधिक लज्जालु कोई भी नहीं है, जो देख ली गयी हूँ, ऐसा सोच कर फिर उस पुरुष की दृष्टि में कभी नहीं आती।।

व्याख्या –यह प्रकृति तो इतनी सुकुमार और लज्जावती एवं पर–पुरुष से संकोच करने वाली है कि इससे बढ़कर सुकुमार तो संसार में दूसरी कोई है ही नहीं। क्योंकि यह प्रकृति किसी पुरुष से जब विवेकज्ञान से देख ली जाती है तो लज्जा और संकोच के मारे उस पुरुष के सामने फिर वह कभी भी नहीं जाती है। अतः एक बार प्रकृति को जो पुरुष अच्छी तरह देख लेता है अर्थात् जिस पुरुष को इस प्रकृति का सच्चा छिपा हुआ रहस्यमय रूप एक बार ज्ञात हो जाता है, तो वह पुरुष सदा के लिए मुक्त हो जाता है और उसके लिए वह प्रकृति कभी भी भोग और अपवर्ग आदि करने को प्रवृत्त नहीं होती है और उसके लिए वह भोग्य शब्दादि विषयों को तथा भोगायतन स्थूल और सूक्ष्म शरीरों को भी नहीं बनाती है। इस प्रकार वह पुरुष प्रकृति के बन्धन से छूट कर दुःखों से सदा के लिए छूट जाता है और उसको प्रकृतिकृत बन्धनों का डर पुनः कभी नहीं होता है। जैसे अन्य असूर्यम्यपश्या कुलवधू को भी असावधानी से घूंघट हट जाने से यदि कोई परपुरुष खुले मुख देख लेता है, तो वह लज्जावती कुलवधू इतनी संकुचित और लज्जित होती है कि लज्जा के मारे वह फिर अन्य पुरुषों के सामने भी नहीं जाती है और सदा प्रयत्न करती रहती है कि मुझे कोई फिर ऐसे न देख ले। परन्तु यह प्रकृति तो उन कुलवधुओं से भी अति सुकुमार और कोमल है कि जब कोई पुरुष इसे देख लता है तो फिर वह उस पुरुष के सामने 'ओह! इसने मुझे देख लिया' इस लज्जा के मारे पुनः कभी भी नहीं जाती है अर्थात् उस पुरुष के लिए वह प्रकृति कभी भी प्रवृत्त नहीं होती है और वह पुरुष इस प्रकार सदा के लिए प्रकृति के बन्धनों से छूटकर दुःखों से रहित हो सुखी हो जाता है और मुक्त हो जाता है।।

तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कंचित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।। 62।।

अन्वयः–तस्मात्, कश्चित्, न, बध्यते, नापि, मुच्यते, नापि, संसरति, नानाझया, प्रकृतिः, संसरति, बध्यते, मुच्यते, च।।

शब्दार्थः– तस्मात् –इसलिए, **कष्चित्** –कोई, **न** –नहीं, **बध्यते** –बन्धन में पड़ता है, **नाऽपि** –न तो, **मुच्यते** –मुक्त ही होता है, **नाऽपि** –न तो, **संसरति** –संसरण ही करता है, **नानाश्रया** –अनेक पुरुषों के आश्रय से रहने वाली, **प्रकृतिः** –प्रकृति, **संसरति** –संसरण करती है, **बध्यते** –बन्धन में पड़ती है, **मुच्यते** –मुक्त होती है।।

अर्थः—इसलिए कोई पुरुष न तो बन्धन में पड़ता है, न मुक्त ही होता है और न संसरा ही करता है। अनेक पुरुषों के आश्रय से रहने वाली, प्रकृति ही संसरण करती है, बन्धन में पड़ती है, और मुक्त भी होती है।।

व्याख्या —यद्यपि पुरुष तो निगुर्ण और निष्क्रिय एवं परिणाम से शून्य है; अतः वासना सहित अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष, भय— ये पाँचों क्लेश और कर्माशय रूपी जो बन्धन कहलाते हैं, वे पुरुष को नहीं हो सकते हैं; क्योंकि ये अज्ञान आदि तो बुद्धि के परिणाम ही हैं, अतः ये पुरुष को कैसे हो सकते हैं और जन्म—मरण—रूप संसरण भी पुरुष को नहीं हो सकता है; क्योंकि संसरण तो क्रिया है और पुरुष क्रिया से शून्य है। अतः जब पुरुष का बन्ध ही नहीं है, तो उसका मोक्ष भी कैसे हो सकता है, तथापि ये बन्ध और मोक्ष तथा संसार वस्तुतः प्रकृति के ही धर्म हैं और प्रकृति ही नाना रूप धारण करके अपने को बांधती है, संसरण करती है और बन्धन से भी वही छूटती है; परन्तु प्रकृतिगत बन्धमोक्ष आदि का पुरुष में आरोप करके ही यहां पुरुष का मोक्ष कहा गया है; क्योंकि पुरुष बुद्धि से अपने को अभिन्न मानता है। वह बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर बुद्धि के सुख—दुःखों को अपना ही समझता है; अतः प्रकृति के बन्ध और मोक्षों का पुरुष में आरोप कर लिया जाता है और पुरुष इस प्रकार बद्ध और मुक्त कहलाता है। जैसे लड़ने वाले सिपाहियों का ही वास्तविक जय या पराजय होता है, पर उसका राजा में आरोप करके राजा का जय या पराजय कहा जाता है; क्योंकि जय का मुख्य फल— लाभ, हर्ष आदि और पराजय का मुख्य फल— शोक आदि प्रधानतया राजा को ही होता है, अतः सैनिकों के जय—पराजय का उनके स्वामी राजा में आरोप हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञान से ही प्राकृत बन्ध— मोक्ष का पुरुष में आरोप करके पुरुष का बन्ध और मोक्ष कहा गया है। इस आरोप में प्रकृति और पुरुष के अभेद का अज्ञान ही कारण है।।

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।

सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण।। 63।।

अन्वयः—प्रकृतिः, आत्मना, सप्तभिः, रूपैः, आत्मनम्, एव, बध्नाति, च, सा, एव, एकरूपेण, पुरुषार्थम्, प्रति, विमोचयति।।

शब्दार्थः— प्रकृतिः —प्रकृति, **आत्मना** —स्वयं, **सप्तभिः** —सात, **रूपैः** —रूपों द्वारा, **आत्मानम्** —अपने को, **एव** —ही, **बध्नाति** —बांधती है, **च** —और, **सा** —वह, **एव** —ही, **एकरूपेण** —एक रूप द्वारा, **पुरुषार्थम्** —पुरुषार्थ, **प्रति** —के लिए, **विमोचयति** —मुक्त करती है।।

अर्थः—प्रकृति स्वयं धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, एवं अनैश्वर्य इन सात रूपों द्वारा अपने को ही बांधती है, और वही एक रूप द्वारा पुरुषार्थ के लिए अपने आप को ही मुक्त करती है (अर्थात् फिर उसी पुरुष के प्रति भोग और मोक्ष नहीं उत्पन्न करती है।।

व्याख्या —इस प्रकृति के बन्ध और मोक्ष तथा संसरण का हेतु यह है कि प्रकृति अपनी कार्यभूत बुद्धि के परिणामविशेष धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य— इन अपने सात रूपों से अपने को अपने—आप ही पुरुषार्थ के प्रति बान्धती है अर्थात् पुरुष के भोग और मोक्ष के सम्पादन का भार अपने ऊपर लेकर पुरुषार्थ—सम्पादनरूपी कार्यभार में अपने को स्वयं ही बान्धती है और प्राकृत बुद्धि के आठवें

रूप ज्ञान से अपने को भोग और अपवर्गरूप पुरुषार्थ के सम्पादन के कार्यभार से मुक्त कर लेती है अर्थात् जब तक पुरुष को प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान नहीं होता है और वह बुद्धि में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब के कारण ही बुद्धि से अपने को अभिन्न समझता रहता है और बुद्धि के सात रूप धर्म, अधर्म, अज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य, अनुराग आदि के वशीभूत रहता है तभी तक प्रकृति पुरुषार्थ के साधन के लिए स्वयं ही बन्धी रहती है और बुद्धि के परिणामविशेष ज्ञान रूप भाव की सहायता से अर्थात् पुरुष को विवेकज्ञान कराकर वह प्रकृति अपने को पुरुषार्थ–सम्पादनरूप कार्य के भार से स्वयं मुक्त कर लेती है अर्थात् जब तक पुरुष को अविवेक है तभी तक प्रकृति उसकी सेवा करने में अपने–आपको बद्ध करती है और विना पैसे के नौकर की तरह ही उस पुरुष का कार्य करती रहती है और जब वह पुरुष को विवेकज्ञान करा देती है तब वह अपने को पुरुष की निःस्वार्थ सेवा से मुक्त कर लेती है और फिर उस पुरुष के लिए भोगापवर्ग नहीं करती है और स्वयं कार्यभार से मुक्त हो स्वतन्त्र हो जाती है। ये ही बुद्धि के भाव धर्म–अधर्म आदि प्रकृति के बन्ध और मोक्ष के कारण है। यह बन्ध और वास्तव में प्रकृति का ही है, परन्तु पुरुष को बुद्धि के साथ तादात्म्याध्यास होने से वह प्रकृति के इस बन्ध और मोक्ष को अपना ही बन्ध और मोक्ष समझता है।।

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिषेषम्।

अविपर्ययाद्विषुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।। 64।।

अन्वयः–एवम्, तत्त्वाभ्यासात्, न, अस्मि, न, मे, न, अहम्, इति, अपरिशेषम्, अविपर्ययात्, विशुद्धम्, केवलम्, ज्ञानम्, उत्पद्यते।।

शब्दार्थः– एवम् –इस प्रकार, **तत्त्वाभ्यासात्** –तत्त्व के अभ्यास से, **अस्मि** –हूँ, **न** –न, **मे** –मेरा, **न** –न, **अहम्** –मैं, **इति** –इस तरह, **अपरिशेषम्** –सम्पूर्ण, **अविपर्ययात्** –भ्रमादि से रहित होने के कारण, **विशुद्धम्** –विशुद्ध, **केवलम्** –वास्तविक, **ज्ञानम्** –ज्ञान, **उत्पद्यते** –उत्पन्न होता है।।

अर्थः–इस प्रकार तत्त्व के अभ्यास से 'न हूँ', 'न मेरा' और 'न मैं'– इस तरह सम्पूर्ण, भ्रमादि से रहित होने के कारण विशुद्ध तथा वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है।।

व्याख्या –इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से 25 तत्त्वों का तथा उनके सर्गों का तथा उनके अवान्तर भेदों का निरन्तर दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक अभ्यास करते रहने से तत्त्व–साक्षात्कार होकर सत्त्वपुरुषान्यताख्याति – सत्त्व और पुरुष के भेद का साक्षात्कार – प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है और वह ज्ञान संशय और भ्रम से रहित होने से परिशुद्ध और सच्चा है और उसमें मिथ्या ज्ञान का लेश भी नहीं है। अतः संसार और बन्ध का कारण नहीं रहने से पुरुष सर्वथा संसार के बन्धनों से छूट जाता है और उस पुरुष को अपने स्वरूप का दृढ और सत्या ज्ञान हो जाता है कि मैं न तो कुछ करता हूँ और इसीलिए मैं कर्त्ता भी नहीं हूँ और प्रकृति और उसके कार्य बुद्धि आदि मेरे नहीं हैं। मेरे से और उनसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मैं उनसे सर्वथा पृथक् हूँ, अतएव बुद्धि के सुख–दुःख आदि से भी मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; अतः मैं न बद्ध हूँ, न दुःखी हूँ; क्योंकि दुःख और बन्धन आदि तो बुद्धि के ही परिणामविशेष हैं। मैं तो अपरिणामी और निर्लेप हूँ। अतः मैं दुःखी नहीं हूँ। इस प्रकार पुरुष दुःखों से सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है।।

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवषात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्।

प्रकृतिं पष्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः।। 65।।

अन्वयः—तेन, प्रेक्षकवत्, अवस्थितः, स्वस्थः, पुरुषः, निवृत्तप्रसवाम्, अर्थवशात्, सप्तरूपविनिवृत्ताम्, प्रकृतिम्, पश्यति।।

शब्दार्थः— तेन —इससे, **प्रेक्षकवत्** —द्रष्टा के समान, **अवस्थित** —स्थित, **स्वस्थ** —अपने स्वरूप भाव को प्राप्त, **पुरुषः** —पुरुष, **निवृत्तप्रसवाम्** —परिणाम न उत्पन्न करने वाली, **अर्थवषात्** —विवेक ज्ञान के सामर्थ्य से, **सप्तरूपविनिवृत्ताम्** —धर्म, अधर्म इत्यादि सात रूपों से रहित, **प्रकृतिम्** —प्रकृति को, **पष्यति** —देखता है।।

अर्थः—विवेकख्याति के कारण, द्रष्टा के समान स्थित तथा अपने स्वरूपभाव को प्राप्त पुरुष परिणाम न उत्पन्न करने वाली, विवेक ज्ञान के सामर्थ्य से, धर्म, अधर्म आदि सात रूपों से रहित प्रकृति को देखता है।।

व्याख्या —इस प्रकार जब पुरुष को तत्त्व—साक्षात्कार हो जाता है, तब वह पुरुष रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियों से कलुषित जो मलिन बुद्धि, उससे पृथक् होकर स्वच्छ और निष्क्रिय भाव से, उदासीन तटस्थ की तरह बैठा हुआ, निवृत्तप्रसवा और सप्तरूपविनिवृत्ता प्रकृति को उस तत्त्वज्ञान के प्रभाव से देखता है। प्रकृति का कार्य भोग और मोक्ष है। वह भोग और मोक्षरूप कार्य जब प्रकृति कर ही चुकी है तब नया कोई कर्त्तव्य कार्य उस ज्ञानी पुरुष के लिए प्रकृति को करना बाकी नहीं रहा है, अतः वह प्रकृति भोग—मोक्षरूप अपने प्रसव से विरत हो जाती है और अज्ञान से उत्पन्न होने वाले धर्म—अधर्म—वैराग्य आदि पूर्वोक्त सातों रूप भी प्रकृति के निवृत्त हो जाते हैं और इस प्रकार से पुरुष स्वच्छ और मलिन बुद्धिवृत्तियों से असंपृक्त होकर निष्क्रिय रूप से बैठा हुआ निवृत्तपंचा और निवृत्तमायारूपा प्रकृति का साक्षात्कार करता है। यह सत्त्वसाक्षात्कार का ही प्रभाव है, जिससे प्रकृति के अज्ञानप्रभव सातों रूप अज्ञान के हटने से स्वयं नष्ट हो जाते हैं और भोग एवं अपवर्गरूप अपने कार्य से प्रकृति विरत हो जाती है और पुरुष स्वच्छ और निर्व्यापार भाव से स्थित हो, तटस्थ रूप से प्रकृति को देखता है अर्थात् ज्ञान के प्रभाव से प्रकृति की सब माया उसके सामने से दूर हो जाती है और पुरुष स्वच्छ एवं निष्कल्मष होकर कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।।

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्यां

सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य।। 66।।

अन्वयः—एकः, मया, दृष्टा, इति, उपेक्षक, अन्या, अहम्, दृष्टा, इति, उपरमतिः, तयोः संयोगे, सति, अपि, सर्गस्य, प्रयोजनम्, नास्ति।।

शब्दार्थः— एकः —एक, **मया** —मेरे द्वारा, **दृष्टा** —देख ली गई, **इति** —यह विचार करके, **उपेक्षकः** —उदासीन, **अन्या** —दूसरी, **अहम्** —मैं, **दृष्टा** —देख ली गई, **इति** —इस कारण से, **उपरमति** —व्यापार शून्य हो जाती है, **तयोः** —उन दोनों के, **संयोगे** —संयोग, **सति** —होने पर, **अपि** —भी, **सर्गस्य** —सृष्टि—प्रकृति—व्यापार का, **प्रयोजनम्** —प्रयोजन, **नास्ति** —नहीं रहता है।।

अर्थः—एक 'मेरे द्वारा वह देख ली गयी'— यह विचार करके उदासीन हो जाता है। दूसरी 'उस पुरुष के द्वारा मैं देख ली गयी'— इस कारण से व्यापार—शून्य हो जाती है। इस प्रकार उन दोनों के संयोग होने पर भी सृष्टि—व्यापार का कोई प्रयोजन नहीं रहता।।

व्याख्या —यद्यपि प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सर्ग होता है और भोक्तृत्व योग्यतारूप पुरुष का चैतन्य और भोग्यत्व योग्यतारूप प्रकृति के जडता ही उनका संयोग है और पुरुष के चैतन्य की तथा प्रकृति के जडता की निवृत्ति होती नहीं है; क्योंकि प्रकृति और पुरुष— ये दोनों ही नित्य हैं। अतः उनके स्वरूप की भोक्तृत्व—भोग्यत्व योग्यता की निवृत्ति हो नहीं सकती है और जब संयोग है, जब प्रकृति की सृष्टि कैसे रूक सकती है, अतः निवृत्तप्रसवा प्रकृति हो नहीं सकती है; अतश्च निवृत्तप्रसवा प्रकृति को पुरुष तत्त्वज्ञान के बल से देखता है— यह कहना असंगत होता है। यद्यपि भोग और विवेकज्ञान— ये दो ही प्रकृति के प्रसव हैं और दोनों ही जब पुरुष को हो चुके हैं, तब नया क्या प्रसव प्रकृति कर सकती है; अतः करणीय कार्य के अभाव से ही प्रकृति— प्रसवरूप अपने व्यापार से निवृत्त हो जाती है— यह कह सकते हैं, परन्तु किए हुए कार्य को ही प्रकृति पुनः—पुनः कर ही सकती है। जैसे तत्त्वज्ञानरहित पुरुष के लिए प्रकृति बारम्बार उन्हीं शब्द—स्पर्श आदि विषयों का भोग कराती रहती है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए भी तत्त्वज्ञान को ही प्रकृति मुहुर्मुहुः करा सकती है। अतः अपने प्रसवरूप व्यापार से प्रकृति निवृत्त नहीं हो सकती है, किए हुए कार्य को ही वह बारम्बार करा ही सकती है। इसलिए प्रकृति निवृत्तप्रसवा कैसे हो सकती है? प्रसव—निवृत्त हुए बिना संसार—बन्धन कैसे छूटेगा? यह शंका होती है। उसी का समाधान इस कारिका से करते हैं कि पुरुष के लिए जब तक प्रकृति तत्त्वज्ञान नहीं कराती है, तब तक तो वह शब्दादि का मुहुर्मुहुः उपभोग उसे कराती रहती है, परन्तु जब वह जिस पुरुष को विवेकज्ञान करा देती है, तब वह प्रकृति शब्दादि का उपभोग उस पुरुष को पुनः नहीं कराती है, क्योंकि शब्दादि विषयों का उपभोग तो पुरुष अज्ञान से ही करता है और जब पुरुष को विवेकज्ञान हो गया तब उसकी अविवेकख्याति निवृत्त हो गई और अज्ञान के विना वह पुरुष शब्दादि का उपभोग कर नहीं सकता है। अतः प्रकृति उस पुरुष को उपभोग करा ही नहीं सकती है; क्योंकि कारण के विना तो कभी कार्य होता ही नहीं है। यतः बीज के विना कभी अंकुर नहीं होता है। अतः यह प्रकृति उस पुरुष के लिए शब्दादि विषयों के उपभोग को नहीं उत्पन्न करती है और इस पुरुष ने मुझे जान लिया है, इसने मेरा वास्तविक रूप देख लिया है, इसे अब तत्त्वज्ञान हो चुका है— ऐसा जानकर वह प्रकृति अपने व्यापार से उपरत हो जाती है और पुनः—पुनः उसे उपभोग नहीं कराती है और पुरुष भी अज्ञानवश जब तक प्रकृति से अपने को अभिन्न समझता है तभी तक वह प्रकृति के रचे हुए सुख—दुःख—मोहात्मक शब्द—स्पर्श आदि विषयों का उपभोग करता है और प्रकृति के लिए हुए तत्त्वज्ञान को भी अपना उपकारक समझता है और तभी तक वह विवेकज्ञान भी पुरुषार्थ रहता है और पुरुषार्थ के लिए ही प्रकृति स्वभावतः प्रवृत्त होती है; परन्तु जब पुरुष को विवेकज्ञान हो गया कि— 'मैं तो प्रकृति से भिन्न हूँ और ये सुख—दुःख आदि से युक्त भोग भी सब प्रकृति के ही हैं, मेरे से और प्रकृति से तो सर्वथा भेद है' तब वह प्रकृति के द्वारा उपस्थित किए गए भोगों को अपना उपकारक नहीं समझता है और प्रकृति के

सुख–दुःखों को अपने सुख–दुःख नहीं समझता है और प्रकृति के लिए हुए विवेकज्ञान को भी अपना उपकारक नहीं समझता है और प्रकृति से अपना भेद जानकर वह उसकी उपेक्षा करता है। तब वे प्रकृति के किए हुए भोग और विवेकज्ञान पुरुषार्थ ही नहीं रह जाते हैं और जब तक भोग और विवेकज्ञान पुरुषार्थ रहते हैं, पुरुष उन्हें अपना समझता है तभी तक उसके भोग और विवेकज्ञान के लिए प्रकृति प्रवृत्त करते हैं और प्रकृति भी भोग और विवेकज्ञान के लिए प्रवृत्त होती रहती है; परन्तु तब पुरुष को विवेकज्ञान हो गया तब वह प्रकृति के लिए हुए भोग और विवेकज्ञान को अपना समझता ही नहीं है। अज्ञान से ही वह प्रकृति के सुख–दुःखों को अपना समझता था। अब उसका अज्ञान तो नष्ट ही हो चुका है। तब वह प्रकृति के सुख–दुःखों को अपना कैसे समझा सकता है? और जब भोग और मोक्ष पुरुषार्थ नहीं रह गए, तब प्रयोजन के अभाव में निरर्थक प्रकृति पुनः–पुनः शब्दादि का उपभोग और पुनः–पुनः विवेकख्याति को कैसे करा सकती है? अतः प्रकृति पुरुष के संयोग रहने पर भी सृष्टि नहीं होती है। प्रकृति अपने व्यापार से उपरत इस प्रकार हो जाती है और पुरुष भी प्रकृति की एवं उसके कार्यों की उपेक्षा करता है और उसके कार्य सुख–दुःखों को अपने सुख–दुःख नहीं समझता है। इस प्रकार प्रयोजक पुरुषार्थ के अभाव में निष्प्रयोजन सृष्टि करने से प्रकृति निवृत्त हो जाती है। अतश्च निवृत्तप्रसवा प्रकृति को तत्त्वसाक्षात्कारयुक्त तत्त्वज्ञानी पुरुष तटस्थ भाव से ही देखता है– यह सिद्ध हो गया।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ क्या है?
2. पुरुष द्वारा देखने पर प्रकृति क्या हो जाती है?

11.5 सारांष

बुद्धि प्रकृति का प्रथम विकार है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य तथा अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य– ये बुद्धि के सात्त्विक और तामस् भेद से आठ रूप हैं। इन आठ रूपों में ज्ञान से मुक्ति होती है तथा शेष सातों (धर्मादि) से बन्धन होता है। यहां प्रकृति पद जीवात्मा विशेष मनुष्य के लिए पठित हुआ है क्योंकि प्रकृति कोई शरीरधारी प्राणी नहीं है, जो अपने को बन्धन में डाल सके या मुक्त हो सके। चूंकि जीवात्मा का शारीरिक संघटन प्रकृति घटकों से बना हुआ है। तत्त्व व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ है। इस प्रकार 'तत्त्वाभ्यास' का अर्थ व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ का सम्यक् ज्ञान है।

11.6 कठिन शब्दावली

सुकुमारतरम् –अधिक लज्जालु
किंचित् –कुछ
मुच्यते –मुक्त ही होता है
विमोचयति –मुक्त करती है
नानाश्रया –अनेक पुरुषों के आश्रय से रहने वाली
अपरिशेषम् –सम्पूर्ण

तत्त्वाभ्यासात् –तत्त्व के अभ्यास से
उपेक्षकः –उदासीन
अविपर्ययात् –भ्रमादि से रहित होने के कारण
एकः –एक

निवृत्तप्रसवाम् –परिणाम न उत्पन्न करने वाली   **मया** –मेरे द्वारा

अर्थवषात् –विवेक ज्ञान के सामर्थ्य से   **विशुद्धम्** –विशुद्ध

सप्तरूपविनिवृत्ताम् –धर्म, अधर्म इत्यादि सात रूपों से रहित   **सति** –होने पर

उपरमति –व्यापार शून्य हो जाती है   **केवलम्** –वास्तविक

11.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. जीवात्मा
2. सात

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. तत्त्व
2. व्यापार शून्य

11.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. सांख्यकारिका, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, बालकृष्ण त्रिपाठी, बी. 2/2, भदैनी, वाराणसी।
2. सांख्यकारिका, संस्कृत व्याख्याकार– म. म. श्री गुरुप्रसादशास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– आचार्य श्री सीतारामशास्त्री, प्रो. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
3. सांख्य तत्त्व प्रदीप, डॉ. अमल धारी सिंह, भारती विद्या प्रकाशन 1, य.वी. बैंगलो रोड, दिल्ली–07।

11.9 अभ्यास प्रश्न

1. व्यक्त–अव्यक्त तथा ज्ञ को सविस्तार वर्णन करें।
2. सांख्यकारिका के अनुसार बन्धन तथा मोक्ष किसका होता है? स्पष्ट करें।
3. प्रकृति सात रूपों द्वारा अपने आप को बन्धन में डालती है– स्पष्ट करें।
4. 'दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको.............................. प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य' श्लोक की व्याख्या करें।

द्वादष इकाई

कैवल्य स्वरूप

संरचना

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 कैवल्य स्वरूप

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

12.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (67 से 72 कारिका तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

12.5 सारांष

12.6 कठिन शब्दावली

12.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

12.8 अनुषंसित ग्रन्थ

12.9 अभ्यास प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

तत्त्वज्ञान हो जाने पर विवेकी मनुष्य की प्रवृत्ति ज्ञानोन्मुख हो जाती है। बुद्धि के धर्माधर्मादिशेष सात रूप उसके लिए निष्प्रयोजन हो जाते हैं। वह मनुष्य पुनः भोग में प्रवृत्त नहीं होता किन्तु प्रारब्ध कर्मों को तो भोगना पड़ता है, अतएव वह विवेकी तत्त्वज्ञान के हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के संस्कार से उसी प्रकार शरीर धारण किए रहता है। प्रधान की ध्वनि में ज्ञानी मनुष्य का संकेत है जिसे सांख्यकारिका में पुमान् कहा गया है। प्रधान के निवृत्त हो जाने का तात्पर्य है– ज्ञानी मनुष्य के प्रति व्यापार–शून्य हो जाना। अर्थ दो हैं– भोग एवं कैवल्य। इसलिए विनिवृत्तौ द्विवचन रूप में प्रयुक्त हुआ है।

12.2 उद्देश्य

- धर्म–अधर्म ज्ञान
- पच्चीस तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान
- प्राणी उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश
- कैवल्य प्राप्ति

12.3 कैवल्य स्वरूप

सम्पूर्ण कारिका का अर्थ यह है– शरीर के पात होने पर भोग तथा अपवर्ग रूप द्विविध प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने के कारण प्रकृति, उस ज्ञानी मनुष्य के प्रति व्यापार शून्य हो जाती है तथा वह दोनों

नियत एवं अविनाशी कैवल्य प्राप्त कर लेता है। जिन ऐकान्तिक और आत्यन्तिक पदों का प्रयोग ग्रंथ के प्रारम्भ में हुआ है, दुःख निवृत्ति के बाद भी उन्हीं पदों का प्रयोग किया गया है। 'उभयं' पद के परिप्रेक्ष्य में डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य का मत है कि कैवल्य दोनों का होता है पुरुष का तथा लिंग या पुरुशाकार बुद्धि का। मुसलगांवकर कहते हैं कि वस्तुतः मुक्ति तो प्रकृति पाती है, जिससे पुरुष अपने स्वरूप से स्थित हो पाता है। आचार्य माठर की मान्यता है कि विद्वान् कैवल्य प्राप्त करता है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. कर्म कितने प्रकार के हैं?
2. पुरुषार्थ का अर्थ क्या है?
3. पुरुषार्थ का अर्थ है ....

12.4 सांख्यकारिका व्याख्या सहित (67 से 72 कारिका तक)

सम्यक् ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।

तिष्ठति संस्कारवषात् चक्रभ्रमिवद्धृतषरीरः।। 67।।

अन्वयः–सम्यक्, ज्ञानाधिगमात्, धर्मादीनाम्, अकारणप्राप्तौ, संस्कारवशात्, चक्रभ्रमिवत्, धृतशरीरः, तिष्ठति।।

शब्दार्थः– सम्यक् –भली प्रकार, **ज्ञानाधिगमात्** –ज्ञान की प्राप्ति से, **धर्मादीनाम्** –धर्म, अधर्म आदि के, **अकारणप्राप्तौ** –बीजभाव के नष्ट हो जाने पर, **संस्कारवषात्** –संस्कारों के सामर्थ्य से, **चक्रभ्रमिवत्** –चाक के घूमने के समान, **धृतशरीरः** –शरीर धारण करने वाला, **तिष्ठति** –रहता है।।

अर्थः–आत्म–ज्ञान की प्राप्ति से धर्म, अधर्म आदि कर्मों के बीजभाव के विनष्ट हो जाने पर संस्कारों के सामर्थ्य से; कुम्हार की चाक के घूमने के समान; शरीर धारण करके साधक रहता है।।

व्याख्या –यदि प्रधान और उसके कार्यों से पुरुष के पार्थक्य का ज्ञान पुरुष को हो जाने से ही मोक्ष होता है तो विवेकज्ञान होते ही उसके शरीर का पात हो जाएगा। तब शरीर के अभाव में प्रकृति को वह पुरुष कैसे देखेगा? अतः 'प्रकृतिं पश्यति पुरुषः' यह कथन असंगत है और यदि तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी भोग से ही कर्मों के क्षीण होने पर ही मोक्ष होता है तो व्यक्ताऽव्यक्तज्ञ के विज्ञान से तो मोक्ष नहीं हुआ, अतः विवेकज्ञान तो मोक्ष का साधन नहीं कहला सकता और अनन्त जन्म भोग्य कर्माशयों का समूह, जिसके भोग का काल भी नियत नहीं है कि किस कर्म का किस जन्म में फलकाल होगा, उसका कितने जन्मों में भोग समाप्त होगा और जब तक कर्मभोग समाप्त नहीं होंगे तब तक मोक्ष हो नहीं सकता है; अतः कर्मभोग समाप्त होने पर तत्त्वज्ञान से मोक्ष होगा– यह आशा तो दुराशामात्र ही है। ऐसी शंकाओं का समाधान इस 67 वीं कारिका से करते हैं कि अविद्या अहंकार, राग, द्वेष, अभिनिवेश– ये पाँच क्लेश कहलाते हैं। बुद्धिरूपी भूमि अविद्या आदि क्लेशरूप जल से जब सिक्त होती है, तब कर्म रूप बीज अंकुरित होकर जाति आयु और सुख–दुःख का उपभोग इन फलों को उत्पन्न करते हैं। इसी से जन्म, मरण आदि होते रहते हैं और तत्त्वों का जब साक्षात्कार ज्ञान हो जाता है तब अनादि अनियत परिपाक काल वाले भी ये कर्म रूप बीज ज्ञानरूपी प्रचण्ड अग्नि से जल जाते हैं। अतः जले हुए इन

कर्मरूपी बीजों से नया शरीर तथा उसके लिए उपभोग की सामग्री आदि फल नहीं होते हैं; क्योंकि इन बीजों से अंकुर ही नहीं उत्पन्न होता है, तब फल कहां से हो सकता है और बुद्धिरूपी खेती की भूमि में भी जो पूर्वोक्त क्लेशरूपी जल है, वह भी ज्ञानाग्नि के प्रचण्ड सन्ताप से बिल्कुल सूख जाता है, अतः बुद्धिरूप भूमि भी अंकुर की उत्पत्ति के अयोग्य हो जाती है। इससे भी धर्म और अधर्मरूपी बीजों के अंकुर ही नहीं उत्पन्न होता है, अतः नया शरीर तथा आयु एवं उसके लिए भोग भी उत्पन्न नहीं होते हैं। इस प्रकार धर्म–अधर्मरूपी कर्म जल जाने से नए शरीरों के उत्पादन में अकारण हो जाते हैं। अतः नया शरीर तो उत्पन्न ही नहीं होता है; परन्तु जिन कर्मों से यह वर्तमान शरीर बन चुका है और जो कर्म अंकुरित, पल्लवित होकर फल देने के लिए उन्मुख हो चुके हैं, वे ही प्रारब्ध कर्म केवल ज्ञानाग्नि से जलने से बच जाते हैं। शेष संचित कर्म तो सभी जल ही जाते हैं। फिर प्रारब्ध कर्म भी धीरे–धीरे समाप्त हो जाते हैं और जब तक वे कर्म समाप्त होते हैं, तब तक ज्ञानी पुरुष उसी प्रकार इस शरीर को धारण किए रहता है, जिस प्रकार कुम्हार के दण्ड के व्यापार के बन्द हो जाने पर भी कुछ देर तक उसका चक्का अपने–आप वेगाख्य संस्कार के ही कारण घूमता रहता है और वेग समाप्त हो जाने पर वह चक्र फिर शनैः–शनैः रुक जाता है। उसी प्रकार ज्ञानाग्नि के दाह से बचे हुए प्रारब्ध कर्मों के धर्माऽधर्म नामक संस्कारों के कारण ही ज्ञानी का यह वर्तमान शरीर भी कुछ काल तक बना रहता है; क्योंकि प्रारब्ध कर्मों का तो उपभोग से ही क्षय होता है; अतः उपभोग से अपने प्रारब्ध कर्मों के संस्कार की समाप्ति तक यह ज्ञानी बना रहता है।

सारांश यह है कि अनन्त संचित कर्म तो तत्त्वज्ञानीरूपी अग्नि से जल ही जाते हैं, अविद्या आदि क्लेश भी नष्ट हो जाते हैं। कहा भी है– ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। अब थोड़े से जो प्रारब्ध कर्म, जिनका परिपाक फल प्रारब्ध हो चुका है, उसके फलस्वरूप शरीर आदि भोग साधन एवं भोग को तैयार हो चुके हैं। उनका उपभोगमात्र बाकी है– बचे हैं। कहा भी है– प्रारब्धकर्मणान्तु भोगोदेव क्षयः। जैसे धनुषधारी जब बाण चलाना छोड़ देता है, तब आगे का तो फल बन्द हो जाता है, परन्तु बाणवर्षा बन्द होने से पूर्व जो बाण, गोली आदि हाथ से छूट चुके हैं, वे तो अपना कार्य– निशाने पर लगकर पीड़ा आदि करते ही हैं, वैसे ही ज्ञान होने से आगे तो नया शरीर आदि नहीं होते हैं, परन्तु जो शरीर बन चुका है, उसके बनाने वाले कर्म तो भोगने से ही नष्ट होंगे। अतः उन थोड़े से बचे हुए कर्मों का ही उपभोग से नाश करना पड़ता है और उन बचे हुए कर्मों से यह शरीर भी उसी प्रकार कुछ दिन बना रहता है, जैसे कुम्हार का चाक एवं बिजली का पंखा भी कुम्हार के चलाना बन्द कर देने पर एवं बिजली के करेन्ट को स्विच दबाकर बन्द कर देने पर भी अपने वेग नामक संस्कार के कारण ही कुछ देर तक स्वयं भी घूमता रहता है। संस्कार नष्ट हो जाने पर फिर वह अपने–आप बन्द भी हो जाता है।।

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थर्स्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।। 68।।

अन्वयः–शरीरभेदे, प्राप्ते, चरितार्थत्वात्, प्रधानविनिवृत्तौ, ऐकान्तिकम्, आत्यन्तिकम्, उभयम्, कैवल्यम्, आप्नोति।।

शब्दार्थः– शरीरभेदे –शरीर–पात, **प्राप्ते** –हो जाने पर, **चरितार्थत्वात्** –प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने के कारण, **प्रधानविनिवृत्तौ** –प्रकृति के परिणाम बन्द कर देने पर, **ऐकान्तिकम्** –ऐकान्तिक, **आत्यन्तिकम्** –आत्यन्तिक, **उभयम्** –दोनों प्रकार का, **कैवल्यम्** –मोक्ष, **आप्नोति** –प्राप्त करता है।।

अर्थः–शरीर–पात हो जाने पर भोग और अपवर्ग–दोनों ही प्रयोजनों के पूर्ण हो जाने के कारण प्रकृति के परिणाम बन्द कर देने पर वह ऐकान्तिक और आत्यन्तिक– दोनों प्रकार का मोक्ष प्राप्त कर लेता है।।

व्याख्या –दो प्रकार के कर्म हैं– 1. संचित कर्म एवं 2. प्रारब्ध कर्म। संचित कर्म वे हैं, जो धर्म या अधर्म अभी फल नहीं देने लगे हैं, परन्तु कभी न कभी उनका फलकाल अवश्य आयेगा और उन कर्मों के अनुसार नाना योनि भी भोगनी पड़ेगी। प्रारब्ध कर्म वे हैं, जिन कर्मों से फल देना प्रारब्ध हो गया है और जिनके फलस्वरूप यह जन्म प्राप्त हो गया है और नाना प्रकार के भोग भी भोगने प्रारम्भ हो चुके हैं, कुछ भोगे जा चुके हैं, कुछ भोग जीवन भर में भोगने हैं। उनमें से संचित कर्मों का तो ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाने से कारण भाव ही नष्ट हो गया है और अवशिष्ट थोड़े से प्रारब्ध कर्मों का भी भोग कर लेने से जब क्षय हो जाएगा और यह शरीर भी जब कर्मों के भोग लेने से नष्ट हो जाएगा और पुरुष का भोग और मोक्ष– ये दोनों अपने काम पूरे हो जाने के कारण आगे के लिए प्रकृति भी जब अपना सृष्टिरूप कार्य बन्द कर देगी, तब मृत्यु के अनन्तर वह तत्त्वज्ञानी निश्चित और अविनाशी दुःखत्रयध्वंस को प्राप्त कर कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है अर्थात् इस शरीर के छूटते ही वह ज्ञानी मुक्त हो जाता है औ दूसरा शरीर धारण करके दुःखों का भागी नहीं होता है। अतः तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष होता है– यह सिद्ध हो गया।

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।

स्थित्युत्पत्तिप्रलयाष्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम्।। 69।।

अन्वयः–गुह्यम्, इदम्, पुरुषार्थज्ञानम्, परमर्षिणा, समाख्यातम्, यत्र, भूतानाम्, स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः, चिन्त्यन्ते।।

शब्दार्थः– गुह्यम् –अत्यन्त कठिन, **इदम्** –यह, **पुरुषार्थाज्ञानम्** –पुरुष के अपवर्ग रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाला ज्ञान, **परमर्षिणा** –महर्षि कपिल के द्वारा, **समाख्यातम्** –कहा गया, **यत्र** –जिस ज्ञान में, **भूतानाम्** –भूतों की, **स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः** –सृष्टि, स्थिति तथा विनाश, **चिन्त्यन्ते** –विचारे जाते हैं।।

अर्थः–पुरुष के अपवर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाला, अत्यन्त कठिन, यह ज्ञान महर्षि कपिल के द्वारा कहा गया है। जिस ज्ञान भूतों की सृष्टि, स्थिति तथा विनाश का विचार किया जाता है।।

व्याख्या –पूर्वोक्त कारिकाओं में वर्णित, पुरुषों का उपकारक मोक्षसाधन यह ज्ञान महर्षि कपिलाचार्य ने सांख्यशास्त्र में स्वयं कहा है और यह ज्ञान बहुत ही गुप्त और रहस्यभूत है। इसी गूढ ज्ञान को वेदों और आगमों ने भी प्राणियों की सृष्टि और उनकी स्थिति तथा उनके प्रलय के वर्णन के व्याज से नाना प्रकार से कहा है और यह विवेकज्ञान से ही सब प्राणियों के जनन और मरण के रहस्य का भी ज्ञान

होकर उनके बन्ध और मोक्ष का भी पूर्ण रहस्य खुल जाता है और प्रकृति पुरुष के इसी विवेकज्ञान से पुरुष बन्ध से मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। अतः अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति से इस सांख्य शास्त्र का अध्ययन और मनन करना चाहिए तथा इस शास्त्र में प्रतिपादित ज्ञान का दृढ अभ्यास भी करना चाहिए।।

एतत् पवित्रमग्रन्थ मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।

आसुरिरपि पंचषिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्।। 70।।

अन्वयः—मुनिः, अनुकम्पया, एतत्, पवित्रम्, अग्रयम्, तन्त्रम्, आसुरये, प्रददौ, आसुरिः, अपि, पंचशिखाय, च, तेन, बहुधा, कृतम्।।

शब्दार्थः— मुनि —महर्षि कपिल ने, **अनुकम्पया** —कृपा करके, **एतत्** —इस, **पवित्रम्** — पवित्र, **अग्रयम्** —श्रेष्ठ, **तन्त्रम्** —दर्शन को, **आसुरये** —आसुरि को, **प्रददौ** —दिया, **आसुरिः** —आसुरि ने, **अपि** —भी, **पंचषिखाय** —पंचशिख को, **च** —तथा, **तेन** —उनके द्वारा, **बहुधा** —खूब विस्तृत, **कृतम्** —किया गया।

अर्थः—महर्षि कपिल ने कृपा करके इस पवित्र एवं श्रेष्ठ दर्शन को आसुरि को दिया, आसुरि ने भी पंचशिख को दिया और उन्होंने इसे खूब फैलाया।

व्याख्या —इस परम पवित्र सर्वश्रेष्ठ रहस्यभूत ज्ञान को भगवान् कपिल महामुनि ने प्रकट करके कृपा कर अपने शिष्य आसुरि मुनि को सर्वप्रथम बताया और आसुरि मुनि ने भी दया करके अपने शिष्य पंचशिखाचार्य को इस ज्ञान का उपदेश दिया और पंचशिखाचार्य ने भी परम्पराप्राप्त इस ज्ञान को विस्तृत रूप से संसार में फैलाया और सांख्यशास्त्र रूप से जगत् में प्रकटित किया।

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीष्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।

संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्।। 71।।

अन्वयः—शिष्यपरम्परया, आगतम्, एतत्, सिद्धान्तम्, आर्यमतिना, ईश्वरकृष्णेन, सम्यक्, विज्ञाय, आर्याभिः, संक्षिप्तम्।।

शब्दार्थः— शिष्यपरम्परया —शिष्यों की परम्परा से, **आगतम्** —आया हुआ, **एतत्** —यह, **सिद्धान्तम्** —सिद्धान्त, **आर्यमतिना** —विशुद्ध बुद्धिवाले, **ईष्वरकृष्णेन** —ईश्वरकृष्ण के द्वारा, **सम्यक्** —भलीभांति, **विज्ञाय** —जानकर, **आर्याभिः** —आर्या छन्द के माध्यम से, **संक्षिप्तम्** —संक्षेप में कहा गया है।।

अर्थः—शिष्यों की परम्परा से आया हुआ यह सिद्धान्त विशुद्ध बुद्धिवाले ईश्वरकृष्ण के द्वारा भलीभाँति जानकर आर्या छन्द में संक्षिप्त रूप से कहा गया है।।

व्याख्या —उन पंचशिखाचार्य की शिष्यपरम्परा से ही सांख्यसिद्धान्त का यह ज्ञान शुद्धमति मुझ ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ है और उस सिद्धान्त को खूब अच्छी तरह से समझ कर ही मैंने संक्षिप्त रूप से सत्तर कारिकाओं में लिखकर इसे प्रकाशित किया है।।

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।

आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताष्चापि।। 72।।

अन्वयः—आख्यायिकाविरहिताः, च, परवादविवर्जिताः, अपि, सप्तत्याम्, ये, अर्थाः, ते, अर्थाः, किल, कृत्स्नस्य।।

शब्दार्थः— आख्यायिकाविरहिताः —आख्यायिकाओं से रहित, **च** —तथा, **परवादविवर्जिताः** —दूसरों के खण्डन—मण्डन से विरहित, **अपि** —भी, **सप्तत्याम्** —सत्तरकारिकाओं वाली इस सांख्यकारिका में, **ये** —जो, **अर्थाः** —पदार्थ, तत्त्व, **ते** —वे, **अर्थाः** —पदार्थ, तत्त्व, **किल** —निश्चय ही, **कृत्स्नस्य** —समग्र, **षष्टितन्त्रस्य** —षष्टितन्त्र के।।

अर्थः—आख्यायिकाओं से रहित तथा दूसरों के खण्डन—मण्डन से भी विहीन, सत्तरकारिकाओं वाली इस सांख्यकारिका में, जो पदार्थ कहे गए हैं, वे सभी पदार्थ सम्पूर्ण 'षष्टितन्त्र' के हैं।।

व्याख्या —यह सांख्य सप्तति नामक ग्रन्थ सांख्यशास्त्र के सम्पूर्ण पदार्थों का प्रतिपादन करता है; अतः यह शास्त्र ही है; शास्त्र का एकदेश— प्रकरण नहीं है। क्योंकि सांख्य शास्त्र के मुख्य षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ में जो सांख्य के 60 पदार्थ प्रतिपादित किए गए हैं, वे सभी इसमें पूर्णतया वर्णित हैं। केवल षष्टितन्त्र से इस सांख्य सप्तति में इतना ही भेद है कि षष्टितन्त्र में उपोद्धात, फलश्रुति, कथाभाग आदि तथा मतान्तरों का खण्डन, स्वमतस्थापन आदि बड़े विस्तार से दिया है और हमने इस ग्रन्थ में उन अनावश्यक कथाभाग आदि को तथा खण्डन—मण्डन को छोड़ दिया है। शेष सांख्यशास्त्र के जितने भी साठ पदार्थ हैं, उन सबका समावेश इस ग्रन्थ में कर दिया गया है। अतः इससे सांख्यशास्त्र के सभी पदार्थों का पूर्ण ज्ञान हो सकता है। इसलिए यह भी सांख्यशास्त्र ही है। यह केवल सांख्य का प्रकरणमात्र नहीं है।

सांख्यशास्त्र के प्रसिद्ध 60 पदार्थ संक्षेप से ये हैं, जो इसमें वर्णित किए गए हैं—

1. प्रधान की सिद्धि,

2. प्रधान का एकत्व,

3. पुरुष के लिए प्रधान की भोग और अपवर्ग की साधनता तथा प्रधान की सम्पूर्ण जगत् की मूलकारणता,

4. पुरुष और प्रधान का भेद,

5. प्रधान आदि की पुरुषार्थता तथा भोग्यता,

6. पुरुषों की तथा बुद्धि आदि की अनेकता एवं उनका परस्पर में साधर्म्य और वैधर्म्य,

7. मोक्ष,

8. बन्ध,

9. स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों की स्थिति एवं इन्द्रियों तथा बुद्धि आदि अन्तःकरणों का व्यापार,

10. पुरुष की अकर्तृता। ये 10 सांख्यशास्त्र के मूलभूत विषय हैं और 50 अवान्तर विषय हैं। इस प्रकार साठ पदार्थ सांख्यशास्त्र के प्रसिद्ध हैं, जो कि इस प्रकार हैं—

10. प्रधान सिद्धि आदि पूर्वोक्त प्रधान मूल पदार्थ।

50 अवान्तर पदार्थ। जैसे—

पाँच प्रकार का विपर्यय, जो कि 48वीं कारिका में कहा गया है।

नौ प्रकार की तुष्टि, जो 50 वीं कारिका में कही गई है।

आठ सिद्धियाँ।

मन सहित पाँच चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय और वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रिय– ये 11 इन्द्रियाँ हैं, इनकी अशक्ति।

नौ तुष्टियों की अशक्तियाँ अर्थात् नौ प्रकार की अतुष्टि।

आठ असिद्धि।

संक्षेप से इन साठ पदार्थों का इस सांख्य सप्तति में विवेचन किया गया है। अतः यह कारिकाग्रन्थ छोटा होने पर भी पूरे सांख्यशास्त्र – षष्टिदर्शन का सार है। अतः सांख्यशास्त्र के जिज्ञासुओं को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. सांख्यकारिका में मूल कितनी कारिकाएं हैं?
2. महर्षि कपिल द्वारा पवित्र एवं श्रेष्ठ दर्शन किसे दिया गया?
3. प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर .... की प्राप्ति होती है।

12.5 सारांष

दर्शनों में सांख्य दर्शन अत्यन्त प्राचीन तथा महत्वपूर्ण माना जाता है। द्वैतमत प्रतिपादक प्रायः समस्त दर्शनों की आधारशिला 'सांख्य दर्शन' ही है तथा एकात्मवाद (अद्वैत वेदान्त) के महाप्रासाद की सुरम्य पृष्ट भूमि भी है। इस दर्शन की प्राचीनता तथा श्रुतिमूलकता में किसी प्रकार का संशय नहीं है। यत्र–तत्र सर्वत्र ही उपनिषदों में सांख्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। विशेष रूप से श्वेता–श्वतरोपनिषद् तो सांख्य सिद्धान्तों से भरा हुआ है, इस दर्शन के प्रवर्तक ''आदि विद्वान् कपिल'' माने जाते है। सांख्यदर्शन के ज्ञान की प्रधानता के कारण इस दर्शन का नाम सांख्य पड़ा। ईश्वर कृष्ण के अनुसार विशुद्धज्ञान से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है और मनुष्य सभी सांसारिक अज्ञानात्मक बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

12.6 कठिन शब्दावली

अकारणप्राप्तौ –बीजभाव के नष्ट हो जाने पर

ऐकान्तिकम् –ऐकान्तिक

चक्रभ्रमिवत् –चाक के घूमने के समान

चिन्त्यन्ते –विचारे जाते हैं

प्रधानविनिवृत्तौ –प्रकृति के परिणाम बन्द कर देने पर

आत्यन्तिकम् –आत्यन्तिक

स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः –सृष्टि, स्थिति तथा विनाश

पंचषिखाय –पंचशिख को

शिष्यपरम्परया –शिष्यों की परम्परा से

कृत्स्नस्य –समग्र

आर्याभिः –आर्या छन्द के माध्यम से

षष्टितन्त्रस्य –षष्टितन्त्र के

आख्यायिकाविरहिताः –आख्यायिकाओं से रहित

अर्थाः –पदार्थ

परवादविवर्जिताः –दूसरों के खण्डन–मण्डन से विरहित

12.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रश्न –1

1. दो
2. भोग एवं अपवर्ग
3. भोग एवं अपवर्ग

स्वयं आंकलन प्रश्न –2

1. सत्तर
2. आसुरी
3. मोक्ष

12.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. सांख्यकारिका, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, बालकृष्ण त्रिपाठी, बी. 2/2, भदैनी, वाराणसी।
2. सांख्यकारिका, संस्कृत व्याख्याकार– म. म. श्री गुरुप्रसादशास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– आचार्य श्री सीतारामशास्त्री, प्रो. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
3. सांख्य तत्त्व प्रदीप, डॉ. अमल धारी सिंह, भारती विद्या प्रकाशन 1, य.वी. बैंगलो रोड, दिल्ली–07।

12.9 अभ्यास प्रश्न

1. पुरुष का अन्तिम लक्ष्य क्या है? सविस्तार वर्णित करें।
2. साख्यकारिका के अनुसार कैवल्य किसे प्राप्त होता है? सिद्ध करें।
3. पुरुषार्थज्ञानमिदं.............................. यत्र भूतानाम्। व्याख्या सहित वर्णन करें।
4. सांख्यकारिका में पदार्थ कितने माने गए हैं? स्पष्ट करें।

त्रयोदष इकाई

वेदान्तसार : एक परिचय

संरचना

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 वेदान्त दर्शन

13.3.1 वर्ण्य विषय

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

13.4 वेदान्तसार एवं उसके रचयिता – सदानन्द

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

13.5 वेदान्तसूत्र (1–28 तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 3**

13.6 सारांष

13.7 कठिन शब्दावली

13.8 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

13.9 अनुषंसित ग्रन्थ

13.10 अभ्यास प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

दर्शन ज्ञान की वह अबाध सरिता है जिसका प्रवाह सनातन है। ज्ञान की इस विशाल सरिता का उद्‌गम अनेक सहस्राब्दि पूर्व वेदों के काल से माना जाता है। वस्तुतः आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, जीव, जगत्, मोक्ष आदि ऐसे विषय हैं जो स्वरूप परिवर्तन तथा अन्तर के साथ प्रत्येक दर्शन का प्रतिपाद्य विषय रहे हैं।

13.2 उद्देश्य

- वेदान्त को पढ़ने का अधिकारी
- सत्–असत् का भेद
- ब्रह्म ज्ञान
- प्रायश्चित्त कर्म
- नित्य–नैमित्तिक कर्म
- पितृलोक एवं सत्यलोक की उपलब्धि

13.3 वेदान्त दर्शन

'वेदान्त' शब्द का अर्थ है– वेद का अन्त। श्रीयुत बलदेव उपाध्याय जी ने 'अन्त' शब्द को रहस्य या सिद्धान्त, मानकर वेदान्त का अर्थ, वेद का मन्तव्य, वेद का प्रतिपाद्य सिद्धान्त बताया है। सदानन्द मुनि ने तो "वेदान्तो नामोपनिषत् प्रमाणम्।" इस प्रकार वेदान्त की परिभाषा की है।

अन्य विद्वानों ने अधिकतर वेदान्त शब्द का अर्थ वेद की अन्तिम कड़ी उपनिषदों से लिया है। वेदों का सार ही उपनिषदों का विषय है। उपनिषदों में सर्वत्र आत्मा–ब्रह्म पर ही विचार किया है। उपनिषदों के ब्रह्म, आत्म–सम्बन्धी वर्णन के आधार पर आगे चलकर जिस दार्शनिक परम्परा का विकास हुआ, वही आगे चलकर वेदान्त नाम से अभिहित की जाने लगी। इस प्रकार वेदान्त शब्द किसी दर्शनसम्प्रदाय नाम का द्योतक नहीं है अपितु सत्य के लिए प्रयुक्त अन्तिम शब्द है।

13.3.1 वर्ण्य विषय

यद्यपि प्रत्येक दर्शन ने अपना वर्ण्य–विषय उपनिषद् में ही खोजा है, अतः उपनिषद् तो प्रत्येक दर्शन का उद्गम स्थान है, किन्तु वेदान्त का सम्पूर्ण कलेवर ही उपनिषद् है। डॉ. हरिदत्त शास्त्री ने वेदान्त को उपनिषद् के सुपुत्र की उपमा दी है। पिता–पुत्र के पारस्परिक अन्तर के समान वेदान्त और उपनिषद् में स्वल्प विभेद है। उपनिषदों में जो सिद्धान्त यत्र–तत्र असम्बद्ध अवस्था में उपलब्ध हैं, तर्क की कसौटी पर जो कसे नहीं गए; उन्हीं सिद्धान्तों को वेदान्त में सुसम्बद्ध क्रम में तथा तर्क की कसौटी पर कसा गया है–

"वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्।

वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते।।" (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य)

डॉ. ए.बी. कीथ का कथन है– "उत्तर मीमांसा का वेदान्त उपनिषदों के समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों को अपने अन्दर सन्निविष्ट करने वाले एक ही दर्शन के निर्माण के उद्देश्य से उन सिद्धान्तों को समन्वित रूप में दिखाता है।"

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. वेदान्त शब्द का अर्थ क्या है?
2. दर्शन के लिए आंगल भाषा में किस शब्द का प्रयोग होता है?

13.4 वेदान्तसार एवं उसके रचयिता – सदानन्द

वेदान्त दर्शन भारतीय चिन्तनधारा में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोत्कृष्ट है। वेदान्त के आध्यात्मिक चिन्तन के उत्कर्ष से हर तत्त्व चिन्तक प्रभावित हुआ है। वेदान्त दर्शनाचार्यों ने खण्डन–मण्डन के आधार पर इसके प्रमुख तत्त्वों को उजाकर किया सदानन्द के गुरुकृपा अपनी प्रतिभा का प्रयोग करके इन सिद्धान्तों को सरल तथा बोधगम्य भाषा में एकत्र करके पाठकों तक पहुँचाने का कार्य किया तथा संसार की वास्तविकता से जन–जन को परिचित करने का भरसक प्रयत्न किया उन्होंने प्रत्येक मानव में स्वानुभूति जगाने का सफल प्रयास किया, क्योंकि दिशा और काल की अवधि से परे शुद्ध चैतन्य ही एक मात्र

वास्तविकता है जिससे जानने का मार्ग आत्माज्ञान या स्वानुभूति ही है। भर्तृहरि का यह पद्य इस बात को परिपुष्ट करता है–

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मामूर्त्तये।

स्वानुभूत्येकमानाय नमः श्यान्ताय तजसे।।

वेदान्तसार यद्यपि सदानन्द की मौलिक रचना न होकर शंकर के शारीरिक भाष्य के आधार पर अद्वैत सिद्धान्त अनुकरणकर्त्ताओं के लिए ज्ञान का मार्ग है। ब्रह्मजिज्ञासुओं के लिए यह प्रज्जवलित दीपशिखा है जो लेखक की मौलिक प्रतिपादन कुशलता को द्योतित करती है अन्य विद्वानों की तरह वे बात को घुमा–फिरा कर न कह कर सीधे तथा सरल ढंग से पाठकों तक पहुँचा कर उन्हें ब्रह्म–ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

सदानन्द की एकमात्र कृति 'वेदान्तसार' सिद्ध करती है कि वे योगी होने के साथ–साथ वेदान्त का प्रचार–प्रसार स्वान्त–सुखाय परहिताय मानव मात्र के मध्य करना चाहते थे इसीलिए उन्होंने वेदान्त दर्शन के सभी प्रमुख एवं जनकल्याणकारी सिद्धान्तों को संग्रहीत करके इस कृति का सृजन किया उन्होंने अपने मंगलाचरण में उस अपरम्पार सत्ता परम ब्रह्म का स्वरूप विवेचन करने के साथ–साथ सम्पूर्ण संसार के कल्याण की भी कामना की जो उसके उदात्त एवं समष्टि हितकारी रूप का प्रतिपादक है। वे एक विनीत भक्त थे जो सब को सुखी बनने का मूल मन्त्र देना चाहते थे।

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्

आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये।।

गुरु के प्रति अपार श्रद्धा, विद्वानों के प्रति आदरभाव उनके व्यक्तित्त्व का बहुत आकर्षक रूप है। उनका निरभिमानी रूप भी इस बात से प्रदर्शित होता है। उन्होंने स्पष्ट लिखा कि वे अपनी मति के अनुसार केवल दूसरों के हितार्थ इस वेदान्त प्रकरण की रचना की।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. वेदान्त दर्शन के रचयिता कौन हैं?
2. वेदान्त सूत्रों के रचयिता कौन हैं?

13.5 वेदान्तसूत्र (1–28 तक)

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।

आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये।। 1।।

अन्वयः–अखण्डं, सच्चिदानन्दम् अवाङ्मनसगोचरम् अखिलाधाम् आत्मानम् अभीष्टसिद्धये आश्रये।।

अनुवाद –आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए अथवा ग्रन्थ की समाप्ति के लिए सर्वदा वर्तमान, चेतन एवं आनन्दस्वरूप, वाणी और मन की पहुंच से परे, सम्पूर्ण स्थावर–जंगमरूप प्रपंच के आधारभूत, अखण्ड परमात्मा का आश्रय ग्रहण करता हूँ।

व्याख्या – 1. आत्मा (आत्मा) –यहां पर आत्मा परमात्मा के अर्थ में आया है। आत्मा का योग वेदान्तसार में जीव–आत्मन् के लिए भी आया है, जो वस्तुतः ब्रह्म के साथ तादात्म्य रखता है।

2. अखिलाधारम् –'यतो व इमानि भूतानि जायन्ते, वह जिससे यह सभी पदार्थ विकसित हुए हैं, उत्पन्न हुए हैं। वस्तुतः सृष्टि, स्थिति और विनाश का कारण है। ब्रह्मसूत्र का 'जनमाद्यस्य यतः' सूत्र इसी अर्थ का बोधक है।'

3. अभीष्टसिद्धये –लेखक की विशिष्ट कामना की पूर्ति के लिए अर्थात् शास्त्रसम्मत वेदान्तविषय के निरुपण के लिए। रामतीर्थ ने अभीष्ट से तीन प्रकार की अर्थ निवृत्ति मानी है– (1) शास्त्रीय अर्थ का बोध न होना, (2) अन्यथा बोध होना तथा (3) विरूद्ध बोध होना।

4. ब्रह्म –मुण्डक उपनिषद् में यह कथा है– सुनक के पुत्र अंगिरस ऋषि के पास पहुंचे और उनसे नम्रता से पूछा कि वह कौन सी वस्तु है जिसके जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाएगा? ऋषि अंगिरस ने उत्तर दिया– 'ब्रह्म'। वेदान्त दर्शन और उपनिषद् कहते हैं कि यही भारतीय दार्शनिकों का लक्ष्य है।

5. सत् –वेदान्त दर्शन में तीन प्रकार की सत्ताएं स्वीकार की गई हैं– (क) पारमार्थिक, (ख) व्यावहारिक तथा (ग) प्रतिभासिक। ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता है; व्यावहारिक सत्ता में ईश्वर, जीवात्मा, स्वर्ग, नरक और सम्पूर्ण सृष्टि आती है। ये सब अज्ञान से कल्पित हैं और स्वप्न से अधिक स्थायित्व नहीं रखते किन्तु मनुष्य व्यवहार में उन्हें वास्तविक अस्तित्व वाला मानकर चलता है, अतः वह परम्परया एवं व्यवहारेण अस्तित्व वाले माने जाते हैं।

6. चित्त अथवा चैतन्य –यह ब्रह्म का प्रचलित प्रतीक है पर 'चित्त' शब्द तैत्तिरीय उपनिषद् में ज्ञान के लिए भी आया है, किन्तु शंकर के अनुसार चित्त बुद्धि का अर्थ नहीं रखता। निरपेक्षता और सत्यता से सम्बद्ध है।

7. आनन्द –सांख्य प्रवचनभाष्य में पूछा गया है कि क्या आत्मा आनन्द है? उत्तर में कहा गया है कि आत्मा को किसी प्रकार आनन्द कह सकते हैं।

8. अखण्डम् –नृसिंह सरस्वती ने अखण्डम् को समझाने में उदाहरण दिया है– जैसे एक वृक्ष है। उसमें स्वगत विविधताएं हैं जैसे, पत्तियाँ, फूल, फल। साथ ही वह कुछ ऐसी भी वस्तुएं रखता है जो दूसरे वृक्षों में भी हैं, साथ ही वह कुछ ऐसी भी वस्तुएं रखता है जो अन्य पदार्थों जैसे पाषाण आदि में हैं, किन्तु ब्रह्म ऐसा नहीं है। वह निरपेक्ष और अपरिवर्तनशील है, वह यथार्थ सत् है। छान्दोग्य उपनिषद् में आया है 'सदेवसोम्य इदमग्र आसीद एकमेवाद्वितीयम्'। विद्यारण्य ने भी पंचदशी में वृक्ष के उदाहरण से ब्रह्म को अखण्ड अर्थात् सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदशून्य कहा है। अनेक स्थानों पर वेदान्त से त्रिविध भेद का निराकरण किया गया है।

9. सच्चिदानन्द –अनेक शंकाओं का निराकरण करने के लिए ब्रह्म को सत्, चित् और आनन्द कहा गया है, क्योंकि अखण्ड, अनृत् और शून्य भी हो सकता है, इसलिए ब्रह्म का सत् विशेषण दिया गया है, क्योंकि जगत् की सृष्टि निराधार नहीं हो सकती है। अतएव ब्रह्म को सत् कहा गया है, वह अनृत् एवं शून्य नहीं है। इससे बौद्धों का शून्यवाद खण्डित हो जाता है। चित् कहने से ब्रह्म की अन्धकार के समान जड़ता का निराकरण होता है अर्थात् वह ज्ञानरूप है चैतन्य उसका गुण नहीं है।

तैत्तिरीय उपनिषद् कहता है– 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' ज्ञान और ब्रह्म का समानाधिकरण है। बृहदारण्यण उपनिषद् में ब्रह्म के सर्वगुण का विस्तार के साथ प्रतिपादन हुआ है।

10. अवाङ्मनसगोचरम्–अनेक श्रुतियों में आत्मा के वाणी और मन का तथा इन्द्रियों का विषय न होने का प्रतिपादन किया गया है। जैसे तैत्तिरीय 2/9, केन 1/3, माण्डूक्य 7, कठ ''नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।'' इसी प्रकार केन 1/4,5 और 2/2/15, मुण्डक 2/2/10 में आत्मा को बुद्धि, मन, प्राण और इन्द्रियों में अगम्य प्रतिपादित किया है।

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः।

गुरुनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामतिः।। 2।।

अन्वयः–अतीतद्वैतभानतः, अर्थतः, अपिः, अद्वयानन्दान् गुरुन् आराध्य यथामति वेदान्तसारं वक्ष्ये।।

अनुवाद –समस्त भेदभाव से शून्य होने के कारण यथार्थतः अभेदानन्दयुक्त अद्वयानन्द नामक गुरु की आराधना करके यथाबुद्धि वेदान्तसार को कहूँगा।

व्याख्या – 1. अद्वयानन्द–सदानन्द योगीन्द्र अपने गुरु अद्वयानन्द तथा ब्रह्म दोनों को प्रस्तुत पद्य में प्रणाम करता है। इसके गुरु यथार्थनामा अर्थात् अद्वितीय आत्मतत्त्व में आनन्द पाने वाले थे। उनका द्वैतभाव निरस्त हो चुका है और वे परम सत्ता का साक्षात्कार करके सार्थक नाम हो गए हैं। अद्वयानन्द शब्द गुरु और ब्रह्म दोनों का संकेत करता है।

2. अतीतद्वैतभानतः –विद्वन्मनोरंजनीकार ने व्याख्या की है– दूर हो गया है द्वैत जिससे वह हुआ अतीतद्वैत। उसका भान अर्थात् साक्षात्कार, 'अतीतं द्वैतं यस्मात् तत् अतीतद्वैतं प्रत्यात्मतत्त्वं, तस्य भानम् साक्षात्कारः तस्मात् अतीतद्वैतभानतः।' किन्तु सुबोधिनीकार ने इस प्रकार की व्याख्या की है– अतीतं गतं द्वैतभानं यतः तस्मात् निरस्तसमस्तभेदज्ञानत्वात् इत्यर्थः। अर्थात् समस्त भेद ज्ञान से परे होने से। वस्तुतः द्वैतप्रतीति से छुटकारा पा जाना ही आनन्द प्राप्त करना है। श्रुति कहती है– 'तत्र कः मोहः, कः शोकः, एकत्वमनुपश्यतः।'

सदानन्द के गुरु जीवन्मुक्त हो गए हैं– जीवन्मुक्त की दो दशायें होती हैं– (1) जहाँ सांसारिक द्वैतप्रतीति–ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान–अद्वैत में विलीन हो जाते हैं। (2) जहां बाह्य भेद इन्द्रियों से प्रतीत तो होते हैं, पर उनसे अद्वैत में बाधा नहीं पड़ती।

3. यथामति–वेदोपनिषत् से प्रमाणित एवं निःसृत वेदान्तशास्त्र का जो अत्यन्त गम्भीर विषय है, वह सीमित शक्ति रखने वाले मनुष्य के द्वारा विवेचित होना असम्भव है, अतः ग्रन्थकार कहता है कि मैं अपनी बुद्धि के अनुसार व्याख्या में प्रवृत्त होऊँगा। जैसे– 'अपि महति जलार्णवे निमग्नाः, सलिलमुपादयते मितं हि मीनाः।'

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।। 3।।

अनुवाद –उपनिषदों को प्रमाणस्वरूप मानकर चलने वाले शास्त्र वेदान्त हैं तथा तदनुसारी शारीरक सूत्र भी वेदान्त हैं।

व्याख्या – 1. वेदान्त–'वेदान्त' शब्द की 'वेदानाम् अन्तःइति वेदान्तः' इस वृत्ति के अनुसार वेदों का अन्त है। वेदान्त कई अर्थों में उपयुक्त है–

(क) वेदशब्दवाच्य संहिता–ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों में इसकी रचना सबसे अन्त में हुई है।

(ख) इस काल तक वेदशब्दवाच्य सम्पूर्ण ग्रन्थ मौखिक रूप में ही थे उनका ज्ञान केवल गुरु से प्राप्त किया जा सकता था और गुरुजन भी वैदिक शिक्षाक्रम में इन्हें सबसे अन्त में पढ़ाते थे क्योंकि यज्ञादि के रहस्यों तथा दार्शनिक विचारों से युक्त होने के कारण ये अधिक जटिल एवं कठिन थे।

(ग) वेदों के स्वाध्याय क्रमानुसार उपनिषदों का अन्त में पाठ करना पुण्य समझा जाता था।

(घ) आचार्यों के मतानुसार वेद(ज्ञान) उपनिषद् ग्रन्थों में अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर गया है। इनमें ज्ञान की चरम सीमा है।

2. उपनिषत्–'उपनिषत्' शब्द ज्ञानकाण्ड के उस विशाल दार्शनिक साहित्य को बोधित करता है जो वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ। लेकिन इस शब्द के मूल अर्थ के विषय में कुछ मतभेद हैं। यह उप और नि उपसर्गपूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। 'षद्लृविशरणगत्यवसादनेषु' के अनुसार सद् धातु के विशरण (नष्ट होना), गति (जाना) तथा अवसादन (शिथिल करना) तीन अर्थ हैं। वस्तुतः उपनिषत् का मूल और प्राचीनतम भाव था– किसी गुप्त ज्ञान की उपलब्धि के लिए शिष्य का गुरु के समीप बैठना। विकास की दूसरी अवस्था में इसका अर्थ हुआ– वह गोपनीय सिद्धान्त या ज्ञान जो ऐसी गुप्त स्थिति में दिया जाय। इसी से उपनिषदों के लिए 'रहस्यम्' पर्याय शब्द प्रयुक्त होता है।

3. शारीरकसूत्रादीनि–विद्वन्मनोरंजिनी में शारीरकसूत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है– 'शरीरमेव शरीरकं तत्र भवो जीवः शारीरकः स सूत्र्यते याथातथ्येन निरूप्यते यैस्तानि शारीरकसूत्राणि अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादीनि।' अर्थात् कुत्सार्थक का प्रत्यय शरीर शब्द से लगकर शरीरक बनकर– 'तत्र भवः' से अण् प्रत्यय जुड़कर शारीरक शब्द व्युत्पन्न होकर अर्थ होगा– कुत्सित शरीर में रहने वाला जीवात्मा। उसे जीवात्मा का यथार्थ स्वरूप का निरुपण जिन सूत्रों द्वारा होता है, वे शारीरक सूत्र कहलाते हैं। शारीरक सूत्रों के रचयिता व्यास महर्षि हैं।

अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात् तदीयैः एव अनुबन्धैः तद्वत्तासिद्धेः,

न ते पृथगालोचनीयाः।। 4।।

अनुवाद –यह वेदान्तसार वेदान्त का ही अंग है अतः उसी वेदान्त के अनुबन्धों से ही अनुबन्धवत्ता सिद्ध होने के कारण उनका पृथक् निर्देश करने की अपेक्षा नहीं।

व्याख्या – 1. प्रकरण –विद्वान् लोग एक शास्त्र के एक भाग के प्रतिपादक तथा प्रयोजनवश अन्य शास्त्रों के भी उपयुक्त अंशों को ग्रहण करने वाले (विषय प्रतिपादन की दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले) ग्रन्थान्तर भी प्रकरण कहे जाते हैं। यथा प्रस्तुत ग्रन्थ 'वेदान्तसार' वेदान्त दर्शन का प्रकरण है।

2. अनुबन्ध –किसी भी ग्रन्थ का पठनारम्भ करते समय– (क) इसे पढ़ने का अधिकारी कौन है? (ख) इसमें कौन सा विषय निबद्ध है? (ग) इसमें लिखित विषय तथा पुस्तक का क्या सम्बन्ध है? तथा (घ) इसे पढ़ने का क्या प्रयोजन है? इन चार प्रश्नों के प्रत्येक उत्तर को अनुबन्ध तथा चारों को मिलाकर अनुबन्धचतुष्टय कहा जाता है। जब तक कोई यह नहीं जानेगा कि यह प्रश्न किस विषय का है, मैं इसे समझ सकता हूँ कि नहीं, इसके पढ़ने से मुझे लाभ होगा अथवा नहीं, तब तक वह पढ़ने में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

तत्र अनुबन्धो नाम अधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि।। 5।।

अनुवाद –उनमें अधिकारी, वर्ण्य–विषय, प्रस्तुत पुस्तक तथा मूल ग्रन्थ का परस्पर सम्बन्ध तथा (अध्ययन का) प्रयोजन। ये अनुबन्ध कहे जाते हैं।

व्याख्या – 1. तत्र –इस 'तत्र' का संकेत विद्वन्मनोरंजिनी में वेदान्तशास्त्र अर्थ किया गया है, लेकिन सभी संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में अनुबन्धों का वर्णन होने से वेदान्तशास्त्र अर्थ अधिक उचित नहीं हो सका। यहां 'अनुबन्धों में' यह शब्दार्थ अधिक उचित है। अब वेदान्तसार के रचयिता सदानन्दयोगीन्द्र क्रमशः अनुबन्धचतुष्टय का विशद विवेचन करते हैं। सर्वप्रथम वे अधिकारी को लेते हैं।

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदांगत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनिजन्मा –न्तरेवाकाम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायष्वित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिल –कल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता।। 6।।

अनुवाद –अधिकारी तो वही हो सकता है, जिसने इस जन्म या पूर्व जन्म में पहले विधिपूर्वक वेद–वेदांगों का अध्ययन करके सम्पूर्ण वेदों का अर्थज्ञान उपलब्ध करके काम्य कर्म तथा शास्त्रों के द्वारा निषिद्ध कर्मों का त्याग किया हो, तत्पश्चात् जिसका अन्तःकरण नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना कर्मों को करने से सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अत्यधिक स्वच्छ हो गया हो, ऐसा चार साधनों से सम्पन्न प्रमाता ही अधिकारी है।

व्याख्या – 1. विधिवदधीतवेदवेदांगत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थः –नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान शास्त्रीय विधि के अनुसार किया जाने के कारण इन कर्मों को करने की योग्यता उपलब्ध करने के लिए वेद वेदांग– शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष का अध्ययन करके उनके अर्थ को समझना जरूरी है। इसी को यहां उपुर्यक्त वाक्य के द्वारा बताया गया है। क्योंकि इस प्रकार भली–भाँति अध्ययन करने से स्वयं ही वेदों तथा वेदांगों का अर्थज्ञान हो जाता है।

2. अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा– कुछ लोग वेदादि का स्वाध्याय तथा नित्यादि कर्मों के अनुष्ठान के बिना ही शुद्धचित्त वाले (तत्त्वदर्शी) हो जाते हैं तो स्वाध्याय और कर्मानुष्ठान का आवश्यक होना क्यों बताया गया है? इस शंका का समाधान करने के लिए ग्रन्थकर्त्ता ने प्रस्तुत वाक्य सम्मिलित किया है। महात्मा विदुर तो शूद्रा दासी के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण वेदादि के स्वाध्याय तथा नित्यादि कर्मों के अनुष्ठान के अधिकारी न थे, तथापि महाभारतादि ग्रन्थों में तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुष के रूप में उनका उल्लेख हुआ है। तब वहां वेदस्वाध्याय तथा नित्यादिकर्मानुष्ठान आवश्यक नहीं है, इसका

निराकरण प्रस्तुत वाक्य के द्वारा ही होता है। अन्तःकरण के निर्मल होने के लिए केवल एक ही जन्म की साधना पर्याप्त नहीं, अपितु अनादि जन्मों की कल्मषतारूपी पत्तों को अन्तःकरण रूपी दर्पण से दूर करने के लिए सहाध्यवसाय, प्रयत्न तथा धैर्य की आवश्यकता है।

3. काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन–प्रस्तुत अंश के द्वारा समस्त कल्मषों को दूर करने का हेतु बताया गया है। कामवासना से किए जाने वाले (कामवासना शुद्धि की साक्षात् बाधिका है) काम्य कर्म तथा अन्तःकरण की शुद्धिबाधक अभक्ष्य भक्षण आदि निषिद्ध कर्मों का परित्याग किए बिना रागादि वासनाओं की कल्मषता का निवारण नहीं हो सकता तथा नित्य नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना कर्मों का अनुष्ठान इन कल्मषों की निवृत्त्यर्थ आवश्यक है। अतः काम्य एवं निषिद्ध कर्मों को छोड़कर नित्यादि कर्मों को करना चाहिए।

4. निर्गतनिखिलकल्मषतया–निर्गतानि निखिलानि कल्मषानि यस्य सः निर्गतनिखिलकल्मषः तस्य भावः (तल् प्रत्यय) निर्गतनिखिलकल्मषता तयां इस वृत्ति के अनुसार इस शब्द के द्वारा यह बताया गया है कि अन्तःकरण से समस्त रागद्वेष आदि वासनात्मक कल्मषों के निकल जाने पर अन्तःकरण शुद्ध होता है।

5. साधनचतुष्टयसम्पन्नः–साधनानां चतुष्टयं इति साधनचतुष्टयं, तेन सम्पन्नः' इस वृत्यानुसार आगे कहे जाने वाले नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमादि छः सम्पत्तियाँ तथा मुमुक्षुत्व इन चार साधनों से सम्पन्न होना ब्रह्म विद्या (वेदान्त) में अधिकार प्राप्त करने के लिए आवश्यक होने से इनके बिना (साधनचतुष्टय के बिना) वेदान्त का अधिकारी होना असम्भव है।

6. प्रमाता–प्रमाणों के द्वारा जो लौकिक तथा वैदिक दोनों ही प्रकार के व्यवहार में भ्रमरहित होकर समर्थ होता है, वही व्यक्ति पूर्वलिखित साधनचतुष्ट्य से युक्त होकर वेदान्त का 'प्रमाता' अधिकारी हो सकता है।

काम्यानिस्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि।। 7।।

अनुवाद –स्वर्ग प्राप्ति से सम्बन्धित कामनाओं से किए जाने वाले ज्योतिष्टोम यज्ञादि काम्य कर्म है।

व्याख्या – 1. काम्य–जो कर्म किसी फल के उद्देश्य से किए जाते हैं, वे काम्य कर्म कहलाते हैं। कहा भी गया है–

'फलोद्देशेन विधियमानानि कर्माणि काम्यानि'

स्वर्ग आदि की उपलब्धि इनका (काम्य कर्म का) फल है।

2. ज्योतिष्टोम–इसका शब्दार्थ है अग्निस्तुति में कथित मन्त्र किन्तु यहां (प्रस्तुत अंश में) अग्निष्टोम योग से तात्पर्य है। ''ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'' इसी श्रुति पर जो वैदिक आदेश आधारित है, वह अग्निष्टोम यहाँ अभिप्रेत है। यद्यपि ज्योतिष्टोमादि धर्म के साधन एवं पुण्य देने वाले अच्छे कर्म होते हुए भी जन्म–मरण का हेतु हैं, क्योंकि अच्छे कर्म करने से भी उनका फल भोगने के लिए जन्म लेना ही पड़ेगा, चाहे वह किसी सम्पन्न घर में हों इस भाँति अच्छे कर्म भी जन्म–मरण का

हेतु होने से मोक्षप्रद नहीं होते, अतः ज्योतिष्टोमादि यज्ञ कर्म भी उनका बन्धन होने से वेदान्ताधिकारी होने में वर्ज्य हैं।

निषिद्धानिनरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि।। 8।।

अनुवाद –नरक जैसी अनिष्ट वस्तुओं को प्राप्त कराने वाले ब्रह्महत्या आदि निषिद्ध कर्म हैं।

व्याख्या – 1. निषिद्ध–मनुष्य भ्रमवश जिन अनिष्टकारक कर्मों को अपने अभीष्ट का साधन मानकर करता है तथा वेदों में 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' आदि श्रुतियों द्वारा जिनका निषेध किया है वे निषिद्ध कर्म कहे जाते हैं।

2. ब्राह्मणहनन–'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' आदि श्रुति निषेधाद्वारा ब्राह्महत्या (ब्रह्मण की हत्या) निषिद्ध की गई है। इस भाँति गोहत्या का भी शास्त्रों में निषेध किया गया है।

नित्यानि–अकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि।। 9।।

अनुवाद –जिनके न करने से हानि हो, वे नित्य कर्म कहलाते हैं, उदाहरणार्थ सन्ध्यावन्दन आदि।

व्याख्या – 1. नित्य–जिन कर्मों को रोकने से कोई विशेष पुण्य नहीं होता किन्तु न करने से पाप बढ़ जाता है, नित्य कर्म कहे जाते हैं।

2. सन्ध्यावन्दनादि–जैसे प्रतिदिन स्नान तथा दन्तमार्जन से कोई पुण्य नहीं होता लेकिन यदि इन्हें न किया जाए तो शरीर में मल इकट्ठा हो जाने से स्वास्थ्य विकृत हो जाता है, उसी भाँति जाने–अनजाने ही जो छोटे–मोटे पाप उत्पन्न हो जाते हैं, उन्हें एकत्रित होने से बचने के लिए सन्ध्यावन्दन आदि कार्य किए जाते हैं तथा नित्य कर्म कहे जाते हैं। कोलब्रुक कहते हैं– प्रातः, दोपहर और सायंकालीन सन्ध्या–स्नान की विशिष्ट प्रतिभा आज भी माघ, फाल्गुन और कार्तिक स्नानों में प्राप्त होती है। प्रायः पवित्र नदियों में स्नान करते हैं। स्नान के साथ गायत्री का जप सन्ध्या की विशेषता है– 'तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।' पंचमहायज्ञ भी नित्यकर्मों में स्वीकार किए जाते हैं– ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ तथा पितृयज्ञ।

नैमित्तिकानि–पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्टयादीनि।। 10।।

अनुवाद –पुत्रोत्पत्ति आदि के अवसर पर (शास्त्रों में निर्दिष्ट) ज्ञातेष्टि यज्ञ आदि नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं।

व्याख्या – 1. नैमित्तिक–किसी निमित्त को उपलब्ध कर अवश्य कर्त्तव्यता होने के कारण से जो श्रुतियों द्वारा अभिहित किए गए हैं वे नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं।

2. जातेष्टि– पुत्र उत्पन्न होते ही शास्त्रों द्वारा विहित विधि के अनुसार पिता जो यज्ञादि के द्वारा जातकर्म संस्कार करता है उसे ही 'जातेष्टि' कहा जाता है।

प्रायश्चित्तानि–पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि।। 11।।

अनुवाद– पापक्षालनार्थ किए जाने वाले चान्द्रायण आदि व्रत प्रायश्चित्त कर्म कहे जाते हैं।

व्याख्या – 1. प्रायष्चित्त–शास्त्रों में विहित कर्म को न करने से तथा शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्मों को न रोकने से जो पाप उत्पन्न होता है उसके निवारणार्थ, जो कर्म किए जाते हैं, उन्हें प्रायश्चित्त कर्म कहते हैं।

2. चान्द्रायण–मनुस्मृति में चान्द्रायण चार प्रकार का कहा गया है– पिपीलिकामध्य, यवमध्य, गति और शिशु एक प्रकार का लोकविख्यात प्रायश्चित्त व्रत है। इसमें चन्द्रमा के बढ़ने और घटने के अनुसार ही आहार (ग्रास) बढ़ाया और घटाया जाता है।

उपासनानि–सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि।। 12।।

अनुवाद –सगुण ब्रह्मविषयक मनोवृत्ति के स्थिरीकरण के लिए किए जाने वाले कर्म उपासना कहे जाते हैं। जैसे– शाण्डिल्यविद्या आदि।

व्याख्या – 1. उपासनानि–चराचर जगत् को ब्रह्म का रूप जानकर उसमें आदरपूर्वक चिरकाल पर्यन्त अपनी मनोवृत्ति को स्थिर करने के लिए जिन कर्मों को किया जाता है, उन्हें उपासना कर्म कहते हैं। उपासना और ज्ञान दो पृथक्–पृथक् वस्तुएं हैं। ज्ञान में ज्ञाता तथा ज्ञेय एक–एक हो जाते हैं तथा आराध्य और आराधक पृथक्–पृथक् हो जाते हैं।

2. शाण्डिल्यविद्यादि–शाण्डिल्य ऋषि ने 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' से लेकर 'स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरे भारूपः' यहां छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि संसार और आत्मा की ब्रह्मरूप में उपासना करनी चाहिए इसीलिए इसे शाण्डिल्य विद्या कहा गया है।

3. सगुण ब्रह्म–ब्रह्म जो कि उत्पत्ति, पालन एवं विनाशादि युक्त है, सगुण कहलाता है। उपासना पद्धति में परम सत्ता की जिस रूप में साधना की जाती है, वह सगुण रूप में ही होती है।

एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धि परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकाग्रयम्। ''तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन'', इत्यादिश्रुतेः ''तपसा कल्मषं हन्ति'' इत्यादिस्मृतेश्च।। 13।।

अनुवाद –इनमें (इन कर्मों में) से नित्य कर्मों के अनुष्ठान का परम प्रयोजन बुद्धि की शुद्धि तथा उपासनकर्मों का चित्त को एकाग्र करना है।

व्याख्या – 1. परं प्रयोजनम्–इसे यहां परम कहना अन्य सांसारिक प्रयोजनों की अपेक्षा इसे अधिक महत्त्व देना ही है। वस्तुतः बन्धन से मोक्ष ही परम प्रयोजन है। मुक्ति का विचार वेदों और ब्राह्मणों में नही पाया जाता है, सर्वप्रथम यह श्वेताश्वतरोपनिषद् में पूर्ण विकसित रूप से उपलब्ध होता है।

2. उपासनानां तु चित्तैकाग्रयम्–पितृलोकप्राप्ति तथा सत्यलोकोपलब्धि चित्त को एकाग्र करने के साधनों का अवान्तर फल है। मुख्य फल चित्त को एकाग्र करना ही है।

3. विविदिषन्ति–शंकराचार्य के कथनानुसार कर्मकाण्ड मुक्ति का साधन साक्षात् रूप में नहीं है, वह जिज्ञासा प्राप्त कराने मात्र में सहायक है। ज्ञान के बिना मोक्ष सम्भव नहीं। वेदान्त के पाठकों के लिए 'ऋतेः ज्ञानान्न मुक्तिः' यह सदाचार–प्रक्रिया मोक्ष न होकर (मोक्ष के) साधन ज्ञान तक पहुंचाने वाली है। इसलिए ज्ञान कर्म का एकत्रीकरण का सिद्धान्त यहां माना नहीं है।

"नित्यनैमित्तिकप्रायष्चित्तोपासनानांत्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः" इत्यादिश्रुतेः।। 14।।

अनुवाद –'नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त एवं उपासना कर्मों का गौण फल तो उनसे पितृलोक तथा सत्यलोक की उपलब्धि है। कर्म के द्वारा पितृलोक तथा विद्या के द्वारा सत्यलोक (देवलोक) की प्राप्ति होती है।' श्रुतिवचन इसमें प्रमाण है।

व्याख्या – 1. अवान्तरफलम्–जिस भाँति वृक्षारोपण का प्रधान फल, फलों को प्राप्त करना है तथा आनुषंगिक फल छाया तथा गन्धादि प्राप्त करना है, उसी भाँति नित्य नैमित्तिक कर्मों का प्रधान फल चित्त की शुद्धि तथा अवान्तरफल पितृलोक की प्राप्ति है। उसी प्रकार उपासना कर्मों का मुख्य फल चित्त समाधि तथा अवान्तर फल सत्यलोक की उपलब्धि है।

2. सत्यलोक–ऊपर के सात लोकों में सबसे ऊपर स्थित समझा जाने वाला ब्रह्मलोक ही सत्यलोक है। सत्यलोक से यहां मोक्ष अभिप्रेत नहीं है।

3. विद्यया–विद्या शब्द का तात्पर्य यहां उपासना से है न कि मोक्ष के साधनरूप यथार्थ ज्ञान से। ज्ञान का फल मोक्ष है किसी भी लोक की प्राप्ति नहीं। यहां तो विद्या से देवलोक की प्राप्ति बताई गई है। अतः यहां विद्या से तात्पर्य उपासना है।

4. नित्यनैमित्तिक–इसमें प्रायश्चित्त कर्मों को छोड़ दिया गया है क्योंकि वे मृत्यु के बाद कोई परिणाम उत्पन्न नहीं करते हैं।

5. पितृलोक–यह भुवः लोक से सम्बन्ध रखता है।

साधनानि–नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागषमादिषट्कसम्पत्तिमु–मुक्षुत्वानि।। 15।।

अनुवाद –नित्य तथा अनित्य वस्तु का विवेक, ऐहलौकिक तथा पारलौकिक फल के भोग से अनाशक्ति, शमादि छः सम्पत्तियाँ तथा मोक्षप्राप्ति की कामना– ये (चार) साधन हैं।

व्याख्या – साधनानि–प्रतिपादित साधनों में से क्रमशः पूर्व–पूर्व उत्तरोत्तर की उपलब्धि का साधन है। प्रथम नित्यानित्य वस्तु के विवेक के बिना फलभोगों से विराग नहीं उत्पन्न हो सकता तथा वैराग्य के बिना शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधानादि छः सम्पत्तियाँ नहीं प्राप्त हो सकती और इन छः सम्पत्तियों को उपलब्ध किए बिना मोक्ष की इच्छा नहीं होती, अतः क्रमशः पूर्व–पूर्व साधन उत्तरोत्तर को प्राप्त करने में साधनभूत हैं।

नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद्ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्।। 16।।

अनुवाद –केवल ब्रह्म ही नित्य वस्तु है उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् अनित्य है ऐसा विवेचन नित्यवस्तुविवेक है।

व्याख्या – 1. नित्यानित्यवस्तुविवेक–काल, स्थान आदि की सीमा जिस वस्तु को बद्ध नहीं कर सकती वह वस्तु नित्य है, इसके विपरीत काल की सीमा से बँधने वाली वस्तु अनित्य है। संसार की सभी वस्तुएं काल सीमा से बद्ध हैं अतः अनित्य हैं और ब्रह्म तीनों कालों से बाधित न होने के कारण नित्य है।

2. नित्यानित्यवस्तुविवेक–यह प्रथम साधना है।

ऐहिकानांस्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववदामुमिष्मकाणामप्यमृतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिः—इहामुत्रार्थफलभोगविरागः।। 17।।

अनुवाद —इस लोक के माला, चन्दन, स्त्री आदि विषयों के भोग तो कर्मजन्य होने के कारण अनित्य हैं, उसी प्रकार उस लोक (परलोक) के अमृतादि विषयों के भोग भी (कर्मजन्य होने कारण) अनित्य होंगे ऐसा निश्चय करके ऐहलौकिक और पारलौकिक उन वस्तुओं से उदासीन होने को इहामुत्रार्थफलभोगविराग कहते हैं।

व्याख्या — 1. कर्मजन्यतया—'यत्—यत् कर्मजन्यम् तत् तत् कार्यम्' और 'यत्—यत् कार्यं तत्—तत् अनित्यम्' अर्थात् जो कर्म से उत्पन्न होता है वह कार्य है और जो कार्य है वह अनित्य होता है।

2. 'इहामुत्रार्थफलभोगविरागः—'इह अमुत्र अर्था एव फलं तस्य भोगः तस्मात् विरागः' इस वृत्ति के अनुसार इस लोक में तथा परलोक में प्राप्त होने वाले सुन्दर पदार्थ ही कर्म से उत्पन्न होने के कारण फल हैं, उन फलों का भोग करने के प्रति विरक्तियुक्त बुद्धि का न होना ही इहामुत्रार्थफलभोगविराग है। विरागोत्पत्ति के लिए यहां पर जो युक्ति बताई गयी हैं, वह निम्न श्रुतिवचन का अनुवाद स्वरूप है—

''तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।''

3. अमृतादि—अमृतादि विषय स्वर्ग में प्राप्त होते हैं जिनका उपभोग जब तक पुण्य रहते हैं होता है पुण्य क्षीण होने पर जीवात्मा को पुनः मर्त्यलोक में आना पड़ता है और नया जन्म ग्रहण करना होता है।

4. अनित्यता—छान्दोग्य उपनिषद् स्पष्ट करता है ''यत् तथा इह कर्मजितः लोक क्षीयते एवमेव अमुत्रपुण्यजितः लोकः क्षीयते।''

5. विराग—यह साधना का द्वितीय पग है।

6. ऐहिकानां—पंचभौतिक शरीर से सम्बन्धित।

शमादयस्तु—शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः।। 18।।

अनुवाद —शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा आदि शमादि छः सम्पत्तियाँ है।

व्याख्या — 1. शमादि—जिस प्रकार भूख प्यास शान्त करने के लिए जल—अन्न हैं, और भूखे तथा प्यासे प्राणी का बार—बार पानी की ओर दौड़ा करता है, उसी भाँति तत्त्वज्ञान के साधन श्रवण, मनन इत्यादि हैं, यहां 'आदि' शब्द से 'शम' की भाँति दम, उपरति आदि अभिप्रेत हैं।

इन गुणों के अभाव में मुमुक्षु मोक्ष की अत्यन्त अपेक्षा की अनुभूति नहीं करता है। बिना व्रती मुमुक्षा के मोक्ष की प्राप्ति दुस्तर ही रहती है।

शमस्तावत्— श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः।। 19।।

अनुवाद —उनमें से श्रवण आदि के अतिरिक्त सांसारिक विषयों से (उस ओर प्रवृत्ति होने वाले) मन को रोकने वाली वृत्ति शम कहलाती है।

व्याख्या – 1. शम–श्रवण–मनन आदि को छोड़कर अन्य सांसारिक विषयों में बार–बार दौड़कर जाते हुए मन को एक विशिष्ट प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति रोकती है। इसी मनोनियन्त्रणकर्त्री वृत्ति को शम कहते हैं।

2. निग्रह–शम मन का वह विशिष्ट वृत्ति अथवा व्यापार है, जो मन को भौतिक विषयसुखों के पीछे भागने से रोकता है।

3. श्रवणादि–वेदशास्त्रों का अध्ययन, श्रवण, चिन्तन और आचरण।

4. भगवान् श्रीकृष्ण ने भी 'शम' को ब्रह्मज्ञान के लिए अत्यावश्यक कहा है। यथा– ''योगारूढस्य शमः कारणमुच्यते।'' (गीता 6/3)

दमः– बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्।। 20।।

अनुवाद –उन (वेदाध्ययनादि विषयों) से अतिरिक्त विषयों से बहिरिन्द्रियों को रोकने को दम कहते हैं।

व्याख्या – 1. दमः–ब्रह्म के साक्षात्कार के साधन रूप श्रवण मनन आदि के अतिरिक्त विषयों से नेत्र, कर्ण आदि बाह्य–इन्द्रियों को हटा लेना ही दम कहा जाता है। दम को श्रीकृष्ण ने गीता में ब्रह्मज्ञान का हेतु कहा है–

2. बाह्येन्द्रिय–ये दो प्रकार की होती हैं– कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय।

पाँच कर्मेन्द्रिय–पाणि, पाद, पायु, उपस्थ तथा मुख।

पाँच ज्ञानेन्द्रिय–चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण एवं रसना ज्ञानेन्द्रिया हैं, दम का अर्थ है मन का वह कार्य जो बाह्येन्द्रिय को उनके विषयों से लौटाता है।

निवर्तितानमेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो उपरमणमुपरतिरस्थवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः।। 21।।

अनुवाद –इन (ब्रह्म विषयों) से नियन्त्रित की गई इन्द्रियों का (ब्रह्मातिरिक्त) विषयों से निरोध उपरति है अथवा शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट कर्मों का शास्त्रोक्त विधि के अनुसार त्याग उपरति कहलाता है।

व्याख्या – 1. विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः–वेदविहित कर्मों को संन्यास लेते समय अश्रद्धा के कारण मनमाने ढंग से त्याग नहीं किया जाता, अपितु शास्त्रोक्त विधि से परित्याग किया जाता है। इसका कारण है कि कर्मों के परित्याग की विधि श्रुतियों तथा स्मृतियो में कही गई है।

उपरति–शमादिकों की भाँति संन्यास भी आत्मज्ञान का अन्तरंग साधन होने से मुमुक्षु के लिए यह भी आवश्यक है। इस विषय में 'नैष्कर्म्यसिद्धि परमा संन्यासेनाधिगच्छति' गीता वाक्य तथा 'न कर्मणा न प्रजया घनेन त्यागेनैके अमृत्वमानशुः' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। यज्ञादि कर्मों में विक्षिप्त मन रहने से तथा ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व इत्यादि विपरीत भावनाओं के बने रहने तक भली प्रकार देहान्त के अर्थ का विचार न हो पाने से श्रुतिस्मृति के वचनानुसार कर्त्तव्यरूप आत्मज्ञान के अंगभूत संन्यास को उपरति कहते हैं।

वस्तुतः उपरति मन का वह कार्य है, जो दमित इन्द्रियों को उनके विषयों में पुनः जाने से रोकता है। वस्तुतः उपरति शम का दम से अत्यल्प अन्तर रखती है।

3. परित्याग—श्रुतियों तथा स्मृतियों में संन्यास का समर्थन है—

(1) संन्याससंयोगात् यत् यः शुद्धसत्त्वः। (मुण्डकोपनिषद्)

(2) त्वम्पदार्थविचाराय संन्यासः सर्वकर्मणाम्। (उपदेशसाहस्री)

(3) प्रवृत्तिलक्षणो योगः ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।

तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्।।

तितिक्षा—शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता।। 22।।

अनुवाद —सर्दी—गर्मी आदि को (शरीर धर्म समझकर) सहना तितिक्षा है।

व्याख्या — 1. तितिक्षा—सर्दी—गर्मी, मान—अपमान तथा सुख—दुःख आदि और इसी भाँति अन्य द्वन्द्व सबको यह समझ कर कि यह तो शरीर के धर्म हैं, आत्मा को यह सर्दी—गर्मी कुछ नहीं। इस प्रकार के ज्ञान से सबको सहन कर लेना तितिक्षा कहलाती है। क्योंकि शीतोष्णादि शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, आत्मा से नहीं। आत्मा इन सबसे स्वतन्त्र है। विवेकचूड़ामणि कहती है—

"सहनं सर्वदुःखानामप्रतिकारपूर्वक।

चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा नगद्यते।।"

श्रीमद्भगवद्गीता 2/14 के अनुसार—

"मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेयः शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तान् तितक्षिस्व भारत।।"

वस्तुतः विवेकरूपी दीपक से मिथ्या होने पर भी भासित होने वाले द्वन्द्वों का मर्षण ही तितिक्षा है।

निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्।। 23।।

अनुवाद —वशीभूत मन को श्रवणादि एवं उसके अनुरूप विषयों में लगाने को समाधि कहते हैं।

व्याख्या — 1. तदनुगुणविषये—उसके अनुरूप बताए गए विषय में अर्थात् गुरुभक्ति अथवा विनय के आचरण में सदा चिन्तन करना समाधान है।

2. समाधान—मन के वश में हो जाने पर उसे श्रवण—मनन तथा निदिध्यासन से एकाग्र कर देना अर्थात् अनवरत रूप से नित्य इन्हीं का चिन्तन करना समाधान है। गीता में श्रीकृष्ण कहते भी हैं—

"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।"

3. श्रवणादौ—गुरु—सेवा, वेदान्त—ग्रन्थों का अध्ययन तथा उनका रक्षण। नृसिंहसरस्वती ने 'अभिमान का अभाव' आदि को ग्रहण किया है। गीता में सात्विक सम्पत्ति का ग्यारहवें अध्याय में बड़ा सुन्दर वर्णन है। समाधान के लिए अपरिग्रह अत्यन्त आवश्यक है। श्रुति कहती है—

"दण्डं आच्छादनं कौपीनं परिगृहेत् शेषं विसृजेत्।"

गुरुपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः— श्रद्धा।। 24।।

अनुवाद —आचार्य के द्वारा उपदेश में दिए गए वेदान्त के वाक्यों में विश्वास करना श्रद्धा है।

व्याख्या – श्रद्धा–गुरु द्वारा कहे हुए वाक्यों में विश्वास करना श्रद्धा है। इसके बिना तत्त्वज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। गीता भी कहती है–

"श्रद्धावाल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।"

श्रद्धा सारे पाप से छुड़ाने वाली है–

"अश्रद्धया परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी।" (महाभारत)

वस्तुतः श्रद्धा के विषय में महाभारत तथा गीता में अनेक स्थलों पर कहा गया है, बिना श्रद्धा के वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति में अत्यन्त कठिनाई है–

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यत् श्रद्धः स एव सः।" (गीता 17/3)

श्रद्धा के बिना यज्ञ, दान, तप आदि भी असत् कहलाते हैं।

मुमुक्षुत्वं–मोक्षेच्छा।। 25।।

अनुवाद –मोक्ष की कामना ही मुमुक्षुत्व है।

व्याख्या – मुमुक्षुत्वम्–ग्रन्थकार की मोक्षेच्छा को मुमुक्षुत्व कहने पर आक्षेप करते हुए जैकब कहते हैं–"This is an inexact definition". क्योंकि मुमुक्षु का अर्थ होता है मोक्ष की इच्छा वाला, अतएव मुमुक्षुत्व का अर्थ होगा मोक्ष की इच्छा वाला होना। जब मुमुक्षु उपरिलिखित तीन साधनों से युक्त हो जाता है तब वह मोक्ष की अत्यन्त प्रबल इच्छा रखता है तथा वह अपने आध्यात्मिक गुरु से निरपेक्ष सत्य का ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी बनता है। बृहादारण्यक उपनिषद् कहता है–

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामो यस्य हृदिस्थिताः।
अथ मृर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।"

आगे बृहदारण्यक पुनः कहता है–

"अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः।"

वस्तुतः आत्मकाम पूर्ण निष्काम होने से सभी कामनाओं से विमुक्त ही माना जाएगा।

एवम्भूतः प्रमाताधिकारी "षान्तो दान्त" इत्यादि श्रुतेः।

उक्तंच "प्रशान्ताचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षुवे"।। इति।। 26।।

अनुवाद –इस प्रकार का प्रमाता ही अधिकारी है। श्रुति के अनुसार– 'शान्त दान्त हो।' जैसा कि कहा गया है–

"प्रशान्त चित्त वाले, वशी, निर्दोष (काव्यादि) निर्दिष्ट कर्मों को करने वाले, विवेकादिगुण–सम्पन्न, आचार्यनुगामी, मोक्षप्राप्ति की कामना वाले व्यक्ति को यह (आत्मज्ञान) सदा ही देना चाहिए।"

व्याख्या – 1. एवम्भूतः –इस प्रकार का शम–दम आदि गुणों और नित्यानित्यविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, षटक सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व आदि साधनों से सम्पन्न व्यक्ति (इस वेदान्तसार को पढ़ने का अधिकारी है)।

2. शान्तो दान –यह श्रुति शमादि षटक सम्पत्ति को शास्त्रसम्मत प्रमाणित करने के लिए उद्धृत की गई है तथा काण्व, माध्यन्दिन शाखाओं में अलग–अलग रूप में प्राप्त होती है। काण्व शाखा बृहदारण्यकोपनिसद् में इस प्रकार का पाठ है–

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मनं पश्यति।'

प्रस्तुत पाठ 'समाहितो भूत्वा' के स्थान पर माध्यन्दिन शाखा में 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' यह पाठ प्राप्त होता है। वेदान्तसार कर्त्ता ने दोनों का समन्वय कर दिया है और शमादिषट्कसम्पत्ति कहा है।

3. प्रशान्ताय –जिसका चित्त लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में सर्वथा भ्रमरहित होकर शान्त हो गया हो, वह प्रशान्त चित्त जीव (वेदान्तसार का अधिकारी है)।

4. यथोक्तकारणे –शास्त्रों द्वारा विहित कर्मों को शास्त्रों के कथनानुसार ही करने वाला तथा शास्त्रों में वर्ज्य कहे गए (काम्य एवं निषिद्ध) कर्मों को शास्त्र निषेध होने से उन्हें न करने वाला जीव यथोक्तकारी है (उसे ही यह आत्मज्ञान देना चाहिए)।

5. अधिकारी –वेदान्तसार के एक व्याख्याकार के अनुसार केवल संन्यासी ही वेदान्त–ज्ञान के अधिकारी हो सकते हैं क्योंकि गृहस्थ का जीव विविध–कर्त्तव्य कर्मों में व्याप्त रहने से उसके पास वेदान्त–ज्ञान के लिए आवश्यक पर्याप्त समय नहीं रहता है, क्योंकि मुमुक्षु के लिए एक दीर्घ साधना का विस्तृत वर्णय सर्वत्र किया गया है। प्राचीनकाल में पश्चिम में पाइथागोरस के शिष्यों के लिए इसी प्रकार की साधना आपेक्षित कही गई थी–"History of Philosophy" में Lewes ने बड़ा विशद् वर्णन किया है।

6. गुणान्विताय –सद्सद् विवेक, त्याग और क्षमा।

7. प्रशान्ताय –वह पद उपदेशसहस्री से उद्धृत है जो आचार्य शंकर द्वारा लिखित कही जाती है।

विषयः– जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्र एव वेदान्तानां तात्पर्यात्।। 27।।

अनुवाद –विषय– जीव और ब्रह्म का एक होना (सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्वादि) विरुद्ध धर्मों से विमुक्त शुद्ध चैतन्य का ज्ञान है। वही वेदान्त वाक्यों का लक्ष्य है।

व्याख्या – 1. जीवब्रह्मैक्यम् –जीव और ब्रह्म का आत्यन्तिक भेद ही अद्वैतवाद का सार है। विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार जीवों की ब्रह्मा से भिन्न अपनी अलग सत्ता है। सर्वज्ञत्व तथा अल्पज्ञत्व माया द्वारा आरोपित है, वास्तविक नहीं है। उपाधियों के कारण प्रतिभासित होने वाले मिथ्या अभिन्नत्व को हटा देने पर केवल चैतन्यांश शेष रहता है, वही पारमार्थिक है तथा ईश्वर और जीव में अभिन्नत्व (ऐक्य) है, इसीलिए दोनों में अभेद है।

2. शुद्ध चैतन्यम् –जीव और ब्रह्म का स्वरूप शुद्ध चैतन्य की शुद्धता सब धर्मों से अतीत होने और एक रूप होना है। प्रतीत होने वाले धर्म आरोपित होने से मिथ्या हैं। दूध और पानी मिल जाने पर भी यान्त्रिक उपायों से दोनों को अलग–अलग किया जा सकता है, लेकिन ब्रह्म तथा जीव में शुद्ध

चैतन्यरूप होने का कारण तत्त्वतः ऐक्य है। उनमें प्रतीयमान भेद औपाधिक होने के कारण मिथ्या है। अज्ञान की उपाधि नष्ट हो जाने पर जीवत्व नष्ट हो जाता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है– 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'।

3. प्रमेय –प्रमा का आधार प्रमाणों से जाना जाने वाला विषय प्रमेय है; किन्तु प्रमाण केवल भौतिक विषय के ही साधन हैं। ब्रह्म अभौतिक होने से प्रमाणसाध्य नहीं हो सकता तथा प्रमाणसाध्य न होने से वह प्रमेय भी नहीं हो सकता। अतः स्वामी रामतीर्थ ब्रह्म को ज्ञातत्त्व कहकर ज्ञान का विषय मानते हैं जो वेदान्त परिभाषा के अनुसार उचित है। 'अज्ञातं ब्रह्मविषयः ज्ञातं ब्रह्मप्रयोजनम्।' प्रस्तुत वेदान्त परिभाषा में कहा गया है।

4. विषय –ये दूसरा अनुबन्ध है।

5. वेदान्ततात्पर्य –कपिल और कणाद आदि दार्शनिकों ने वेदान्त का तात्पर्य प्रधान के अस्तित्व को सिद्ध करना स्वीकार किया है, किन्तु वेदान्त पर स्पष्ट रूप से सर्वांगीण विचार करने पर प्रतीत होता है कि वह ब्रह्म को पारमार्थिक सत् सिद्ध करता है। कठोपनिषद् कहता है–

''सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।।''

6. वस्तुतः समस्त वेदान्तवाक्यों में 'ग्रीवास्थग्रैवेयक' न्याय से जीव और ब्रह्म की आत्यन्तिक एकता ही प्रतिपाद्य है। गीता भी कहती है–

''वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।''

7. वृहदारण्यकोपनिषद् कहता है–

''आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।''

सम्बन्धस्तुतदैक्यप्रमेयस्यतत्प्रतिपादको –पनिषत्प्रमाणस्यच बोध्यबोधकभावः।। 28।।

अनुवाद –उन दोनों (जीव और ब्रह्म) का ऐक्य और उनके प्रतिपादक उपनिषत् वाक्यों का बोध्यबोधकभाव है।

व्याख्या – 1. सम्बन्ध –जीव तथा ब्रह्म का अभेद (ऐक्य) ही यहां विषय है तथा उन दोनों के प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों का जो बोध्यबोधकप्रभाव है, वह सम्बन्ध है। जीवब्रह्म का अभेद यहां बोध्य है तथा 'तत्त्वमसि' आदि बोधक वाक्य हैं।

2. तदैक्यप्रमेयस्य –यद्यपि शुद्ध चैतन्य के अस्तित्व को प्रत्यक्ष प्रमाणित नहीं किया का सकता है और न उसकी व्याख्या की जा सकती है, केवल अप्रत्यक्ष रीति से उसे प्रमाणित किया जा सकता है और उसकी व्याख्या भी की जा सकती है अर्थात् अनुमान प्रमाण का आधार लेना होता है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –3

1. अनुबन्ध कितने हैं?
2. मोक्ष की कामना क्या है?
3. शमादि सम्पत्तियाँ कितनी हैं?

13.6 सारांष

दर्शन के मार्ग यद्यपि विभिन्न है परन्तु गन्तव्य लक्ष्य एक है। इस सृष्टि का आदिकारण तथा अन्तिम विलय स्थान एक ही है इसलिए सभी ने उसकी प्राप्ति के लिए अपनी मति के अनुसार मार्ग बनाए हैं परन्तु पुरुषार्थ चतुष्ट्य रूपी अन्तिम लक्ष्य सभी का एक है। दार्शनिक उस परमतत्त्व आत्मा या परमात्मा को विविध नामों से पुकारते है। विवाद नामों का है तत्त्व एक ही है ''एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति''।

वेदान्सार की भाषा सरल, सुबोध एवं स्पष्ट है। इसकी शैली बोधगम्य एवं आडम्बर–विहीन है। स्वल्प तथा सुस्पष्ट शब्दों में अधिक और गम्भीर बात को व्यक्त करने की ग्रन्थकार की शैली मनोहारिणी तथा अद्भुत है।

13.7 कठिन शब्दावली

उप –समीप

निषिद्ध –वर्जित

अहम् –मैं

अनुबन्धचतुष्ट्य –चार अनुबन्ध

नित्य–नैमित्तिक –प्रतिदिन क्रियमाण

अहंकार –अन्तःकरण वृत्ति

13.8 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. वेद का अन्त
2. फिलोस्फी

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. सदानन्द
2. बादरायण

स्वयं आंकलन प्रष्न –3

1. चार
2. मुमुक्षुत्व
3. छः

13.9 अनुषंसित ग्रन्थ

1. वेदान्तसार, डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी एवं प्रो. किरणलता क्षत्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ – 250002।
2. वेदान्तसार, सं. रामशरण शास्त्री, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।
3. वेदान्तसार, डॉ. राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, बैंग्लो राड, दिल्ली – 7।
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टल, दिल्ली।

13.10 अभ्यास प्रश्न

1. सदानन्द कृत वेदान्तसार के अनुसार अज्ञान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. वेदान्तसार के अनुसार साधन चतुष्ट्य का वर्णन करें।
3. शमादि षट्क सम्पत्ति क्या है? सविस्तार वर्णन करें।
4. वेदान्तसार के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय को स्पष्ट करें।

चतुर्दष इकाई

प्रयोजन एवं समष्टि–व्यष्टि

संरचना

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 प्रयोजन एवं समष्टि–व्यष्टि

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

14.4 वेदान्तसूत्र (29–56 तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

14.5 सारांष

14.6 कठिन शब्दावली

14.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

14.8 अनुषंसित ग्रन्थ

14.9 अभ्यास प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

वेदान्तसार का मुख्य प्रयोजन अज्ञान का निवारण ही नहीं है, अपितु अपने स्वरूपानन्द की उपलब्धि भी इसका मुख्य प्रयोजन है। यदि सौभाग्य से कोई तत्त्ववेत्ता अच्छा गुरु प्राप्त हो जाता है तथा कृपापूर्वक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के द्वारा उपदेश देता है तो अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। तथा आनन्द का असीम सागर लहराता हुआ दृष्टिगोचर होता है, इसलिए नित्य प्राप्त होने पर भी उसी अखण्डानन्द के स्वरूप की उपलब्धि करना वेदान्तसार का मुख्य प्रयोजन है।

14.2 उद्देश्य

- वेदान्तसार प्रयोजन
- अध्यारोप और अपवाद ज्ञान
- समष्टि–व्यष्टि ज्ञान
- आवरण–विक्षेप ज्ञान

14.3 प्रयोजन एवं समष्टि–व्यष्टि

प्रयोजन –आत्मगत अज्ञान तथा उस अज्ञानजन्य सम्पूर्णप्रपंच का निवृत्तिपूर्वक स्वरूप ज्ञान हो जाने पर जो अखण्डानन्द ब्रह्म की उपलब्धि होती है उसे प्राप्त करना ही इस वेदान्तसार (आत्मज्ञान) को पढ़ने का प्रयोजन है।

समष्टि –'अजामेकाम्' आदि श्रुतिवचनों से अज्ञान का एकत्व सिद्ध होता है, यही समष्टि रूप से एक है। सम् उपसर्गपूर्वक अश् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर समष्टि शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है सबको व्याप्त करने वाली। यहां पर समष्टि शब्द का प्रयोग समुदाय, समूह, सामान्य अथवा संघात के अर्थ से हुआ है। स्वामी रामतीर्थ ने व्यष्टि तथा समष्टि को क्रमशः विशेष और सामान्य का वाचक माना है। वस्तुतः दोनों में अभेद है केवल व्यवहार के लिये ही भेद कल्पना है। अज्ञान का श्रुतियों में इसी प्रकार उल्लेख है। वेदान्त में अज्ञान की समष्टि के लिये माया तथा व्यष्टि के लिये अविद्या शब्द आया है (पंचदशी 1.16)।

व्यष्टि –'इन्दो मायाभिः पुरुरूप ईयते' आदि श्रुतिवचनों से अज्ञान की अनेकता भी सिद्ध होती है, यही व्यष्टि रूप से अनेक है। वि पूर्वक अश् धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर व्यष्टि शब्द व्युत्पन्न होता है जिसका तात्पर्य है सीमित को व्याप्त करने वाला। यहां पर व्यष्टि शब्द एक व्यक्ति अथवा विशेष का वाचक है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. आत्मा के स्वरूपानन्द की प्राप्ति किससे होती है?
2. अजामेकाम किसका उदाहरण है?

14.4 वेदान्तसूत्र (29–56 तक)

प्रयोजनं तु– तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः, स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च ''तरति शोकम् आत्मवित्'' इत्यादि श्रुतेः ''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'' इत्यादि श्रुतेष्च।। 29।।

अनुवाद –प्रयोजन तो उस (जीव ब्रह्म) के ऐक्य के ज्ञान के मध्य अज्ञाननिवृत्तिपूर्वक आत्मा के स्वरूपानन्द की प्राप्ति है। ''आत्मज्ञाता शोक से तर जाता है'' इत्यादि तथा 'ब्रह्मज्ञाता ब्रह्म ही हो जाता है' इत्यादि श्रुतिवचन इसमें प्रमाण हैं।

व्याख्या – 1. प्रयोजन –आत्मगत अज्ञान तथा उस अज्ञानजन्य सम्पूर्णप्रपंच का निवृत्तिपूर्वक स्वरूप ज्ञान हो जाने पर जो अखण्डानन्द ब्रह्म की उपलब्धि होती है उसे प्राप्त करना ही इस वेदान्तसार (आत्मज्ञान) को पढ़ने का प्रयोजन है।

2. स्वरूपानन्दावाप्ति –वेदान्तसार का मुख्य प्रयोजन अज्ञान का निवारण ही नहीं है, अपितु अपने स्वरूपानन्द की उपलब्धि भी इसका मुख्य प्रयोजन है। यदि सौभाग्य से कोई तत्त्ववेत्ता अच्छा गुरु प्राप्त हो जाता है तथा कृपापूर्वक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के द्वारा उपदेश देता है तो अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तथा आनन्द का असीम सागर लहराता हुआ दृष्टिगोचर होता है, इसलिए नित्य प्राप्त होने पर भी उसी अखण्डानन्द के स्वरूप की उपलब्धि करना वेदान्तसार का मुख्य प्रयोजन है।

3. वस्तुतः जीव और ब्रह्म की एकता एक प्रतिष्ठापित सत्य है जिसे नई रीति से मानव के प्रयासों का परिणाम नहीं कहा जा सकता।

एक लौकिक उदाहरण में इसे समझा जा सकता है, जैसे एक मनुष्य अपने गले में पहने हुए आभूषण को विस्मृत कर बैठता है और दुखित एवं व्यथित होता है कि आभूषण खो गया है, किन्तु जब

वह किसी से द्वारा निर्देशित यह ज्ञात करता है कि वह तो उसके कण्ठ में है, इसी प्रकार का मानव अज्ञान होता है।

अयमधिकारीजन्ममरणादिसंसारानलतप्तोदीप्तशिरा जलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादि श्रुतेः।। 30।।

अनुवाद –भीषम गर्मी से अत्यन्त सन्तप्त मनुष्य जिस प्रकार अपनी (तपनरूप) व्याकुलता को दूर करने के लिए सरोवर के समीप जाता है उसी प्रकार यह (वेदांग ब्रह्मज्ञान का) अधिकारी जन्म, अवसान, वृद्धावस्था तथा रोगादि सांसारिक कष्टों से पीड़ित होकर, हाथ में भेंट लेकर ब्रह्म में निष्ठावान् वेद अध्येता आचार्य के सामीप्य को प्राप्त कर उनका अनुयायी बनता है, जैसा कि 'समिधा हाथ में लेकर ब्रह्म में निष्ठायुक्त वेदाध्यायी (के समीप जाता है)' इत्यादि श्रुतिवचन से स्पष्ट है।

व्याख्या – 1. श्रोत्रियम् –वेदों तथा वेदांगों में पारंगत व्यक्ति को श्रोत्रिय कहते हैं। 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' (अष्टाध्यायी) सूत्र से 'छन्दम्' शब्द से 'अध्येता' अर्थ में घन् (घ = इय) प्रत्यय होकर तथा 'छन्दम्' को 'श्रोत्र' आदेश निपातन से होकर श्रोत्रिय शब्द निष्पन्न होता है। वृहदारण्यक के निम्न वचनानुसार श्रोत्रिय कहता है– 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'। श्रोत्रिय के विषय में स्मृति कहती है–

"जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।।"

2. उपहारपाणि –राजा, देवता और गुरु के पास कभी रिक्त हाथ नहीं जाना चाहिए, जैसा कि कहा भी है–

"रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं देवतां गुरुम्।"

गुरु के समक्ष यथाशक्ति फल–फूल आदि कोई न कोई भेंट लेकर ही जाना चाहिए। महाभारत में भी उपहार सहित गुरु के पास जाने का निर्देश है– 'रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं ब्राह्मणं गुरुम्।'

3. समितत्पाणि –समित् पाणौ यस्य सः अर्थात् पाणि में समिधा लेकर जाना चाहिए। यहां समिधा शब्द भेंट के लिए उपलक्षणमात्र है। अत्यधिक अर्थाभाव होने पर कुछ देने की सामर्थ्य न होने से केवल समिधाएं ही ले जा सकते हैं।

4. ब्रह्मनिष्ठम् –ब्रह्माणि निष्ठा यस्य तम् – ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले (गुरु के पास अधिकारी को जाना चाहिए)। उपनिषद् ग्रन्थों में जिसका वर्णन किया गया है उस ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान से जो अन्तः बाह्य सर्वत्र संयुक्त हैं, वह ब्रह्मनिष्ठ हैं– जैसे कि विद्वन्मनोरंजिनी टीका भी कहती है– 'औपनिषद्ब्रह्मात्मविज्ञानपूर्णम्।' आचार्य शंकर ने ब्रह्मनिष्ठ को जपनिष्ठ और तपोनिष्ठ की भाँति व्याख्यात किया है। उनका कथन है कि ब्रह्मनिष्ठ वह है जिसने सभी प्रकार के कर्म का परित्याग कर दिया है और सभी समय ब्रह्म में स्थित रहता है। मुण्डकोपनिषद् में वे लिखते हैं– 'शास्त्रज्ञोऽपिस्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्।' छान्दोग्योपनिषद् में आया है 'आचार्यवान् पुरुषो वेद।'

5. अनुसरति –यहां अनुसरण से तात्पर्य केवल पश्चात् गमन ही नहीं है अपितु मन से, वाणी से तथा कर्म से गुरु की सेवा करना और प्रगाढ़ श्रद्धाभक्ति से गुरु के उपदिष्ट साधन को यथोचित रीति से कार्यान्वित करना है।

6. अयमधिकारी –पूर्वकथित चार प्रकार के साधन चतुष्टय सम्पत्ति से सम्पन्न।

7. जन्ममरणादि –रोग तथा अन्य भौतिक कष्ट आदि भी गणित हैं।

सः (गुरु) परमकृपया 'अध्यारोपापवाद' न्यायेनैनमुपदिशति 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादि श्रुतेः।। 31।।

अनुवाद –यह (आचार्य) परम दयालु होकर 'अध्यारोप' और 'अपवाद' न्याय से उसे (ब्रह्मरूप रहस्य का) उपदेश देता है जैसा कि 'उस आए हुए ब्रह्मज्ञान के इच्छुक को विद्वान् उपदेश देता है' श्रुतिवचन भी है।

व्याख्या – 1. अध्यारोपापवादन्यायेन –सीपी में भ्रमवश जैसे चाँदी भासित होने लगती है अथवा रस्सी में साँप की प्रतीति होने लगती है, उसी भाँति अद्वैत आत्मतत्त्व पर अज्ञान के कारण संसार की भ्रमात्मक प्रतीति हो रही है, वही अध्यारोप कहलाता है। 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' यह शारीरकभाष्य में अध्यारोप का लक्षण दिया है। दीपक के द्वारा प्रकाश ने होने पर रस्सी में मिथ्या सर्प का निश्चय हो जाने के समान तथा केवल आधाररूप रस्सी शेष रह जाने के समान श्रवणमननादि का लम्बे अरसे तक निरन्तर अभ्यास करते–करते ज्ञानोदय होने पर समस्त मिथ्या सांसारिक सृष्टि का निश्चय हो जाता है और सबका आश्रयभूत सच्चिदानन्द ब्रह्म ही शेष रह जाता है, यही अपवाद कहलाता है। इसी अध्यारोप तथा– अपवाद की क्रमयुक्त प्रक्रिया से आचार्य अपने शिष्य को आत्मज्ञान का उपदेश देता है। इसलिए कहा भी है–

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंच प्रपंचयते।
शिष्याणां बोधसिद्धयर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः।।

विवेकचूड़ामणि में अध्यारोप और अभ्यास का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है–

''अतस्मिस्तद् बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा।
विवेकाभावाद् वै स्फुरित भुजंगे रज्जुधिष्णा।।
ततोऽनर्थवातो निपतति समादातुरधिकस्ततोः।
योऽसद्गाहः स हि भवति बन्धः श्रुणु सखे।।''

2. परमकृपया –अतिशय रहस्यमयी आत्मज्ञान की विद्या को उपदिष्ट करने में संकोच भाव न होने के कारण करुणा है। शरणागतजन के क्लेशों का अवलोकन कर ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा आचार्य का कोमल चित्त द्रवीभूत हो उनका निवारण करने के लिए अज्ञानान्धकार से आच्छादित बुद्धि को ज्ञानरूपप्रकाश से शनैः–शनैः प्रकाशित करके विकसित करता है। संक्षेपशारीरक में आया है कि गुरु कृपालुता से शिष्य को शिक्षित करता है–

''एतदेव हि दयालुलक्षणं यत् विनेजनबुद्धिविवर्धनम्।''

3. एनमुपदिशति –गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं–

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवयां

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्षिनः।।"

अर्थात् ज्ञान तत्त्वदर्शी से सीखना चाहिए, विनम्रता से, सेवा और निश्छल होकर अत्यन्त सरलता से पूछने पर दयालु ज्ञानी सत्य का उपदेश करते हैं।

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।। 32।।

अनुवाद –साँप की सत्ता से रहित रस्सी में सर्प का आभास होने के समान किसी वस्तु (ब्रह्म या आत्मा) में (उसी के तुल्य) अन्य वस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं।

व्याख्या – 1. वस्तु –भूत–वर्तमान–भविष्य तीनों कालों में अक्षुण्ण रहने वाली (कभी विनाश को न प्राप्त करने वाली) सत्ता ब्रह्म या आत्मा है जैसा कि सुबोधिनी टीका भी कहती है–

'कालत्रयानपाययात्मैव वस्तु।'

2. अवस्तु –अर्थात् अनिर्वचनीय। जिसकी सत्त्वेन या असत्त्वेन किसी भी रूप से सत्ता नहीं होती, उसे वेदान्तशास्त्र में अनिर्वचनीय कहा जाता है। वही अनिर्वचनीय अवस्तु है। इस अवस्तु को 'सदसद्भिन्नम्' तथा 'अज्ञानम्' भी कहा गया है। 'अज्ञान' is not based upon nothingness'– निखिलानन्द। अवस्तु का वर्णन अध्यात्मरामायण में बड़ा सुन्दर आया है। सम्पूर्ण विश्व को वहां प्रकृति और भ्रान्ति कहा गया है।

वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु।। 33।।

अनुवाद –सच्चिदानन्द, अनन्त, अद्वैतब्रह्म ही वस्तु है। अज्ञान से लेकर सकल जड़समुदाय अवस्तु है।

व्याख्या – 1. अज्ञान –वेदान्त में अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव न होकर प्रकरण भिन्न होने के कारण कहीं पर 'माया', कहीं पर 'अविद्या' तथा कहीं पर 'नामरूप' कहा गया है।

2. अद्वयम् –छान्दोग्य उपनिषद् कहता है– 'एकमेवाद्वितीयम्। नानात्व समय, स्थानादि की सीमाओं के कारण हैं, जैसे कि एक सूर्य अनेक लहरों पर प्रतिबिम्बित अनेक दिखाई देता है।'

3. सत् (क) सदेव सोम्य इदमग्र आसीत् –छान्दोग्य उपनिषद्।

(ख) सत्यम् ज्ञानमन्तं ब्रह्म –तैत्तिरीय उपनिषद्।

(ग) असद्वा इदमग्र आसीत् तैत्तिरीयउपनिषद्–यह श्रुति ब्रह्म के नामरूप विहीन स्वरूप का संकेत करती है।

4. चित्–विज्ञानमानन्दं ब्रह्म–वृहदारण्यकोपनिषद्।

यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप न होता तो यह अनुभव 'मैं ज्ञाता हूँ' कभी नहीं होता। स्वामी निखिलानन्द कहते हैं–"The apparent consciousness of the phenomenal object is reality, the reflected consciousness of Brahmana".

5. आनन्द–विज्ञानमानन्दं ब्रह्म – वृहदारण्यकोपनिषद्।"Brahman is the most beloved of all things", By Nikhilananda.

अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधी भावरूपं यत्किंचिदितिवदन्त्यहमज्ञइत्याद्य –नुभवात् ''देवात्मशक्ति स्वगुणेर्निगूढाम्'' इत्यादि श्रुतेष्च।। 34।।

अनुवाद –अज्ञान तो सत्त्व और असत्त्व दोनों से रहित होने के कारण अवर्णनीय है, (यह) (सत्त्वरजस्तमः) त्रिगुणात्मक है, ज्ञान का विरोधी तथा भावरूप है ('यह ऐसा है' इत्यादि निश्चित सीमा के द्वारा अज्ञापक होने के कारण) यत्किंचित् है– यह वेदान्तियों का कथन है। 'मैं यज्ञ (अज्ञानी) हूँ' इत्यादि अनुभवों का प्रत्यक्ष आभास ही अज्ञान के भाव रूप होने में प्रमाण है– श्रुतिवाक्य भी है– 'वेदात्मा की शक्ति अपने गुणों से आवृत्त है।'

व्याख्या – 1. त्रिगुणात्कम् –यदि अज्ञान अनिर्वचनीय है और किसी भी प्रकार जाना ही नहीं जा सकता तो उसका अस्तित्त्व ही नहीं होगा। इस संशय का निवारण करने के लिए उसका 'त्रिगुणात्मकम्' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। ''अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा सृजनानां सरूपाः।' इस श्रुतिवचन से ही प्रमाणित है कि वह सत्त्व रजस् तमस् त्रिगुणात्मक है। जब कार्य लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण तीन गुणों का सिद्धान्त पूर्णतया विकसित किया गया है और प्रकृति व्याख्या में उसका उपयोग किया है।

2. सदसद्भ्यामनिर्वचनीयम् –यदि अज्ञान को सत् कहा जाता है तो उसे चिदात्मा (ब्रह्म) के समान त्रिकालाबाधित होना चाहिए लेकिन उसे तत्त्वज्ञान से बाधित देखा जाता है, यदि उसे असत् कहें तो बन्ध्या के पुत्र (असम्भव) के समान प्रतीयमान नहीं होना चाहिए लेकिन संसार के बंधन में जटिलबद्ध प्राणी को 'मैं अज्ञान हूँ' इस भाँति प्रतीत होती है, अतः उसे सद्रूप तथा असद्रूप दोनों ही नहीं कहा जा सकता है। इसलिए वह सद्सद्भ्याम् अनिर्वचनीय है।

3. ज्ञानविरोधी –ज्ञाननिर्वत्य ही अज्ञान का लक्षण है। अज्ञान का ज्ञान के द्वारा बाधित होना वेद तथा लोक में सर्वविख्यात है। प्रपंच अज्ञानजन्य होने के कारण अज्ञान से अभिन्न है अतः ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान से निवृत्त होने वाले संसाररूप प्रपंच में इस लक्षण की अतिव्याप्ति की शंका नहीं उठती। असंगस्वभाववान् चिदात्मा का अज्ञान से सम्बन्ध होना पूर्णरूपेण अज्ञानाधीन है अतः अज्ञानात्मा का सम्बन्ध भी अज्ञानरूप ही सिद्ध हो जाता है। अज्ञान के इस ज्ञाननिवर्त्यभूत लक्षण में अव्याप्ति और असम्भव दोष की तो शंका ही उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार यह लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव तीनों ही दोषों से युक्त हैं। अज्ञान ज्ञान का विरोधी है, आत्मसाक्षात्कार (ज्ञान) होने पर विनष्ट हो जाता है।

4. यत्किंचित् –अज्ञान की सत्त सद्रूपता, असद्रूपता अथवा सदसद्रूपता से निरूपित नहीं की जा सकती, अतः उसे यत्किंचित् कहा गया है। अन्धे पुरुष के द्वारा सूर्य में अन्धकार–कल्पना के सदृश ही अज्ञान है। अज्ञान का यथार्थ स्वरूप जानना, असम्भव होने पर भी उसकी सत्ता में अनुभूति तथा श्रुतिवचन दोनों प्रमाण हैं। सत्य को खोजने का प्रयत्न करने से हम सत्य के विषय में अज्ञान को मानते हैं। यह अज्ञान हमारी अनुभूति है, इसी से शास्त्रों में ये साक्षिभाष्य कहे गए हैं। बृहदारण्यक वार्तिक में आया है–

''अविद्यायाअविद्यात्वं इदमेव तु लक्षणम् यद् प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथावस्तु सा भवेत्।।''

5. भावरूपम् –अज्ञान को यदि भावरूप कहा जाए तो इसकी निवृत्ति न हो सकने के कारण अभावरूप मानना होगा अतः उसको तभी तक भावरूप माना जाए, जब तक आत्मा का ज्ञान (साक्षात्कार) न हो– ज्ञान रूप साक्षात्कार होने पर अज्ञान विनष्ट हो जाता है।

6. अहमज्ञः –सत्य वस्तु के विषय में, जो स्वयं प्रतीत होने में जड़ होने से अशक्त है, अतः **'अहम्'** आदि के साक्ष्य से चैतन्य भासित हो सकता है।

7. देवात्मशक्तिम् –इस श्रुति से तथा उस पर शंकरभाष्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अज्ञान परमात्मा की शक्ति है, इसलिए द्वैत (भेद) की सम्भावना का भी निराकरण हो जाता है, क्योंकि शक्ति और शक्तिशाली में ऐक्य (अभेद) माना जाता है।

8. वेदान्त दर्शन में वस्तुतः अज्ञान का विवेचन अत्यन्त कठिन है। न्यायदर्शन कहता है कि ज्ञान का अभाव अज्ञान है इसलिए यह भावरूप नहीं हो सकता है किन्तु वेदान्त दर्शन का कथन है कि यह भावरूप भी होता है। वेदान्त प्रश्न करता है कि वह ज्ञान कैसा है– जिसका अभाव कहा जा सकता है? हम ज्ञान को तीन रूपों में समझते हैं– (1) साक्षिचेता (श्वेताश्तरोपनिषद्)। ज्ञान शाश्वत होता है अतः उसे अभाव की स्थिति के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। (2) विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति (छान्दोग्य उपनिषद्)। इससे ज्ञात होता है कि मस्तिष्क (मन) का विशिष्ट व्यापार ज्ञान है। यहां पर ज्ञान का प्रयोग अप्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में हैं। जब तक आत्मा साथ में न हो तब तक मस्तिष्क (मन) का कोई व्यापार किसी वस्तु को प्रकाशित नहीं कर सकता। नेत्र, कान इत्यादि अपने व्यापारों को तभी कर पाते हैं जब आत्मा से चेतना पाते हैं, जैसे कि ऐतरेयोपनिषद् भी कहता है–

"सर्वं तत्वप्राज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञाप्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म।"

किसी स्थिति में ज्ञान अभाव की दशा वाला नहीं हो सकता है। (3) अज्ञान को किसी भी व्याख्या के ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता चाहे सामान्य रूप से अथवा विशिष्ट रूप से विचार किया जाए। यदि कोई व्यक्ति कहता है कि 'मैं अज्ञानी हूँ' मैं कुछ नहीं जानता हूँ। इस स्थिति में वह अनुभव को पूर्णतया नहीं खो देता है यद्यपि वह विशिष्ट वस्तु को नहीं जान पाता फिर भी वह जानता है।

9. देवात्मशक्तिम्० –श्वेताश्वेतर उपनिषद् की श्रुति के समर्थन में और भी श्रुतियाँ मिलती हैं जैसे गीता 5/15–

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।"

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।" गीता 3/25

वस्तुतः देखने पर यह स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक उपनिषदों में परिणामवाद का सिद्धान्त स्वीकृत रहा है, मायावाद और विवर्तवाद का नहीं। तब प्रश्न होता है कि सम्पूर्ण संसार की असत्यता का सिद्धान्त वेदान्त में कहां से आया? इस का उत्तर जैकब के अनुसार है– बौद्धों से। इस तथ्य को सांख्य दर्शन के व्याख्याकार विज्ञानभिक्षु ने प्रस्तुत किया है। जैकब उद्धृत करते हैं–'Upstart disguised Buddhist, …… advocates of the theory of Maya'.

पद्मपुराण तथा विष्णुपुराण भी विज्ञानभिक्षु का समर्थन करते हैं।

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते।। 35।।

अनुवाद –यह अज्ञान समष्टि और व्यष्टि दो अभिप्रायों के कारण कहीं एक रूप में, कहीं बहुवचन में प्रयुक्त किया जाता है।

व्याख्या – 1. समष्टि –'अजामेकाम्' आदि श्रुतिवचनों से अज्ञान का एकत्व सिद्ध होता है, यही समष्टि रूप से एक है। सम् उपसर्गपूर्वक अश् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर समष्टि शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है सबको व्याप्त करने वाली। यहां पर समष्टि शब्द का प्रयोग समुदाय, समूह, सामान्य अथवा संघात के अर्थ में हुआ है। 'Samasti means an aggregate'– निखिलानन्द। स्वामी रामतीर्थ ने व्यष्टि तथा समष्टि को क्रमशः विशेष और सामान्य का वाचक माना है। वस्तुतः दोनों में अभेद है केवल व्यवहार के लिए ही भेद कल्पना है। अज्ञान का श्रुतियों में इसी प्रकार उल्लेख है। वेदान्त में अज्ञान की समष्टि के लिए माया तथा व्यष्टि के लिए अविद्या शब्द आया है।

2. व्यष्टि –'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' आदि श्रुतिवचनों से अज्ञान की अनेकता भी सिद्ध होती है, यही व्यष्टि रूप से अनेक है। वि पूर्वक अश् धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर व्यष्टि शब्द व्युत्पन्न होता है जिसका तात्पर्य है सीमित को व्याप्त करने वाला। यहां पर व्यष्टि शब्द एक व्यक्ति अथवा विशेष का वाचक है। "The separate unit which constitutes the aggregate"– निखिलानन्द।

3. एकमनेकमिति –यह वेद एवं उपनिषद् वचनों में प्रयुक्त माया (अज्ञान) परक उदाहरणों से कभी एकत्व सूचक तथा कभी बहुवचनान्त होने के कारण कहा गया है–

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।'

यह श्रुतिवचन अज्ञान से एकत्व का सूचक है तथा 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' यह वाक्य अज्ञान (माया) के अनेकत्व का बोधक है। इसी से अज्ञान शब्द का एक तथा अनेक के अभिप्राय से समष्टि तथा व्यष्टि से व्यापार होता है।

तथाहि यथा वृक्षाणां समष्टयभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्टभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्टयभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः अजामेकाम् इत्यादिश्रुतेः।। 36।।

अनुवाद –जिस प्रकार वृक्षों को समष्टि (समुदाय) के दृष्टिकोण से 'वन' इस प्रकार एकसंख्यासूचक व्यवहार होता है अथवा जिस प्रकार जलों के (जलकणों के) समूह को समष्टि की विवक्षा से 'जलाशय' इस प्रकार कहा जाता है, उसी भाँति अनेक संख्या में प्रतीयमान जीव स्थित अज्ञानों के समूह को समष्टि की आकांक्षा से उन सबके एक होने का सूचक प्रयोग होता है 'अजन्मा एक' यह श्रुतिकथन भी समष्टि से एकत्वसूचक है।

व्याख्या – 1. समष्टि –समष्टि शब्द की व्याख्या पूर्वलिखित है, वहीं पर देखें।

2. नानात्वेन –प्रत्येक जीव के अज्ञान की सत्ता पृथक्–पृथक् हैं। जो जीव के द्वारा भाषित होती है। जीव अनेक हैं अतः अज्ञान भी अनेकत्व (नानात्व) से सम्पन्न है।

3. अजामेकाम् –यहां अज्ञान का एक होना 'एकाम्' पद से विवक्षित है। श्रुतियों में इसी अज्ञान को प्रकृति, अविद्या, तम, माया, अजा तथा अव्याकृत आदि पदों द्वारा व्यवहृत किया गया है।

4. वेदान्त दर्शन में अज्ञान की उपाधि से युक्त आत्मा की तीन अवस्थाएं कही गयी हैं– 1. सुषुप्ति– इसमें कारण शरीर उपाधि होता है (आनन्दमय कोष)। 2. स्वप्न – इसमें कारण शरीर+सूक्ष्म शरीर उपाधि होता है (विज्ञानमय कोष + मनोमय कोष + प्राणमय कोष = सूक्ष्म शरीर)। 3. जागरण – इस अवस्था में कारण शरीर + सूक्ष्म शरीर = स्थूल उपाधि होता है। स्थूल शरीर को अन्नमय कोष भी कहते हैं।

5. ईश्वर और जीव दोनों ही अज्ञान की उपाधि से युक्त हैं अतः दोनों की उपर्युक्त तीनों अवस्थाएं होती हैं। ईश्वर स्वप्नावस्था में हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा तथा ब्रह्मा कहलाता है तथा जागरणावस्था में विराट् एवं वैश्वानर कहलाता है। जीव सुषुप्तिकाल में प्राज्ञ, स्वप्न में तैजस् तथा जागरण में विश्व कहलाता है।

इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना।। 37।।

अनुवाद –यह समष्टि (व्यष्टि की अपेक्षा) उन्नत उपाधि वाली होने के कारण रागादिदोषशून्य शुद्ध सत्त्व गुण प्रधान है।

व्याख्या – 1. उत्कृष्टोपाधितया –जब कोई वस्तु भिन्न रूप में प्रकाशित हो, तो भासित होने का जो प्रयोजक हेतु होता है, वह उपाधि कहलाती है। वाचस्पत्यम् में उपाधि का लक्षण है– 'अन्यथास्थितस्य वस्तुनः अन्यथाप्रकाशनरूपे'। तर्कभाषा में उपाधि की परिभाषा है– 'प्रयोजकश्चोपाधिः इत्युच्यते।' प्रस्तुत पूरे पद का अर्थ है उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण। इसका दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है। प्रथम– समष्टिगत अज्ञान व्यष्टिगत अज्ञान की उपेक्षा उत्कृष्ट है, सम्पूर्ण संसार में व्याप्त होने से इसमें आधारभूत अज्ञान की एकता पर आवरण नहीं पड़ने पाता, किन्तु व्यष्टिगत अज्ञान में आधारस्वरूप एकता तिरोहित हो जाती है। द्वितीय अर्थ– आगे वर्णित किए जाने वाले (प्राज्ञ) जीव की अपेक्षा ईश्वर के उत्कृष्ट होने के कारण हैं– वह समष्टिगत अज्ञान का स्वामी होता है वह अप्रतिहत ज्ञानवान् होता है, लेकिन जीव व्यष्टिगत अज्ञान के अधीन तथा अल्पज्ञ होता है।

2. विशुद्धसत्त्वप्रधाना –यहां विशुद्धसत्त्वप्रधान से तात्पर्य है– ईश्वर स्थित माया (अज्ञान) में सत्त्व गुण की प्रधानता होती है, उस विशुद्ध सत्त्व के समक्ष रजस् तथा तमस् गुण अभिभू से होते हैं न कि ईश्वर में स्थित माया (अज्ञान) में रजस् एवं तमस् गुण बिल्कुल नहीं रहता। प्रस्तुत पद का अर्थ है सत्त्वगुण समष्टि (ईश्वर) में स्थित अज्ञान में रजस् तथा तमस् को अभिभूत किए रहता है स्वयं पराभूत नहीं होता।

'विशुद्धं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा।' एतदुपहितंचैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेष्वरत्वसर्वनि –यन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमतर्यामीजगत्कारणमीष्वर इति च व्यपदिष्यते सकलाज्ञानावभासत्वात् 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति श्रुतेः।। 38।।

अनुवाद –इस (उत्कृष्ट) उपाधि से युक्त चैतन्य को सर्वज्ञाता, सबका ईश्वर तथा सर्वनियन्ता आदि गुणों वाला, अव्यक्त, अन्तर्मयी, संसार का कारणरूप तथा ईश्वर आदि (नामों से) व्यवहृत किया जाता है। 'जो सर्वज्ञाता, सर्ववित् है' इत्यादि श्रुति–अनुसार यह सम्पूर्ण अज्ञान का प्रकाशयिता है।

व्याख्या – 1. उपहितम् –(स्वरूप प्रकाशित होने में प्रयोजक हेतु) उपाधि से आरोपित प्रस्तुत पद का वाच्यार्थ है। यहां समष्टिगत अज्ञान के उत्कृष्ट उपाधि से युक्त (सर्वज्ञ) के लिए यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

2. सर्वनियन्तृ तथा अन्तर्यामी –ईश्वर के सर्वनियन्तृत्व (सबको नियन्त्रण करने वाला) प्रमाणित करने के लिए निम्न श्रुति ग्राह्य है–

'एष सेतुर्विधरणः।'

''एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'' श्रुतिवचन परमात्मा के अन्तर्यामी (भीतर से नियमन करने वाला) होने को प्रमाणित करती है।

ईष्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात् कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपंचलयस्थानमिति चोच्यते।। 39।।

अनुवाद –ईश्वर की यह समष्टि (समूहोपाधि) सबका मूलभूत कारण होने के कारण कारणशरीर, आनन्द का प्राचुर्य होने के कारण समष्टिभूत अज्ञानात्मा को कोश के तुल्य आवश्यक होने के कारण 'आनन्दमय कोश' तथा सूक्ष्म व स्थूल जगत्प्रपंच के लयस्थान होने के कारण 'सुषुप्ति' कहलाती है।

व्याख्या – 1. कारणशरीरम् –सांख्यादि दार्शनिक विचारानुसार केवल सूक्ष्म व स्थूल दो शरीर माने गए हैं, किन्तु वेदान्ती इन दोनों सूक्ष्म, स्थूलशरीरों का विलय स्थान कारणशरीर मानते हैं, सांख्यमतानुसार यह प्रकृति की त्रिगुणात्मक साम्यावस्था मानी गयी है।

2. आनन्दमयकोशः –आनन्दमय, मनोमय, विज्ञानमय, प्राणमय तथा अन्नमय – ये पाँच कोश वेदान्ती मानते हैं। इस अज्ञान (माया) के प्रथम अवतरण में ईश्वर ही आनन्द प्रचुर कहा गया है, जो ब्रह्म के अज्ञानोपाधि से आरोपित स्वरूप को स्पष्ट अभिव्यक्त करता है। उपाधिविहीन निर्गुण ब्रह्म तो आनन्द ही है। समष्टि अज्ञान को सुषुप्ति तथा प्रलय भी कहते हैं।

3. सर्वोपरमत्वात् तथा आनन्दप्रचुरत्वात् –सर्वोपरमत्वात् का अर्थ है व्यष्टिगत सम्पूर्ण सृष्टि के विलीन हो जाने का कारण। आनन्दप्रचुरत्वात् का अर्थ है जाग्रद् अवस्था की अपेक्षा अधिक आनन्द होने के कारण।

यथा वनस्य व्यष्टयभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्टयभिप्रायेण जलानीति, तथाज्ञानस्य व्यष्टयभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिश्रुतेः।। 40।।

अनुवाद –जैसे वन के वृक्षों का व्यष्टि (पार्थक्य) की, विवक्षा से 'वृक्ष' यह अनेकत्वज्ञापक व्यवहार होता है अथवा जैसे जलाशय स्थित जल को व्यक्तिगत (पृथकता के) अभिप्राय से उसे 'अनेक जल' यह प्रयोग होता है, उसी प्रकार अज्ञान को व्यष्टिरूप में 'अनेक अज्ञान' इस प्रकार बहुत्व का व्यवहार होता है। यही बात (आत्मा) 'इन्द्र अज्ञानों के कारण बहूरूपवान् प्रतीत होता है'।

व्याख्या –यहां वन और वृक्ष का तथा जलाशय और जल का समष्टि और व्यष्टि का अभिप्राय समझने के लिए दो दृष्टान्तों को देने का प्रयोजन इस प्रकार है– चिदात्मा द्वारा अज्ञानाज्ञान कार्योपाधियुक्त होकर जीवभाव तथा ईश्वरभाव की प्राप्ति होने पर इसका इन उपाधियों से सम्बन्ध होता है, उस सम्बन्ध का स्वरूप जानने की जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। इसकी कल्पना दो रूपों में की जा सकती है। पहली–चिदात्मा अज्ञान तथा उसके कार्यों से अवच्छेदपूर्ण है। दूसरी–उनमें प्रतिबिम्बित है। अवच्छिन्न मानने पर 'वन वृक्ष' का तथा प्रतिबिम्बित मानने पर 'जलाशय–जल' का दृष्टान्त है।

2. इन्द्रोमायाभिः –'तमिन्द्रं मित्र वरुणं अग्निमाहुरथो सुपर्णा' आदि वचन से सभी ईश्वरवाचक शब्द होने से इन्द्र भी ईश्वरवाचक है। माया उसकी शक्ति है, जिसे वेदान्ती अज्ञान कहते हैं, पुरु अर्थात् बहुत रूपों वाली प्रतीत होती है। ईश्वर एक ही है किन्तु संसार बहुत से जीवों में स्थित अज्ञान के रूप में अनेक रूपों में प्रतिभासित हो रहा है।

अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः।। 41।।

अनुवाद –ऐसे स्थल पर व्यक्तिगत तथा समुदायगत व्यापकभाव के कारण ही व्यष्टि (अनेकता) तथा समष्टि (एकता) का व्यवहार किया जाता है।

व्याख्या – 1. समष्टिरूप अज्ञान –संसार के समस्त जीवों के अज्ञान को एक ज्ञान का विषय मानकर समष्टि रूप में देखना।

2. व्यष्टिरूप अज्ञान –समस्त अज्ञान के भिन्न–भिन्न रूप को भिन्न–भिन्न ज्ञान का विषय मानकर, भिन्न–भिन्न रूप से देखना।

इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना।। 42।।

अनुवाद –(अज्ञान की) यह व्यष्टि (समष्टि की अपेक्षा) निकृष्ट उपाधिभूत होने के कारण मलिन सत्त्वगुण प्रधान है।

व्याख्या – 1. मलिनसत्त्वप्रधाना –निकृष्ट जीव की उपाधि व्यष्टि रूप अज्ञान है, इसलिए उसमें स्थित सत्त्वगुण रजस् तथा तमस् से पराभूत होने के कारण मलिन होता है, जैसे स्वच्छ शीशे पर धूलि आदि पड़ जाने पर प्रतिबिम्बग्रहण की शक्ति घट जाती है वैसे ही सत्त्वगुण रजस् और तमस् के द्वारा पराभूत कर मलिन कर देने पर उसमें चिदात्मा का सुव्यक्त प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित नहीं होता है। यही जीव के अल्पज्ञत्व का हेतु है।

2. निकृष्टोपाधितया –इसका अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम – व्यष्टि अज्ञान को समष्टि अज्ञान की अपेक्षा निकृष्ट उपाधि से आरोपित कहने के तीन हेतु हैं– (अ) उसमें आधाररूप एकत्व अन्तर्हित हो जाता है। (आ) इसमें अहंकार स्थित रहता है। (इ) साथ ही आत्मातिरिक्त वस्तुओं का अध्याय इसी कारण से होता है। द्वितीय अर्थ– जीव ईश्वर की अपेक्षा अधिक निकृष्ट है। जबकि ईश्वर उपाधियुक्त अज्ञान का स्वामी होने के कारण सर्वज्ञ सर्वशक्तिसम्पन्न आदि कहा जाता है, किन्तु जीव अपनी उपाधिभूत (अज्ञान) माया के अधीन होने से अल्पज्ञ अल्पसामर्थ्यवान् आदि कहा जाता है। जीव के ज्ञान पर प्रतिबन्धकर्त्ता अविद्या का पर्दा डल जाने से जीव निकृष्ट होता है, अपनी निकृष्ट उपाधि के कारण। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार–

'ज्ञानप्रतिबन्धकावरणवान् जीवो निकृष्टस्तस्योपाधितयां' एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीष्वरत्वादिगुणयुक्तः प्राज्ञ इत्युच्यते, एकाज्ञानावभासकत्वात्।। 43।।

अनुवाद –इस (निकृष्ट) उपाधि से उपहित चैतन्य को अल्पज्ञता, अनीश्वरत्व आदि गुणयुक्त होने के कारण तथा केवल (व्यक्तिगत) एक ही अज्ञान का प्रकाशयिता होने के कारण प्राज्ञ कहा जाता है।

व्याख्या – 1. एकाज्ञानावभासकत्वात् –समष्टिगत (एक) अज्ञान के एक अंश को (एक व्यष्टि रूप अज्ञान को) प्रकाशित करने के कारण।

2. प्राज्ञ –स्वामी रामतीर्थ के अनुसार प्रस्तुत शब्द का अर्थ है प्रायेण यज्ञः के अनुसार अज्ञानी। वैसे प्रकर्षेण जानाति इति प्रज्ञः – प्रज्ञः व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ है बहुत ज्ञानवान् अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान से युक्त। लेकिन यहां (प्रस्तुत प्रकरण में) उसके अल्पज्ञत्व के साथ प्राज्ञ शब्द की यह व्युत्पत्ति उचित नहीं मेल खाती, अतः अज्ञानी अर्थ ही ठीक है।

अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयाऽनप्रतिकाषकत्वात्।। 44।।

अनुवाद –अस्पष्ट उपाधि से युक्त होने से एक से अधिक (अनेक) का प्रकाशक न होने के कारण इसे प्राज्ञ कहा जाता है।

व्याख्या – 1. अस्पष्टोपाधितया अनतिप्रकाषकत्वात् –धूलादि से अस्वच्छ दर्पण के समान प्राज्ञ की उपाधिरूपा अज्ञानव्यष्टि, रजस् तमस् के द्वारा सत्त्वगुण के पराभूत हो जाने से स्पष्ट है। उपाधि से मलिन हो जाने में उसमें अस्पष्ट रूप से चिदात्मा रूपी सूर्य की बिम्ब सांसारिक विषयों को प्रकाशित नहीं करता, अतः प्राज्ञः कहलाता है। उपाधिभूत अज्ञान के मलिन हो जाने पर उसमें प्रतिबिम्बित होने वाला चिदात्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट हो ही नहीं सकता। यही वेदान्त में चिदाभास कहलाता है। यही सांसारिक वस्तुओं का प्रकाशक है। चिदाभास के अस्पष्ट होने पर संसार की चीजों को अधिक प्रकाशित न कर सकने के कारण यत्किचिंत् ही प्रकाश प्रदान कर पाता है। यही प्राज्ञ के अल्पज्ञत्व का रहस्य है। यथा– उपाधिभूत अज्ञान दर्पण है, सत्त्वगुण स्वच्छता है, रजस् तथा तमस् धूलि आदि हैं, चिदात्मा सूर्य है। स्वच्छ दर्पण में सूर्य स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है। सूर्य–प्रतिबिम्बित दर्पण अंधेरे में स्थित पदार्थों को भी प्रकाशित करता है किन्तु यदि दर्पण स्वच्छ नहीं है तो न तो सूर्य ही इसमें स्पष्ट प्रतिबिम्बित होगा तथा न ही वह अंधेरे में स्थित पदार्थों को प्रकाशित करेगा।

अस्यापीयमहंकारादिकारणत्वात्कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवादाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोषःसर्वोप र मत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मषरीर प्रपंचलयस्थानमिति चोच्यते।। 45।।

अनुवाद –इस (व्यष्टि – जीव) की भी यह उपाधि अहंकार आदि का कारण होने से 'कारण शरीर' आनन्दाधिक्य तथा शुद्ध चैतन्य को कोश के समान ढक लेने के कारण 'आनन्दमय कोश', सबका उपरमण होने से सुषुप्ति तथा स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर प्रपंच के लीन होने का आधार से लयस्थान कहलाती है।

व्याख्या – 1. सुषुप्ति –आत्मा की अज्ञानोपाधियुक्त दो अवस्थाएं मानी गयी हैं– एक सुषुप्ति, दूसरी जाग्रत। आत्मा के और जगत् के सृष्टिविकास की तीन दशाओं में भिन्न–भिन्न रूप होते हैं, इन्हीं को वेदान्ती लोग तीन अवस्था, तीन शरीर तथा पाँच कोषों से अभिहित करते हैं। ये हैं– सुषुप्ति अवस्था में या कारण शरीर में आनन्दमय कोश, स्वप्नावस्था या सूक्ष्म शरीर में विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश तथा प्राणमय कोश तथा जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर में अन्नमय कोश।

2. अहंकारादिकारणत्वात् –अहंकार शब्द से यहां अन्तःकरण अभिप्रेत है। अन्तःकरण सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान में लय हो जाता है तथा स्वप्न और जागरण में प्रविष्ट होते समय अज्ञान से ही उत्पन्न होता है। इसी से अज्ञान को अहंकार से उपलक्षित अन्तःकरणादि का हेतु बताया है।

3. आनन्दप्रचुरत्वात् –जागरण तथा स्वप्न में आनन्द के साथ दुःख का भी अनुभव होता है किन्तु सुषुप्ति में केवल सुख का ही अनुभव होता है। कैवल्य उपनिषद् कहता है– 'सुषुप्तिकाले सकले विलीनेर्तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति।' अर्थात् सुषुप्तिकाल में जागरण और स्वप्नप्रपंच के विलीन हो जाने पर सुख का अनुभव करता है।

तदानीमेतावीष्वरप्राज्ञौ 'चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवत आनन्द–भुक्चेतोमुखः प्राज्ञः' इति श्रुतेः। 'सुखमहमस्वाप्सं न किंचदवेदिषमित्युत्थितस्य परामर्षोपपत्तेष्च।। 46।।

अनुवाद –उस काल में (प्रलय या सुषुप्तिकाल में) ईश्वर और प्राज्ञ दोनों चैतन्य से प्रदीप्त अत्यधिक सूक्ष्म अनावृत्तियों से स्वरूपानन्द का अनुभव करते हैं। 'चेतोमुखी प्राज्ञ आनन्द को भोगता है' इत्यादि तथा 'मैं ऐसा सुख से सोया कि कुछ जान नहीं सका' आदि वाक्यों द्वारा अचेत पुरुष सोकर उठने के उपरान्त अपने पूर्वानुभव सुख को प्रकट करता है।

व्याख्या – 1. चैतन्यप्रदीप्ताभिः –समष्टि तथा व्यष्टि चैतन्य से प्रदीप्त अज्ञानवृत्तियों से स्वप्न एवं जाग्रदवस्था में अन्तःकरण के रूप विकसित होने वाली ये अज्ञानवृत्तियाँ ही होती हैं। ये चिदात्मा से प्रतिबिम्बित होकर इनमें आनन्दानुभूति कराने की क्षमता आती है। ये चिदात्मा के चैतन्य से प्रकाशित होती हैं।

2. अज्ञानवृत्तिभिः –अन्तःकरण की वृत्तियों से अनुभूति तथा भोग स्वप्न और जाग्रत अवस्था में न होकर सुषुप्ति में अन्तःकरण अज्ञान में विलिन हो जाता है अतः सुषुप्ति दशा में अन्तःकरण वृत्तियों में आनन्द की अनुभूति हो ही नहीं सकती।

3. आनन्द्भुक्चेतोमुखः –चेतोमुखः का अर्थ शांकरभाष्य के अनुसार 'स्वप्न आदि अवस्था में अज्ञानरूप चेतना के प्रति द्वारस्वरूप होने के कारण चेतोमुख कहा है।' जबकि प्रस्तुत प्रकरणानुकूल बनाने के लिए रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरंजिनी टीका में 'चैतन्य से प्रदीप्त होने वाली अज्ञानवृत्तियों को ही मुख्य रूप से आत्मीय बनाने वाला कहा है' – 'चैतन्यदीप्ति अज्ञानवृत्तिप्रधानः।'

4. सुखमहमस्वाप्सम् –यह सर्वमान्य लौकिक अनुभूति भी इस बात को प्रमाणित करती है। इससे पूर्ववर्णित आनन्द–भोग न 'किंचिदेवेदिषम्' से अज्ञानवृत्तियों का कारण बनना प्रमाणित हो रहा है।

अनयोः समष्टिव्यष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाऽभेदः।। 47।।

अनुवाद –वन और वृक्ष अथवा जल और सरोवर के समान इन समष्टि और व्यष्टिरूप अज्ञानोपाधियों का ऐक्य है।

व्याख्या –इन उपर्युक्त दोनों स्वरूपों में अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य (ईश्वर और प्राज्ञ) में वास्तविक भेद नहीं है। भेद है केवल उपाधि के तारतम्य के कारण। जैसे स्थूल जलाशय उपाधि से अविच्छिन्न आकाश और तद्गत प्रतिबिम्बाकाश में वास्तविक भेद नहीं है। उपाधियों से हट जाने पर एक निरवच्छिन्न आकाश रह जाता है।

एतदुपहितयोरीष्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाषयोरिव जलाषयजलगतप्रतिबिम्बा–काषयोरिव वाऽभेदः 'एष सर्वेष्वर' इत्यादिश्रुतेः।। 48।।

अनुवाद –इन अज्ञानोपाधियों से उपहित ईश्वर और प्राज्ञ भी एक ही हैं जैसे वन में वर्तमान और वृक्षों में वर्तमान आकाश अथवा जल और सरोवर में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही है। श्रुतिवचन भी साक्षी है– 'यह (आत्मा) सबका ईश्वर है।'

व्याख्या – 1. ईष्वरप्राज्ञयोः अभेदः –ऐसा समझा जाता है कि वेदान्ती लोग ईश्वर तथा जीव में वह अभेद नहीं मानते जो अभेद सामान्यता एकता माना जाता है। यदि ऐसा होता तो अद्वैत वेदान्तियों का–

'जीव ईषविषुद्धचित्तया जीवेषयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः।।'

यह सिद्धान्त भंग हो जाएगा। अतः ईश्वर और प्राज्ञ (जीव) के अभेद को स्वरूपगत ऐक्य ही मानना चाहिए अर्थात् विशेष्य चैतन्य एक रूप है और विशेषण ईश्वर एवं जीव दोनों भिन्न–भिन्न हैं। इस प्रकार के उपाधिगत काल्पनिक भेद से ही ईश्वर और प्राज्ञ में भेद है, इसके विपरीत दोनों में अभेद है।

2. एष सर्वेष्वर –माण्डूक्य में यह वाक्य इस प्रकार है– एषः सर्वज्ञः एषः अन्तर्यामि एष योनिः सर्वस्य प्रभावाप्ययौ हि भूतानाम् अर्थात् यह प्राज्ञ ही सर्वेश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है और सब जीवों की उत्पत्ति तथा प्रलय का स्थान है तथा सबका कारण भी है।

वनवृक्षदवच्छिन्नाकाषयोर्जलाषयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाषयोर्वाऽऽधारभूतानुपहिताकाषवदनयोरज्ञानतदु प हितचैतन्ययोराधारभूत यदनुपहित चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते 'षिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते' इत्यादिश्रुतेः।। 49।।

अनुवाद –वन और वृक्ष में वर्तमान आकाश तथा जल और सरोवर में प्रतिबिम्बित आकाश का आधार उपाधि से रहित महाकाश के समान इन दोनों समुदायगत तथा व्यक्तिगत अज्ञान तथा इन उपाधियों से उपहित दो चैतन्यों (ईश्वर तथा प्राज्ञ) का आधार निरुपाधि शुद्ध चैतन्य है, उसे ही तुरीय नाम से अभिहित किया जाता है। श्रुतिवचन से भी स्पष्ट है 'अद्वैत ब्रह्म को ही चतुर्थ मानते हैं।'

व्याख्या – 1. आधारभूतानुपहिताकाषवद् –अनुपहिताकाशवद् का अर्थ है घटाकाश, जलाशयाकाश आदि उपाधियों से रहित आकाश के समान। इसके लिए आधारभूत इसलिए कहा गया है कि –यद्यपि आकाश न तो जल जलाशयों का और न ही वृक्षों का आश्रय है फिर भी आकाश के बिना इन सब (जलाशय–वन) की स्थिति ही नहीं हो सकती।

2. तुरीयम् –'चतुरश्छयतावद्यक्षरलोपश्च' वार्तिक से चतुर शब्द से 'तुरीय' शब्द निष्पन्न होकर 'चतुर्थ' अर्थ देता है। प्राज्ञ– तैजस् तथा विश्व की अपेक्षा चतुर्थ होने के कारण विशुद्ध चैतन्य तुरीय कहलाता है। किसी–किसी मत के अनुसार तीन अवस्थाओं सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत की अपेक्षा चतुर्थ होने से तुरीय कहलाया है और आपदेव के अनुसार अविद्या–ईश्वर एवं प्राज्ञ की अपेक्षा चतुर्थ होने से तुरीय है। क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्हीं तीनों का निरुपण किया गया है। शंकराचार्य ने भी प्राज्ञ, तैजस् और विश्व की अपेक्षा से अनुपहित चैतन्य को चतुर्थ प्रतिपादित किया है– 'प्रतीयमानपादत्रय रूपवैलक्षण्यात्।'

3. शिवम् –त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोगश्च यद् भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणा साक्षी चिन्मात्रोहम् सदाशिवः।।

4. अद्वैतम्–भेदविकल्परहितम्–शंकराचार्य।

इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायः पिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते।। 50।।

अनुवाद –लोगों द्वारा जलते हुए लोहे के टुकड़े को आग ही कहने के समान यही चतुर्थ उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य, अज्ञानादि एवं उनके उपाधियुक्त दो चैतन्यों के साथ एकत्व व्यवहृत होता है और ये इस अवस्था में अद्वैतप्रतिपादक महावाक्य के वाक्यार्थ होते हैं, लेकिन व्यष्टि विवक्षा होने पर भी महावाक्यों द्वारा प्रतिपादित एकत्व को लक्षणाश्रय पर लक्ष्यार्थ कहना चाहिए।

व्याख्या – 1. इदमेव तुरीयम् –इसके द्वारा अध्यारोप के विवेचना के तन्मय हो जाने से कहीं प्रकरण का मुख्य विषय विस्मृत न हो जाए, इसलिए प्रसंगवश उसको स्मरण दिला रहे हैं। वेदान्त का मुख्य ध्येय है जीव ब्रह्म की एकता। कहा गया है– 'विषयो जीवबह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्।'

2. वाच्यलक्ष्यम् –साहित्यदर्पण में अर्थ को पूर्ण रूप से जानने के लिए तीन शब्दशक्तियाँ हैं– वे हैं– अभिधा (वाच्य), लक्षणा (लक्ष्यम्) और व्यंजना। अभिधा से वाक्य का अर्थ सीधा सादा गम्यमान होने के कारण वाच्य कहलाता है तथा वाच्य का अर्थ सीधे अन्वय से ठीक नहीं बैठता तब लक्षणा का आश्रय लेते हैं। जैसा कि साहित्यदर्पण में लक्षणा की परिभाषा बतायी गयी है–

'मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो यथान्योऽर्थः प्रतीयते।

रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता।।'

अभिधा प्रतीयमान अर्थ का बोध होकर, रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य की प्रतीति जिससे होती है, वह लक्षणा है जो लक्ष्यार्थ कही जाती है। तप्तायः पिण्डवत् में दहकता अग्नि का धर्म है वह लौहपिण्ड में संक्रमण कर गयी है अतः अयः पिण्ड अपने से सम्बद्ध अग्नि का लक्षणा से बोध कराता है। तप्त अयः पिण्ड का वाच्यार्थ होगा– अयःपिण्ड का अग्नि से अभिन्न प्रतीत होना लक्ष्यार्थ होगा– अग्नि का अयः पिण्ड से भिन्न प्रतीत होना 'तत्वमसि' का इस प्रकार वाच्यार्थ होगा– अज्ञानोपहित चैतन्य तथा तुरीय चैतन्य की अभिन्नता। लक्ष्यार्थ होगा अज्ञानोपहित चैतन्य का शुद्ध चैतन्य से भिन्न प्रतीत होना।

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्।। 51।।

अनुवाद –इस अज्ञान की आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियाँ हैं।

व्याख्या – 1. आवरणशक्तिः –प्रमाता जीव की दृष्टि से सामने पर्दा डालकर सत् चित् तथा आनन्दस्वरूप आत्मा को आवृत्त करने वाली शक्ति को आवरणशक्ति कहते हैं।

2. विक्षेपशक्तिः –ब्रह्म से लेकर स्थावर प्राणियों तक सम्पूर्ण नामरूपात्मक संसार को (जल में बुलबुले से सदृश) पैदा करने वाली शक्ति विक्षेप शक्ति कहलाती है।

आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधाय –कतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोक–यितृबुद्धिपिधायकतयाच्छायतीवतादृषं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्–घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः। तथा बद्धवद्भाति यो मूढ़दृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।।' इति।। 52।।

अनुवाद –जैसे लघु मेघ का खण्ड अनेक योजन तक विस्तृत सूर्य को दर्शक के नयनों के आगे से ढककर उसकी दृष्टि को परिच्छिन्न कर देता है उसी प्रकार सीमित अज्ञान भी असीमित, अजन्मा और असांसारिक आत्मा को आवृत्त कर देता है, ऐसी (यह सामर्थ्य) शक्ति है, यही आवरण शक्ति कहलाती है। इसलिए कहा गया है–

'जिस प्रकार मेघ से आच्छन्न दृष्टि वाला मूर्ख व्यक्ति मेघाच्छादित सूर्य को प्रकाश रहित समझता है, उसी भाँति जो मूढ़ साधारण दृष्टिवान् लोगों को जन्मरणादि बन्धनों से बद्ध प्रतीत होता है, ऐसा वह नित्य उपलब्धिस्वरूप अहम् या आत्मा है।'

व्याख्या – 1. आच्छादयतीव –इसका अर्थ है माना ढक लेता है अर्थात् सत्यरूप में ढकता नहीं किन्तु ऐसा आभास होता है कि वह आवृत्त है। यह उद्धरण अद्वैतवेदान्तियों का आत्मा के बन्धन और मोक्ष दशा की अयथार्थता प्रदर्शनार्थ बहुत ही लोकविख्यात है।

2. बद्धवद्भाति –बंधा हुआ–सा प्रतीत होता है अर्थात् वेदान्तियों की दृष्टि में बन्धन और मोक्ष केवल प्रतीतिमात्र हैं, वस्तुतः आत्मा बन्धन और मोक्ष से परे है।

अनयैवावरणषक्त्यावच्छिन्नस्यात्मः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखमोहात्मकतुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते यथा स्वाज्ञानेनावृत्तायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना।। 53।।

अनुवाद –इसी आवरण शक्ति से आच्छन्न आत्मा की कर्तृता, भोक्तृतां सांसारिक सुखदुःखात्मक मोहात्मक तुच्छ भावनाएं भी अज्ञानावृत्त रस्सी में सर्प होने की सम्भावना में तुल्य आरोपित होती हैं।

व्याख्या –तुच्छ–तुच्छ का शब्दिक अर्थ 'शून्य' है, लेकिन वेदान्ती लोग संसार को ऐसा (शून्य) नहीं समझते वे उसे सुख–दुःख रूप से प्रतीयमान संसार की दृष्टि से सत् तथा युक्तिपूर्वक विचारकों की दृष्टि से असत् और तत्त्वविदों की दृष्टि में तुच्छ बताते हैं।

विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वषक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशंक्त्याकाषादिप्रपंचादिमुद्भावयति तादृष सामर्थ्यम्। तुदक्तम्– 'विक्षेपशक्तिर्लिंगादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदिति।।' 54।।

अनुवाद –विक्षेप शक्ति तो वह है– जो रस्सी विषयक अज्ञानाच्छादिक रस्सी में स्वशक्ति से सर्पादि की उद्भावना के समान अज्ञानावृत्त आत्मा में ही आकाशादि प्रपंच की उद्भावना कराती है यह ऐसी शक्ति है। अतः कहा गया है–

'विक्षेप शक्ति ही लिंग (सूक्ष्म दृष्टि) से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त संसार की रचना करती है।'

व्याख्या – 1. विक्षेपशक्तिर्लिंगादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत् –इस वाक्य का निर्देश विक्षेप शक्ति तथा आवरण शक्ति दोनों का निर्देश करने के लिए 'दृग्दृश्यविवेक' से इस प्रकार किया गया है–

शक्तिद्वयं हि मायया विक्षेपावृत्तिरूपकम्।

विक्षेपषक्तिर्लिंगदिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्।।

अतर्दृग्दृष्ययोर्भेद बहिष्च ब्रह्मसर्गयोः।

आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्।।

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति।। 55।।

अनुवाद –दो शक्तियों की अज्ञानोपाधि से युक्त चैतन्य अपने प्राधान्य से निमित्त कारण तथा अपनी उपाधि के प्राधान्य से उपादान कारण होता है।

व्याख्या –शक्तिद्वयवद् .... भवति– जिस भाँति एक ही मकड़ी अपने तन्तुरूप कार्य के प्रति चैतन्य प्रधानता के कारण निमित्त कारण होती है तथा अपने शरीर के प्राधान्य के कारण उपादान कारण भी है। यदि मकड़ी चेतन न हो तो केवल शरीर से तन्तु नहीं बन सकता, यदि शरीर न हो तो केवल चैतन्य से ही तन्तु नहीं बन सकता। इस प्रकार जालरूपी कार्य में मकड़ी की चेतनता तथा उसका (विशिष्ट) शरीर दोनों ही कारण हैं। लेकिन चेतनांश के प्राधान्य के कारण शरीर निमित्त (कारण) है और वही मकड़ी शरीरप्रधान्य के कारण उपादान कारण भी है क्योंकि शरीर का साक्षात् सम्बन्ध है। इसी प्रकार चैतन्य (ईश्वर) भी अपनी चैतन्य प्रधानता के कारण चराचर संसार की निमित्त कारण है तथा अज्ञान रूप उपाधि की प्रधानता के कारण उपादान कारण भी है। संसार अज्ञानोत्पन्न है अतः अज्ञान (माया) संसार का उपादान है। अज्ञान आत्मा भी है। अतः मायावी चैतन्य (ईश्वर) को परम्परया संसार का उपादान कारण

कह सकते हैं, क्योंकि मकड़ी की भाँति ईश्वर भी सृष्टि से पूर्व तक, बिना किसी साधन के ही अपनी माया के द्वारा सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक स्थूल जगत् की सृष्टि कर देता है। अतः ईश्वर उपादान कारण है तथा इसके प्रधान कारण अज्ञान की अपेक्षा परम्परा से सम्बन्धित ब्रह्म के उपादान कारण होने पर इसमें 'ब्रह्म' के चैतन्यत्व नित्यत्व गुण नहीं रह सकते। चैतन्यांश से वह निमित्त कारण है।

यथा लूता तन्तुकार्य प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति।। 56।।

अनुवाद –जिस प्रकार एक ही मकड़ी जालरूप कार्य के प्रति चैतन्य प्राधान्य के कारण निमित्त कारण है तथा अपने शरीर के प्राधान्य के कारण उपादान कारण भी है, उसी भाँति अज्ञानोपाधि युक्त आत्मा चैतन्य प्रधानता के कारण समस्त प्रपंच का निमित्त कारण तथा अज्ञान प्राधान्य के कारण उपादान कारण है।

व्याख्या – यथा .... भवति –यह मकड़ी का उदाहरण उपनिषदों में मूल रूप से इस प्रकार है–

'यथोर्णनाभिः सृजते गृहणाते च। यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।। यथा सतः पुरुषात्केशलोमनि। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि। तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्।।'

अर्थात् जिस भाँति मकड़ी जाल को बनाती है तथा फिर उसे ग्रहण कर लेती है (निगल जाती है)। जिस प्रकार पृथिवी में औषधियाँ (वनस्पतियाँ) उत्पन्न होती हैं तथा जैसे जीवित मनुष्य से केश तथा रोम उत्पन्न होते हैं वैसे ही अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म से यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. सम्पूर्ण जगत् क्या है? नित्य या अनित्य।
2. चान्द्रायण व्रत किस उद्देश्य से किया जाता है?
3. आचार्य किस न्याय से दयालु होकर उपदेश देता है?
4. वेदान्तानुसार अज्ञान की शक्तियाँ कितनी हैं?
5. अज्ञान से लेकर सकल जडसमुदाय क्या है?
6. आत्मा की अज्ञानोपाधियुक्त कितनी अवस्थाएं हैं?

14.5 सारांष

वेदों तथा वेदांगों में पारंगत व्यक्ति को श्रोत्रिय कहते हैं। 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' (अष्टाध्यायी) सूत्र से 'छन्दस्' शब्द से 'अध्येता' अर्थ में घन् (घ = इय) प्रत्यय होकर तथा 'छन्दस्' को 'श्रोत' आदेश निपातन से होकर श्रोत्रिय शब्द निष्पन्न होता है।

वेदान्त दर्शन में वस्तुतः अज्ञान का विवेचन अत्यन्त कठिन है। न्यायदर्शन कहता है कि ज्ञान का अभाव अज्ञान है इसलिए यह भावरूप नहीं हो सकता किन्तु वेदान्त दर्शन का कथन है कि यह भावरूप भी होता है। वेदान्त प्रश्न करता है कि वह ज्ञान कैसा है– जिसका अभाव कहा जा सकता है? हम

ज्ञान को तीन रूपों में समझते हैं– 1. साक्षिचेता (श्वेतावतरोपनिषद्), ज्ञान शाश्वत होता है अतः उसे अभाव की स्थिति के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। 2. विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति (छान्दोग्य उपनिषद्), इससे स्पष्ट होता है कि मस्तिष्क का विशिष्ट व्यापार ज्ञान है। यहां पर ज्ञान का प्रयोग अप्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में है। 3. अज्ञान को किसी भी व्याख्या के ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता चाहे सामान्य रूप से अथवा विशिष्ट रूप से विचार किया जाए। यदि कोई व्यक्ति कहता है कि 'मैं अज्ञानी हूँ' मैं कुछ नहीं जानता हूँ। इस स्थिति में वह अनुभव को पूर्णतया नहीं खो देता है यद्यपि वह विशिष्ट वस्तु को नहीं जान पाता फिर भी वह जानता है।

14.6 कठिन शब्दावली

नित्यनैमित्तिक –प्रतिक्रियमाण **अहंकार** –अन्तःकरण वृत्ति

अध्यारोप –भ्रम **रज्जु** –रस्सी

सर्वनियन्तृ –सबको नियंत्रण करने वाला **अज्ञान** –माया

14.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. प्रयोजन
2. समष्टि

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. अनित्य
2. प्रायश्चित्त के लिए
3. अध्यारोप एवं अपवाद
4. दो
5. अवस्तु
6. दो (सुषुप्ति जाग्रत)

14.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. वेदान्तसार, डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी एवं प्रो. किरणलता क्षत्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ – 250002।
2. वेदान्तसार, सं. रामशरण शास्त्री, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।
3. वेदान्तसार, डॉ. राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, बैंग्लो राड, दिल्ली – 7।
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टल, दिल्ली।

14.9 अभ्यास प्रश्न

1. वेदान्तसार का प्रयोजन क्या है? सिद्ध करें।
2. समष्टि और व्यष्टि क्या है? स्पष्ट करें।
3. अध्यारोप और अपवाद को सविस्तार वर्णित करें।
4. वेदान्त के आधार पर मोक्ष का सिद्धान्त निरूपित कीजिए।
5. वेदान्तसार के प्रतिपाद्य विषय का निरुपण करें।
6. अज्ञान की शक्तियों का वर्णन करें।

पंचदश इकाई

सृष्टि–प्रक्रिया

संरचना

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.3सृष्टि

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

15.4 वेदान्तसूत्र (57–85 तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

15.5 सारांष

15.6 कठिन शब्दावली

15.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

15.8 अनुषंसित ग्रन्थ

15.9 अभ्यास प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

इस अध्याय के अन्तर्गत पंचमहाभूत, तन्मात्र, सूक्ष्म शरीर के अवयव, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, पाँच वायु, विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश एवं पंचीकरण का वर्णन है।

15.2 उद्देश्य

- पंचीकृत महाभूतों का ज्ञान प्राप्त करना
- सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव का ज्ञान
- चतुर्विध शरीर (जरायुज, अण्डज, उद्भिज, स्वेदज)

15.3सृष्टि

जगत् के सम्बन्ध में एक विद्वान् का विचार है– ''जगत् हितैषी अथवा द्वेषी या मौजी देवताओं की लीला नहीं है। इसका अपना एक विधान है जिसे मानव की बुद्धि समझ सकती है। वह विधान समस्त मानवीय विधान का मूल है तथा उसको प्रभावित एवं निर्धारित करता है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश आदि से सम्बन्धित इस विधान की व्याख्या करना ही सृष्टि प्रक्रिया का उद्देश्य है। प्रत्येक दर्शन ने अपनी बौद्धिक सामर्थ्यानुसार इस जटिल प्रश्न पर विचार करने का प्रयास किया है। इसमें वेदान्त का प्रयास अन्य की अपेक्षा अधिक सराहनीय है। उन्होंने सृष्टि समस्या पर सूक्ष्म चिन्तन

तथा गहन विमर्श द्वारा इस विश्व के निर्माण तथा विनाश का एक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक विधान प्रस्तुत किया है।

यह सृष्टि क्यों और कैसे हुई? इस प्रश्न का उत्तर वेदान्त में स्वभावतः दिया गया है। जिस प्रकार मनुष्य की श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया स्वाभाविक है तथाविध रूप से सृष्टि भी उत्पन्न तथा विनष्ट है। श्रुतियों में भी सृष्टि–समस्या पर विचार करने पर इसे ईश्वर का ऐच्छिक एवं लीलापूर्वक किया हुआ कार्य बतलाया गया है। श्रुति कहती है कि उस ईश्वर ने संकल्प किया कि मैं एक ही बहुत हो जाऊँ तथा उसने ईक्षण किया कि मैं अनेक होऊँ और फिर उस चेतन तत्त्व ब्रह्म (ईश्वर) से यह सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार उत्पन्न हुआ जैसे सत् पुरुष के शरीर के केश, लोम आदि उत्पन्न होते हैं।

वेदान्त ने सृष्टि के रहस्य को स्पष्ट करने के लिए श्रुति की सहायता ली है बिना श्रुति की सहायता के केवल तर्क द्वारा सृष्टि के रहस्य को ज्ञात करना असम्भव है। वेदान्त के अनुसार सृष्टि का अर्थ किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति नहीं, अपितु अव्यक्त का व्यक्त होना है। 'सृष्टि' शब्द का अर्थ है– 'सर्ग' 'सृष्टि' तथा सत्तावान् जगत् का नाम रूप और व्याकरण मात्र है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. पंच ज्ञानेद्रियों सहित यह बुद्धि .... कहलाती है।
2. वेदान्तसार में .... की उत्पत्ति का वर्णन है।

15.4 वेदान्तसूत्र (57–85 तक)

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाष आकाशद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्प –द्यते 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिश्रुतेः।। 57।।

अनुवाद

तमोगुण प्रधान विक्षेप शक्तियुक्त अज्ञानोपाधि से उपहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई। 'उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ'।

व्याख्या

1. तमःप्रधान –आकाश आदि तत्त्वों के कारणभूत अज्ञान में तमोगुण प्रधान होता है। इसका तात्पर्य है कि उसमें सत्त्व एवं रजस गुण भी अन्य मात्रा में स्थित रहते हैं, किन्तु तमोगुण अन्य दोनों गुणों को अभिभूत किए रहता है। इसी से (तमोगुण की अन्य की अपेक्षा प्रधानता होने से) तमःप्रधान कहा जाता है।

2. आकाश –वेदान्ती लोग अन्य दार्शनिकों की भाँति आकाशादि को नित्य नहीं मानते अपितु 'उत्पद्यते' के द्वारा उत्पन्न होने वाला मानते हैं। यद्यपि इस विषय में 'नन्वाकाशं नोत्पद्यते निरवयवद्रव्यत्वादात्मवदिति' इस वैशेषिक दर्शन के अनुसार' आकाश उत्पन्न नहीं हो सकता' आक्षेप उठता है किन्तु 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इस श्रुति से प्रस्तुत आक्षेप का निराकरण हो जाता है, क्योंकि पृथ्वी आदि के सदृश आकाश भी महत्त्वयुक्त होने पर भूत है, इसलिए उत्पन्न होता है, जैसे कि कहा भी है– 'आकाशमुत्पद्यते महत्वे सति भूतत्वान्महापृथिव्यादिवदिति।'

3. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत –इसके प्रामाण्य से वैशेषिकों का सिद्धान्त आकाश तथा अन्य चार भूतों को नित्य मानने का आक्षेप बाधित होता है तथा सांख्य का प्रकृति कारणवाद भी खण्डित हो जाता है। नैयायिकों का परमाणु कारणवाद भी निरस्त है।

4. अज्ञानोपहितचैतन्यात्–अशेषविश्व ब्रह्म से विकसित हुआ है–

(क) 'पुरुष एव इदं सर्वम्' – ऋग्वेद, दशम् मण्डल।

(ख) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति०। तैतिरीयोपनिषद्

(ग) अहम् सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वम् प्रवर्तते। गीता 10/8

तेषु जाडयाधिक्यदर्षनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाका –शादिषूत्पद्यन्ते।। 58।।

अनुवाद

उसमें जड़ता अधिक दिखाई देने के कारण तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्तियुक्त चैतन्त ही उसका कारण है। उस समय उन्हीं आकाशादि पंचभूतों में अपने–अपने साक्षात्कारों के गुणाधार पर सत्त्व, रजस् और तम की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या

1. सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण–उपादान कारण के सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीनों गुण कार्य में विद्यमान रहते हैं, अतः 'जाडयाधिक्यदर्शनात्' अर्थात् जड़ता अधिक होने के कारण कहा गया है। 'जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है' इस भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार कारणस्थित सूक्ष्म गुण कार्य में अधिक ठोसतर और कठोर होकर अभिव्यक्त होते हैं। विद्वन्मनोरंजिनी के अनुसार–

कारणस्याव्याकृतस्य ये गुणाः सत्त्वादयस्तेषां प्रक्रमेण, तान् गुणान् आरभ्य यथाकार्यक्रमं सत्त्वादिगुणाः सहैव कार्यैस्तेषत्पद्यन्त इत्यर्थः। जैसे–जैसे कार्य उत्पन्न होते जाते हैं वैसे–वैसे उनके कारणों में रहने वाले सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुण उन कार्यों में उनकी उत्पत्ति के साथ ही उद्भूत हो जाते हैं। तर्कभाषा में 'कारणगुणप्रकरेण' की व्याख्या इस प्रकार है 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते।' इस वैशेषिक दर्शन के मत के वाक्य का जो तात्पर्य है वह वेदान्तियों के मत से संगत नहीं बैठता, क्योंकि वेदान्त में आकाश आदि उत्पन्न होते हैं नित्य नहीं होते। वेदान्त के अनुसार 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' का अर्थ 'कारण ही भिन्न–भिन्न कार्यों की आकृति में स्थित होता है, इसलिए कारण स्थित गुण कार्य में भी अनुविद्यमान रहते हैं'।

सांख्य तथा वेदान्त सत्कार्यवाद में आस्था रखते हैं। जबकि वैशेषिक तथा न्याय दर्शन आरम्भवाद तथा असत्कार्यवाद में आस्था रखते हैं। वेदान्त के अनुसार कारण ही कार्य के आकार में स्थित होता है।

2. तेषु जाडयाधिक्यदर्षनात् –उन (आकाश आदि पंचमहाभूतों) में जाडय (जड़ता–अचैतन्य) की अधिकता साक्षात् दिखाई देती है, अतः उनके कारणस्वरूप अज्ञान में भी जड़ता होना स्वाभाविक है। जड़ता तमोगुण का धर्म होने के कारण जैसा कि सांख्यकारिका कहती है (गुरु वरणकमेव तमः) अज्ञान

तमोगुणप्रधान होता है। रामतीर्थ के कथनानुसार 'आधिक्य' पद भूतों (आकाश आदि) और उनके कार्यों में चैतन्य की भी अल्पोपस्थिति को सूचित करता है।

एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपंचीकृतानि चोच्यन्ते।। 59।।

अनुवाद

ये ही सूक्ष्मभूत तन्मात्रा और अपंचीकृत कहे जाते हैं।

व्याख्या

1. **सूक्ष्मभूतानि** –स्थूलभूतों की अपेक्षा जो सूक्ष्मभूत कहे जाते हैं तथा जाग्रत अवस्था में व्यवहारोचित नहीं होते, वे सूक्ष्मभूत कहलाते हैं।

2. **अन्मात्राणि** –ये सूक्ष्मभूत दूसरे भूतों में सम्मिश्रित नहीं होते तथा अपने विशुद्ध स्वरूप में होते हैं। सूक्ष्म दशा में आकाश में केवल शब्द (तनमात्रा), वायु में केवल स्पर्श, तेज में केवल रूप, जल में केवल रस और पृथिवी में केवल गन्ध ही रहती है और जब इन पाँचों सूक्ष्मभूतों का पंचीकरण हो जाता है तब ये स्थूलतत्व को प्राप्त कर प्रत्येक (महाभूत) पंचात्मक हो जाते हैं (प्रत्येक में पाँचों भूतों का अंश रहता है।)

एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते।। 60।।

अनुवाद

इन्हीं से सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या

1. **सूक्ष्मशरीराणि** –सांख्यमतानुसार सूक्ष्मशरीर के अट्ठारह अवयव होते हैं जबकि वेदान्त सूक्ष्मशरीर को सत्रह भागों वाला मानता है। वेदान्तियों के सूक्ष्मशरीर का विवरण निम्न कारिका प्रस्तुत करती है–

'पंचप्राणमनोबुद्धिदषेन्द्रियसमन्वितम्।

अपंचीकृतभूतोत्थं सूक्ष्मांक भोगसाधनम्।।'

सूक्ष्मशरीराणि सप्तदषावयवानि लिंगशरीराणि।। 61।।

अनुवाद

सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव हैं, ये ही लिंगशरीर हैं।

व्याख्या

1. **लिंगशरीराणि**–सूक्ष्म शरीर ही लिंगशरीर कहे जाते हैं, क्योंकि इनके द्वारा प्रत्यगात्मा की सत्ता का ज्ञापन होता है। जिस भाँति सूक्ष्म शरीर के वेदान्त में सत्रह अवयव माने गए हैं वे ही लिंगशरीर के भी अवयव हुए, क्योंकि सूक्ष्म शरीर की ही दूसरी संज्ञा लिंग शरीर है। लिंगशरीर संज्ञा से अभिहित होने का कारण इस प्रकार है–

'लिंगयते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिंगानि।

लिंगानि च तानि शरीराणि चेति लिंगशरीराणि।।'

पंचदशी के अनुसार लिंग (सूक्ष्म) शरीर के अवयव हैं–

बुद्धि कर्मेन्द्रिय, प्राणपंचकैर्मनसा धियां

शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिंगमुच्यते।।

किन्तु सांख्यतत्त्वकौमुदी में इसके निम्नलिखित अवयव कहे गए हैं–

'महदंकारैकादषोन्द्रियपंचतन्मात्रपर्यन्तम्।'

अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपंचकं, बुद्धिमनसो, कर्मेन्द्रियपंचकं, वायुपंचकंचेति।। 62।।

अनुवाद

वे अवयव हैं– पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि एवं मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच वायु।

व्याख्या

1. ज्ञानेन्द्रियपंचकम् –इसका तात्पर्य है पंच (पाँच) ज्ञानेन्द्रियाँ आकाशादि में स्थित सत्वगुणांश से क्रमानुसार अलग–अलग उत्पन्न होती हैं। अर्थात् आकाश के सत्त्वगुणांश से श्रोत्र (कान), वायु के सत्त्वगुणांश से त्वक् (त्वचा), तेज के सत्त्वगुणांश से चक्षु (नेत्र), जल के सत्त्वगुणांश से रसना (जीभ) तथा पृथिवी के सत्त्वांश से घ्राण (नासिक) का उद्‌भव होता है। कारिका भी है–

'सत्त्वांशैः पंचभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपंचम्।

श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते।।'

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि।। 63।।

अनुवाद

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण ये (पाँच) ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।

व्याख्या

1. ज्ञानेन्द्रियाणि –ज्ञानेन्द्रियाँ आकाश आदि, भूतों के सात्त्विक भागों से उत्पन्न होती हैं।

एतान्याकाषादीनां सत्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्–पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते।। 64।।

अनुवाद

ये (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) आकाशादि के सात्त्विक अंशों से क्रमशः अलग–अलग प्रादुर्भूत होती हैं।

व्याख्या

एतानि .... उत्पद्यन्ते –यही क्रम तैत्तिरीय उपनिषद् का यह वचन भी प्रस्तुत करते हैं–

'तस्माद्वा एमस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः।'

बुद्धिर्नाम निष्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः।। 65।।

अनुवाद

निश्चय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति बुद्धि है।

व्याख्या

1. अन्तःकरणवृत्तिः –आन्तरिक विचारों की (साधकतमं करणम् से करण) करणभूत इन्द्रिय अन्तःइन्द्रिय अथवा अन्तःकरण कहलाती है। (इसी) अन्तरिन्द्रिय में 'मैं स्त्री हूँ, मैं गृहस्थ हूँ' इस भाँति निश्चययुक्त जब वृत्ति उत्पन्न होती है तब उसे बुद्धि कहते हैं।

2. अन्तःकरण वृत्ति के दो रूप होते हैं– (क) निश्चयात्मिका बुद्धि। (ख) संशयात्मिका वृत्ति मन।

मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः।। 66।।

अनुवाद

संकल्प और विकल्प करने वाली (संशय करने वाली) अन्तःकरण की वृत्ति मन है।

व्याख्या

1. संकल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्ति–आन्तरिक भावनाओं की करणभूत इन्द्रिय अन्तःकरण में जब ''मैं चिद्रूप हूँ'' – ''मैं देह हूँ'' इस प्रकार की संकल्पयुक्त अथवा 'मैं पढ़ूँ या न पढ़ूँ – मैं जाऊँ या न जाऊँ' इस प्रकार की विकल्पात्मक वृत्ति उत्पन्न होती है तो इसे मन कहते हैं।

अनयोरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भावः।। 67।।

अनुवाद

इन्हीं दोनों (बुद्धि और मन) में चित्त और अहंकार का अन्तर्भाव हो जाता है।

व्याख्या

अनयो – अन्तर्भावः – अनयो – इन दोनों अर्थात् मन तथा बुद्धि में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि स्मरणात्मिका चित्तवृत्ति निश्चय रूप ही होता है तथा अहंकार का मन में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि अहंकार भी संकल्प होता है– कहा भी है–

'मनाःबुद्धिरंकारिष्चत्त करणमन्तरम्। संषयो निष्चयो गर्वस्मरणविषया अमी।।'

अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः चित्तम्।। 68।।

अनुवाद

अनुसन्धानकर्त्री अन्तःकरण की वृत्ति है।

व्याख्या

अनुसन्धानात्मिकान्तः – चित्तम्– आन्तरिक विषयों के ग्रहण कर्त्ता अन्तःकरण में जब अनुसन्धानयुक्त अर्थात् स्मरणात्मिका वृत्ति उत्पन्न होती है तो वह चित्त कहलाती है।

अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः अहंकारः।। 69।।

अनुवाद

अभिमान करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति अहंकार है।

व्याख्या

अभिमानात्मिकान्तः – अहंकार – पूर्वकथित अन्तःकरण में जब 'मैं बड़ा निपुण हूँ'। इस प्रकार की गर्वात्मक (अभिमानरूपा) वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है तब वह वृत्ति अहंकार कही जाती है।

एते पुनराकाषदिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते।। 70।।

अनुवाद

ये चारों (बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार) आकाशादि में स्थित सात्त्विक अंशों में मिश्रित अंशों से पैदा होते हैं।

व्याख्या

मिलितेभ्यः – मन, बुद्धि (इन्हीं में अन्तर्भूत होने वाले चित्त तथा अहंकार) वे सभी (पाँचों) ज्ञानेन्द्रियों के साथ आवश्यक हैं क्योंकि बिना मन बुद्धि के सहयोग के ज्ञानेन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकतीं। इसलिए वे पाँचों भूतों के मिलित (मिले हुए) अंशों से उत्पन्न होने वाले कहे गए हैं।

एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांषकार्यत्वम्।। 71।।

अनुवाद

इन चारों के प्रकाशयिता होने के कारण उन्हें सात्विक अंशों से प्रादुर्भूत कहा जाता है।

व्याख्या

प्रकाशात्मकत्वात् –पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि से सात सत्त्वांश से उत्पन्न होने के कारण सत्त्वगुणधर्म प्रकाश से युक्त हैं इसी से ये सत्त्वगुण का कार्यत्व हैं क्योंकि सत्वगुणधर्म प्रकाश माना गया है। गीता में सत्त्वगुण प्रकाशक कहा गया है–

'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।'

इयं बुद्धिर्जानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति।। 72।।

अनुवाद

(पंच) ज्ञानेन्द्रियों सहित यह बुद्धि विज्ञानमय कोश कहलाती है।

व्याख्या

विज्ञानमयकोशः –पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वग्, चक्षु, रसना तथा घ्राण) तथा छठी बुद्धि समवेत रूप में विज्ञानमयकोश रूप में परिभाषिक शब्द प्रयुक्त होता है।

अयं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानित्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते।। 73।।

अनुवाद

यही (विज्ञानमय कोश से युक्त चैतन्य) कर्त्ता, उपभोक्ता, सुख, सम्पन्न, दुःखी होना आदि कारणों से (तथा) अभिमानत्व के कारण इस लोक और परलोक का आवागमन कर्त्ता व्यावहारिक अवस्था में जीव कहलाता है।

व्याख्या

कर्तृत्व........ परलोकगामी –कर्त्ता होने तथा भोग करने वाला होना ये दो जीव के अभिमान हैं। चिदात्मा के वस्तुतःकर्त्ता भोक्ता न होने पर एवम् नित्यानन्द रूप अपरिच्छिन्नष्क्रिय होने पर भी विज्ञानमय कोश अभिमानी होने के कारण इहलोक परलोक में गन्ता व्यावहारिक जीव के लोक–परलोक गमनरूप व्यवहार का हेतु बन जाता है।

मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति।। 74।।

अनुवाद

1. मनोमयकोशः – पाँच ज्ञानेन्द्रियों समेत मन के मिल जाने पर मनोमय कोश कहलाता है– यही बात पंचदशी में निम्न प्रकार से कही गई है–

'सात्विकेर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्माः मनोमयः।

तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निष्चयात्मिका।।'

अर्थात् विमर्शात्मा मन (पंचमहाभूतों के) सत्त्वगुणांशों से उत्पन्न हुई इन्द्रियों से संयुक्त होकर मनोमय कोश होता है। निश्चयात्मिका बुद्धि उन्हीं ज्ञानेन्द्रियों से मिलकर विज्ञानमय कोश बन जाती है।

कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्याणि।। 75।।

अनुवाद

वाणी, हाथ, पैर, पायु तथा उपस्थ– ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

व्याख्या

कर्मेन्द्रियाणि –ज्ञानेन्द्रियों के समान कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हाथ, पैर, पायु तथा उपस्थ) भी पंचभूतों के रजोऽशों से उत्पन्न हुई हैं इनके क्रमशः विषय हैं वचन, आदान, गमन, विसर्ग तथा आनन्द। पंचदशी इसी भौतिकता का समर्थन करती है–

''रजोऽशैः पंचभिस्तेषां क्रमात्कर्मेन्द्रियाणि तु।

वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे।।''

एतानि पुनराकाषादीनां रजोऽंषेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्–पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते।। 76।।

अनुवाद

ये (पंचकर्मेन्द्रियाँ) आकाशादि के रजोगुणांशों से अलग–अलग क्रमशः पैदा होती हैं।

व्याख्या

एतानि...... उत्पद्यन्ते –अर्थात् इन इन्द्रियों में आकाशादि के रजोगुणांश से क्रमशः पृथक्–पृथक् आकाश के रजोगुणांश से वाक् वायु के रजोगुणांश से हाथ, अग्नि के रजोगुणांश से पैर, जल के रजोगुणांश से वायु और पृथिवी के रजोगुणांश से उपस्थ इन्द्रिय का प्रादुर्भाव होता है।

वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः।। 77।।

अनुवाद

प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान ये (पंच) वायु हैं।

व्याख्या

श्रुतियों में पाँचों वायुओं का विवरण मिलता है जो आगे कहा जाएगा।

प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती।। 78।।

अनुवाद

सामने गमन वाली नाक के अग्रभाग में वर्तमान रहने वाली वायु 'प्राण' है।

व्याख्या

प्राणः –नासिक के अग्रभाग में इसकी उपलब्धि साक्षात् रूप से होती है तथा नाक पर हाथ लगाने से इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है, इसी से इसे नासाग्रस्थानवर्ती कहा गया है तथापि 'प्राणो हृदये' में इसे हृदय में रहने वाला कहा गया है।

अपानो नामावाग्गमनवान् पाय्वादिस्थानवर्ती।। 79।।

अनुवाद

निम्न गमन वाली वायु (गुदादि) स्थानों में रहने वाली 'अपान' वायु है।

व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलषरीवर्ती।। 80।।

अनुवाद

सब ओर गमन करने वाली सम्पूर्ण शरीर में वर्तमान रहने वाली वायु व्यान है।

व्याख्या

व्यानो.....वर्ती –छान्दोग्य उपनिषद् के मतानुसार यह प्राण और अपान की सन्धि है– 'अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः सः व्यानः।' इसका उपयोग वीर्ययुक्त कर्म करते समय किया है। इन्हें मनुष्य प्राण तथा अपान को रोक कर ही करता है। इसी से व्यान वायु प्राण और अपान की नियमनर्त्री भी कही गई है।

उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः।। 81।।

अनुवाद

ऊपर की ओर चलने वाली कण्ठ स्थानीय वायु उदान वायु है।

व्याख्या

उदान –'चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' श्रुति–वचनानुसार उत्क्रमण ऊपर की ओर जाने वाली वायु, आँख, शरीर या अन्य किसी शरीर के अवयव से निकाली जाने वाली होने से किसी भी द्वार से जाते समय कण्ठ से अवश्य निकलेगी, अतः इसे कण्ठस्थानीय कहा गया है।

समानो नाम शरीरमध्यगतशितपीतान्नादिसमीकरणकरः।। 82।।

अनुवाद

शरीर में खाये–पिये हुए अन्नादि का अच्छी प्रकार परिपाक (समीकरण) करने वाली वायु समान है।

समीकरणन्तु परिपाककरणं रसरुधिरषुक्रपुरीषादिकरणमिति यावत्।। 83।।

अनुवाद

रस, रक्त और शरीर के अन्य पदार्थों में (भोज्य पेय पदार्थों का) परिवर्तन करना और भोजन आदि का पाचन करना 'समीकरण' है।

व्याख्या

समीकरणम् –पेट में प्राप्त हुए अन्न से पार अंश को पृथक् करके रस रक्त आदि सात धातुओं (रसों) के रूप में पचाकर परिवर्तित कर देना तथा वर्ज्यांश को मलादिरूप में बाहर निकाल देना ही समीकरण है।

केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजुयाख्याः पंच्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति।। 84।।

अनुवाद

कुछ लोग तो (सांख्यमत वाले) 'नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनंजय नामक पाँच अन्य वायु हैं' ऐसा कहते हैं।

व्याख्या

केचित्तु....वदन्ति –इन अतिरिक्त पंचवायुओं का वर्णन गोरक्षाशतक तथा मानसोल्लास में भी किया गया है।

तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनंजयः पोषणकरः।। 85।।

अनुवाद

उनमें (अन्य पाँच वायुओं में) वमनादि कराने वाली वायु नाग, पलकों को खोलने तथा बन्द करने वाली कूर्म, बुभुक्षा उत्पन्न करने वाली कृकल, जम्भाई उत्पन्न करने वाली देवदत्त तथा शरीर को पोषण करने वाली वायु धनंजय है।

व्याख्या

धनंजय –मानसोल्लास तथा गोरक्षाशतक के अतिरिक्त पंचवायु वर्णन से इस वायु का स्वरूप कुछ और स्पष्ट होता है। यह सारे शरीर को पुष्ट करने के साथ ही मरने पर शरीर को छोड़ती नहीं।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. पंचमहाभूतों में गुणाधार क्या उत्पन्न होता है?
2. सूक्ष्म शरीर के कितने अवयव है?
3. ज्ञानेन्द्रिय से युक्त मन क्या कहलाता है?
4. पंच वायु कौन–कौन है?

15.5 सारांष

वेदान्तसार में सृष्टि रचनाक्रम को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यहां सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति वाले सिद्धान्त को अपनाया गया है। सदानन्द ने सृष्टि के क्रमिक विकास को निम्नलिखित रूप में वर्णित किया है– ''तमोगुण की प्रधानता वाले विक्षेप शक्ति से युक्त चैतन्य (ईश्वर) से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है।

15.6 कठिन शब्दावली

चतुर्विध शरीर –चार प्रकार के शरीर   **उत्पद्यते** –उत्पन्न होती है

चक्षु –आँख   **कर्ण** –कान

जाड्य –जड़ता   **भव** –होना

15.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. विज्ञानमयकोश
2. सृष्टि

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. सत्त्व, रजस, तमस
2. सत्रह
3. मनोमय कोश
4. प्राण, अपान, व्यास, उदान, समान

15.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. वेदान्तसार – डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी एवं प्रो. किरणलता क्षत्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ – 250002।
2. वेदान्तसार – सं. रामशरण शास्त्री, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।
3. वेदान्तसार – डॉ. राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, बैंग्लो रोड, दिल्ली – 7।
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा – आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टल, दिल्ली।

15.9 अभ्यास प्रश्न

1. सदानन्द कृत वेदान्तसार में पंचीकरण प्रक्रिया को स्पष्ट करें।
2. सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर) के स्वरूप का प्रतिपाद्य करें।
3. वेदान्तसार के अनुसार सृष्टि के क्रमिक विकास का विवेचन करें।
4. ''एतेषु कोशेषु .... सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते'' व्याख्या करें।

षोड्ष इकाई

सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर

संरचना

16.1 प्रस्तावना

16.2 उद्देश्य

16.3 सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर

- स्वयं आंकलन प्रष्न– 1

16.4 वेदान्तसूत्र (86–114 तक)

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 2

16.5 सारांष

16.6 कठिन शब्दावली

16.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

16.8 अनुषंसित ग्रन्थ

16.9 अभ्यास प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

विज्ञानमयकोश, प्राणमयकोश तथा मनोमयकोश को मिलाकर सूक्ष्म शरीर बनता है। इसमें 17 अंग होते हैं– 5 ज्ञानेन्द्रियां, 5 कर्मेन्द्रियां, 5 वायुऐं और बुद्धि तथा मनस्। इसी शरीर में ज्ञान इच्छा तथा क्रिया तीनों शक्तियां रहती हैं और अपने अनुरूप कार्य करती हैं।

16.2 उद्देश्य

- स्थूल शरीर ज्ञान
- सूक्ष्म शरीर ज्ञान
- पंचीकरण ज्ञान
- समष्टि–व्यष्टि ज्ञान

16.3 सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर

विज्ञानमयकोश, प्राणमयकोश तथा मनोमयकोश में से प्राणमयकोश ज्ञान शक्ति सम्पन्न कर्त्तारूप है। मनोमयकोश इच्छाशक्तियुक्त करणरूप है तथा प्राणमयकोश क्रियाशक्ति सम्पन्न कार्यरूप है। पृथक्–पृथक् तीनों की (अपनी–अपनी) योग्यता के अनुरूप ही इनका (कर्त्ता, करण तथा कार्य आदि द्वारा) विभाग वर्णन किया जाता है। ये तीनों कोश मिलकर 'सूक्ष्मशरीर' कहे जाते हैं।

विज्ञानमयकोश चैतन्य के परम सन्निकर्ष के कारण ज्ञानशक्तिसम्पन्न होता है तथा वर्तमान भोक्ताभाव आदि का अभिमानी होने के कारण इसका कर्त्तारूप है। जैसा कि वृहदारण्यक उपनिषद् के वचनों से भी पता चलता है–

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति पुरुषः।'

जो प्राणों में हृदय (बुद्धि) के अन्दर रहने वाला विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरुष है।

सूक्ष्म शरीर ही लिंगशरीर कहे जाते हैं, क्योंकि इनके द्वारा प्रत्यगात्मा की सत्ता का ज्ञापन होता है। जिस भांति सूक्ष्म शरीर के वेदान्त में सत्रह अवयव माने गये हैं वे ही लिंगशरीर के भी अवयव हुए, क्योंकि सूक्ष्म शरीर की ही दूसरी संज्ञा लिंगशरीर है। लिंगशरीर संज्ञा से अभिहित होने का कारण इस प्रकार है–

लिङ्गग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्सद्भाव एभिरिति लिङ्गानि।

लिङ्गानि च तानि शरीराणि चेति लिङ्गशरीराणि।।

पंचदशी के अनुसार लिंग (सूक्ष्म) शरीर के अवयव हैं–

बुद्धि, कर्मेन्द्रिय, प्राणपंचकैर्मनसा धिया।

शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्म तल्लिङ्गमुच्यते।।

किन्तु सांख्यतत्त्वकौमुदी में इसके निम्नलिखित अवयव कहे गये हैं–

महदङ्कारैकादशेन्द्रियपंचतन्मात्रपर्यन्तम्।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. विज्ञानमयकोश, मनोमयकोश और प्राणमयकोश यह तीनों मिलकर क्या कहलाते हैं?
2. पंचीकृत (महाभूतों) को क्या कहते हैं?

16.4 वेदान्तसूत्र (86–114 तक)

एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पंचैवेति केचित्।। 86।।

अनुवाद

कुछ लोगों के अनुसार (वेदान्तमतानुसार) इन नागादि पाँच वायुओं का इन्हीं प्राणादि पाँच वायुओं में अन्तर्भाव हो जाने से ये पाँच हैं (न कि दस)।

एतत्प्राणादिपंचकमाकाषादिगतरजोंऽषेभ्यो मिलितेभ्यः उत्पद्यते।। 87।।

अनुवाद

ये प्राणादि पाँच वायु आकाशादि में स्थित रजोगुणामिश्रित अंशों में उत्पन्न होती हैं।

व्याख्या

मिलितेभ्यः –ये प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, आकाश आदि के मिश्रित रजोगुणांशों से उत्पन्न कही गई हैं क्योंकि आपेक्षित हैं।

इदं प्राणादिपंचकं कर्मेन्दियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंऽषकार्यत्वम्।। 88।।

अनुवाद

ये प्राणादि पाँच वायु कर्मेन्द्रियों के सहित प्राणमयकोश कहलाती हैं। इनके क्रियात्मक होने के कारण इन्हें रजोगुण के अंशों से उत्पन्न कहा जाता है।

व्याख्या

रजोंऽषकार्यत्वम् – प्राणमय कोश को रजोंऽशकार्यत्वम् कहा है– सांख्यमत तथा गीता के अनुसार क्रमषः प्रेरक तथा क्रियाशील रजोगुण बताया गया है– 'रजः कर्मणि भारत' गीता तथा उपष्टम्भकं चलं च रजः (सांख्यकारिका)। अतः प्राणमयकोश क्रियाशील है क्योंकि वह रजोंऽश का कार्य है।

एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं। सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते।। 89।।

अनुवाद

इन तीनों कोशों में से विज्ञानमयकोश ज्ञान शक्ति सम्पन्न कर्त्तारूप है। मनोमयकोश इच्छाशक्तियुक्त करणरूप है तथा प्राणमयकोश क्रियाशक्ति सम्पन्न कार्यरूप है। पृथक्–पृथक् तीनों की (अपनी–अपनी) योग्यता के अनुरूप ही इनका (कर्त्ता, करण तथा कार्य आदि द्वारा) विभाग वर्णन किया जाता है। ये तीनों कोश मिलकर 'सूक्ष्मशरीर' कहे जाते हैं।

व्याख्या

1. ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः –विज्ञानमयकोश चैतन्य के परम सन्निकर्ष के कारण ज्ञानशक्तिसम्पन्न होता है तथा वर्तमान भोक्ताभाव आदि का अभिमानी होने के कारण इसका कर्त्तारूप है। जैसा कि वृहदारण्यक उपनिषद् के वचनों से भी पता चलता है–

'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।'

जो प्राणों में हृदय (बुद्धि) के अन्दर रहने वाला विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरुष है।

2. इच्छाशक्तिमान् करणरूपः –मनोमय कोश इच्छाशक्तियुक्त होता है। विवेक का साधनभूत होने से इच्छा का करण होना सिद्ध है। आत्मा इन्द्रिय तथा विषय का सान्निध्य होने पर भी ज्ञान होना अथवा न होना मन पर आश्रित होता है। 'अन्यत्रमना अभवम् नादर्शमन्यत्रमना अभूवना श्रौषमिति मनसा ह्मोव पश्यति मनसा शृणोति।' प्रस्तुत श्रुतिवचन 'मेरा मन अन्यत्र था, इससे मैंने देखा नहीं, मेरा मन अन्यासक्त था अतः सुन नहीं सका, वह मन से ही देखता है तथा मन से ही सुनता है' इस प्रकार मन को ही करणरूप सिद्ध करता है। अतः मनोमय कोश इच्छा शक्तियुक्त होने से करणरूप है।

3. क्रियाषक्तिमान् कार्यरूपः –प्राणमय कोश क्रियाशक्तिमान् होने से कार्यरूप है जैसा कि श्रुति भी इसके कार्यरूपत्व को प्रमाणित करती है– 'तौ मिथुनं समैतां ततः प्राणोंऽजायत।' इससे मिथुनीभूत् (पारस्परिक संसर्गयुक्त) वाणी और मन से उत्पन्न होने से प्राणमयकोश कार्यरूप सिद्ध होता है।

अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाषयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति।। 90।।

अनुवाद

यहां पर भी सम्पूर्ण सकल चराचर के सूक्ष्म शरीर, एकत्व के ज्ञान का विषय होने के कारण वन अथवा जलाशय के समान समष्टि (समुदाय रूप), अनेकत्व के ज्ञान का विषय होने के कारण वृक्ष अथवा जल के समान व्यष्टि भी होते हैं।

व्याख्या

अत्रापि.... भवति –सम्पूर्ण चराचर अनन्त सूक्ष्मशरीरों के शरीररूपेण एक मानकर एकत्व की विवक्षा में एकता के ज्ञान का विषय होने के कारण वन अथवा जलाशय के समान समष्टि तथा उन्हीं को अलग–अलग अनेक मानकर अनेक जीवों की विवक्षा होने पर स्वस्वबुद्धि का विषय होने के कारण वृक्ष अथवा जल के समान व्यष्टि पद कहते हैं।

एतत्समष्टयुपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वा –ज्ज्ञानेच्छाक्रियाषक्तिमदुपहितत्वाच्च।। 91।।

अनुवाद

इस समष्टि (समुदाय) उपाधि से युक्त चैतन्य को सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ तथा प्राण कहते हैं क्योंकि (यह) सर्वत्र व्याप्त तथा (तीनों कोशों से युक्त होने के कारण) ज्ञान इच्छा तथा क्रिया से सम्पन्न है।

व्याख्या

1. हिरण्यगर्भः –'हिरण्यस्य गर्भः' वृत्ति के अनुसार ज्ञानशक्तिमान् विज्ञानमय कोश ही हिरण्मय अण्डा है, उससे ढका होने के कारण उसके अभिमानी चैतन्य को हिरण्यगर्भ कहा जाता है। श्रुतिवाक्यों में यह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ तथा प्राण आदि अभिधानों से विख्यात है– 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे।'

2. मनुस्मृति में स्वर्ण के अण्डे से ब्रह्मा के उत्पन्न होने की कथा है–

'तदण्डमभवत् हैमम् सहस्त्रांशुसमप्रभम्।

तस्मिन् जज्ञे स्वयम् ब्रह्मासर्वलोकपितामहः।।'

अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपंचापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोषत्रयं, जाग्रद्वासनाम –यत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलप्रपंचलयस्थानमिति चोच्यते।। 92।।

अनुवाद

इस (हिरण्यगर्भ) की यह समष्टि स्थूलप्रपंच की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मशरीर, विज्ञानमयादि तीनों कोशों वाली, जाग्रत अवस्था में वासनायुक्त होने के कारण स्वप्न, इसी कारण स्थूलप्रपंच के लय का स्थान कही जाती है।

व्याख्या

जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नः –जागरण अवस्था के विषयानुभावों रूपी वासनाओं से बने होने के कारण चित्त में वासनायें ही स्वप्न को उत्पन्न करती हैं– इसी कारण स्वप्न केवल वासनामय होता है। इस सूक्ष्मशरीर को भी जागरणावस्था के विषयानुभवरूप वासनाओं से उत्पन्न होने के कारण 'स्वप्न' कहा जाता है।

एतद्व्यष्टयुपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्।। 93।।

अनुवाद

यह व्यष्टि की उपाधि से युक्त चैतन्य, तेजोमय अन्तःकरण ही उपाधि से युक्त होने के कारण 'तैजस' कहलाता है।

व्याख्या

तेजोमय –पूर्व प्रसंगों में आन्तरिक इन्द्रियों को भूतों के मिलिताशी से बना हुआ कहने के पश्चात् तेजोमय कहना केवल तेज की प्रधानता को सूचित करता है। संस्कृत में 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' (जिसका प्राधान्य होता है उसी के नाम से वह व्यवहित किया जाता है) इसी के आधार पर यहां तेजोमय कहा गया है।

अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलषरीरपेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोषत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलषरीरलयस्था नमिति चोच्यते।। 94।।

अनुवाद

इसकी भी यह व्यष्टि स्थूलशरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मशरीर विज्ञानमयादि तीन कोशों से सम्पन्न, चैतन्यानुभूत अवस्था की वासना से युक्त होने के कारण स्वप्न, इसी कारण स्थूलशरीर के विषय का स्थल कहलाती है।

एतौ सूत्रात्मतैजसो तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः प्रविविक्तभुक्ततैजस इत्यादिश्रुतेः।। 95।।

अनुवाद

उस समय (स्वप्नावस्था में) ये दोनों सूत्रात्मा तथा तैजस मनोवृत्तियों से (वासनामय शब्दादि) सूक्ष्मविषयों का अनुभव करते हैं। श्रुतिवचन भी है– 'तैजस सूक्ष्म भोक्ता है।'

व्याख्या

मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयानुभवतः–निद्रादि दोषों के कारण अन्तरिन्द्रिय में अदृश्यादिजागरित संस्कारों के सहयोग से तदनुरूप वृत्तियाँ चैतन्यगत अविद्याशक्ति से विषयाकार धारण करके उन वृत्तियों द्वारा दोनों (सूत्रात्मा तैजस) जागरणावस्था की वासनाओं में उद्भूत सूक्ष्मविषयों की अनुभूति करते हैं।

अत्रापि समष्टिव्यष्टर्या स्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाषवच्च जलाषय–जलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेदः।। 96।।

अनुवाद

यहां पर भी समष्टि और व्यष्टि की तथा उन दोनों की उपाधि से युक्त सूत्रात्मा तैजस की, वन और वृक्ष उनसे अविच्छिन्न आकाश की तरह सरोवर एवं जल तथा उसमें प्रतिबिम्बित आकाश की भाँति अभिन्नता है।

व्याख्या

समष्टिव्यष्टयोरभेदः –यहां समष्टि तथा व्यष्टि में अभेद (ऐक्य) उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित किया है। अर्थात् समष्टि ही व्यष्टि है तथा व्यष्टि ही समष्टि है। इस प्रकार दोनों एक ही हैं। इसी का समर्थन वृहदारण्यकोपनिषद् के निम्न वाक्य में हुआ है–

'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः।'

टीकाकार रामनाथ ने समष्टि और व्यष्टि को क्रमशः सामान्य और विशेष का वाचक माना है सामान्य और विशेष में अभेद होता है। किन्तु किसी भेद की कल्पना कर पृथक्–पृथक् व्यवहार किया जाता है।

एवं सूक्ष्मषरीरोत्पत्तिः।। 97।।

अनुवाद

इस प्रकार सूक्ष्मशरीर उत्पन्न होता है।

व्याख्या

विज्ञानमय कोश, प्राणमय कोश तथा मनोमय कोश को मिलाकर सूक्ष्म शरीर बनता है। इसमें 17 अंग होते हैं– 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ, 5 वायुएं और बुद्धि तथा मनस्। इसी शरीर में ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया तीनों शक्तियाँ रहती हैं और अपने अनुरूप कार्य करती हैं।

स्थूलभूतानि तु पंचीकृतानि।। 98।।

अनुवाद

अतिस्थूलभूत पंचीकृतों (महाभूतों) को कहते हैं।

व्याख्या

अपंचीकृत भूत सूक्ष्म स्वरूप है। इससे विकसित जड़ प्रकृति (माया) स्वरूप प्राप्त करती है। यही अवस्था पंचीकृत की अवस्था है।

पंचीकरणं त्वाकाषदिपंचस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पंचभागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णा भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम्।। 99।।

अनुवाद

आकाशादि पाँच महाभूतों में से प्रत्येक को समान दो भागों में बाँटकर उन (5 X 2 = 10) दस भागों में से प्राथमिक (अर्धांश) पाँच भागों को पुनः चार बराबर भागों में प्रत्येक को विभक्त करके उनकी (1/8 भाग को) अपने–अपने द्वितीयार्ध भाग को छोड़कर दूसरे भागों को मिलाने की प्रक्रिया पंचीकरण है (अर्थात् आकाश = 1/2 भाग आकाश + 1/8 भाग वायु + 1/8 भाग अग्नि + 1/8 भाग जल + 1/8 भाग पृथ्वी। इसी प्रकार अन्य महाभूतों को अपने अंश का 1/2 भाग तथा अन्य चार महाभूतों का 1/8 अंश मिलकर पंचीकृत महाभूत बनता है)।

व्याख्या

पंचीकरण –सृष्टिविकासार्थ पंचभूतों का परस्पर सम्मिश्रण ही पंचीकरण है। इस प्रक्रियानुसार पाँच भूतों के प्रत्येक के दो बराबर भाग करके उन–उन भूतों के आधे–आधे भागों में अन्य–अन्य भूतों के आठवें अंश को मिला देने से पंचीकृत महाभूत बनते हैं। अर्थात् पृथ्वी में केवल आधा भाग पृथ्वी का और अवशेष आधे में आकाश, वायु, तेज तथा जल का 1/8 भाग साधारणतया रहता है। इसी भाँति अन्य भूतों में भी अपना अर्धांश तथा शेष अन्य का आठवाँ भाग रहता है।

तदुक्तम् –

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः। स्वस्वेतरद्वितीयांषैर्योजनात्पंच पंच ते।।' इति।। 100।।

अन्वय

प्रथम् (प्रत्येक) द्विधा विधाय, पुनः एकैकं चतुर्धा (विधाय) स्वस्वेत्तरद्वितीयांशैः योजनात् ते पंच पंच (एव) भवन्ति।

अनुवाद

प्रत्येक को दो समान भागों में विभक्त करके पुनः पहले अर्धभागों को चार विभागों में बांटकर भूतों के प्रत्येक अर्धभाग में अपने अंश को छोड़कर अन्य भूतों के अर्धांश का चौथा अथवा आठवां भाग मिश्रित करने से पाँच (महाभूत), पाँच ही हो जाते हैं।

व्याख्या

इस कारिका को स्पष्ट करने के लिए 'एक–एक रूपये का नोट (पाँच) पाँच व्यक्तियों के पास है यह कल्पना करना अधिक उचित है। प्रत्येक व्यक्ति अपने रूपये को अठन्नियों में भुना ले और एक–एक अठन्नी अपने पास रखकर दूसरी अठन्नी की चार दुअन्नियाँ करा के उन चारों को शेष चार व्यक्तियों को दे दे। यही काम पाँच व्यक्तियों ने किया, अपनी–अपनी एक अठन्नी पास रखकर दूसरी अठन्नी की चारों दुअन्नियों को चारों को दे दियां इस भाँति सबके पास (चार दुअन्नियों के रूप में आठ–आठ आने और आने से) फिर एक–एक रूपया हो गयां इस तरह आकाशादि पाँच महाभूतों का अपना–अपना आधा हिस्सा तथा शेष चार महाभूतों का आठवां भाग मिलाकर पंचीकृत महाभूत बनते हैं।

प्रो० हरियन्ना ने पंचीकरण को शंकर तथा सुरेश्वर द्वारा निरूपित न मानकर आनन्द ज्ञान आदि परवर्ती व्याख्याकारों द्वारा प्रतिपादित स्वीकार किया है जो उचित नहीं है। शंकराचार्य कहते हैं– पंचमहाभूतानाम् एकैकं द्विधा विभज्य चतुर्धा कृत्वा स्वार्धभाग विहाय इतरेषु पंचधा पंचीकृतेषु पंचीकरणम् भवति।

अस्याप्रामाण्यं नाशकंनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पंचीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्।। 101।।

अनुवाद

उपनिषद् के त्रिवृत्करण के पंचीकरण का उपलक्षण होने का कारण इस (पंचीकरण) के प्रामाण्य के आशँका नहीं करनी चाहिए।

व्याख्या

त्रिवृत्करणश्रुतेः –त्रिवृत्करण का अर्थ है भूतों में तीन भूतों का ही सम्मिश्रण है, फिर यहां पंचीकरण की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा की समस्या का समाधान ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं– तीनों भूतों का परस्पर सम्मिश्रण बताने वाली (त्रिवृत्करणश्रुतेः) श्रुति केवल निर्देशन मात्र है वस्तुतः यह पंचीकरण की ओर संकेत है। पाश्चात्य विद्वान् **डॅयूसन** के सिद्धान्तानुसार उपनिषद् ग्रन्थों में तीन भूतों का ही वर्णन मिलता है जो भारतीय दर्शन के विकास में अपेक्षाकृत अवस्था को द्योतित करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में प्रथम अग्नि, अग्नि ने जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति कहकर इनके (प्रत्येक के आधे तथा शेष दो के चतुर्थ भाग) त्रिवृत्करण द्वारा ही सृष्टि की उत्पत्ति कही गई है– 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मानाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरणाणि।' तथा 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि इति सेयं देवतेमास्तिस्त्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।'

पंचानां पंचात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च 'वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वाद' इति न्यायेनाकाषादिव्यपदेशः सम्भवति।। 102।।

अनुवाद

पाँचों (भूतों में) पाँचों के समान भाग मिश्रित होने पर भी प्रत्येक में विशेषांक के आधार पर ही उनके लिए आकाशादि न्यायसंगत व्यवहार होता है।

तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यंजते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्य प्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाष्च।। 103।।

अनुवाद

तभी पंचीकृत दशा में आकाश में शब्द, वायु में शब्दस्पर्श, अग्नि में शब्दस्पर्शरूप, जल में शब्दस्पर्शरूपरस तथा पृथिवी में शब्दस्पर्शरूपसगन्ध अभिव्यंजित होते हैं।

एतेभ्यः पंचीकृतेभ्योः भूतेभ्यो भूर्भुवः स्वर्महर्जनस्तपः सत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरि विद्यमानानामतमवितलसुतलरसातलतला तलमहातलपातालनामकानामधोऽधो विद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विधस्थूलषरीराणां तदुचितानामन्नापानादीनांचोत्पत्ति र्भवति।। 104।।

अनुवाद

इन पंचीकृत महाभूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, तथा सत्यम् इत्यादि नामक ऊपर के भुवनों का, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल नामक नीचे के विद्यमान लोकों का ब्रह्माण्ड और उसमें स्थित चतुर्विध स्थूलशरीरों और उनके पोषणार्थ अन्न पानादिकों का प्रादुर्भाव होता है।

व्याख्या

1. ब्रह्माण्डस्य –चौदह लोकों को चारों ओर से घेरे हुए लोकालोक पर्वत के भी बाहर पृथ्वी तथा उससे भी बाहर समुद्रादि को मिलाकर ब्रह्माण्ड कहा जाता है। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है– 'ह्यद्वात्रिंशतं वै देवरथाह्नयान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत् पर्येति तां समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्

समुद्रः पर्येति।' रामतीर्थ अपनी टीका में लिखते हैं– 'एतएव स्वावरणभूतलोकालोकपर्वततद्बाह्यपृथ्वीतद्बाह्यसम्रद्रैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते।'

2. लोकानाम् – पाठ्यक्रमानुसार ऊपर के भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् आदि सात लोक हैं तथा अतल आदि सात नीचे भूमि विद्यमान हैं। ये चौदहों लोक क्रमशः प्राणियों के कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होते हैं।

चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्ज्स्वेदजाख्यानि।। 105।।

अनुवाद

जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज नामक चार प्रकार के शरीर हैं।

व्याख्या

चतुर्विध शरीराणि –अमरकोश भी इनका (चार प्रकार के शरीरों का) उल्लेख इस प्रकार करता है– 'नृगवाद्या जरायुजः। स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः पक्षिसर्पादयोण्ऽजाः) उद्भिदस्तरुगुल्माद्याः।'

जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि।। 106।।

अनुवाद

जरायु से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु आदि जरायुज हैं।

अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि।। 107।।

अनुवाद

अण्डों से उत्पन्न होने वाले द्विज (पक्षी) तथा सर्पादि अण्डज हैं।

उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि लतावृक्षादीनि।। 108।।

अनुवाद

भूमि को उद्भेद कर उत्पन्न होने वाले लता, वृक्षादि उद्भिज्ज हैं।

स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकामषकादनि।। 109।।

अनुवाद

पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ तथा मच्छरादि स्वेदज हैं।

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलषरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाषय वद्वा समष्टिर्वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति।। 110।।

अनुवाद

यहां पर भी चतुर्विध स्थूलशरीर, एकत्व या अनेकत्व के ज्ञान का विषय होने के कारण वन या सरोवर की भाँति व्यष्टि भी कहे जाते हैं।

एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद्विविधं राजमानत्वाच्च।। 111।।

अनुवाद

यह समष्टि से उपहित चैतन्य, सर्वमनुष्याभिमानी तथा विविध रूप से शोभायमान होने के कारण वैश्वानर तथा विराड् कहा जाता है।

व्याख्या

1. सर्वनराभिमानित्वाद् –अभिमानी शब्द का वेदान्त में अधिष्ठाता अर्थ किया जाता है। यहां पर नर शब्द केवल मनुष्यों का ही नहीं– प्रत्युत समस्त प्राणियों का उपलक्षणमात्र है तथा 'सर्व' शब्द से 'विश्व' अभिप्रेत है समस्त प्राणियों के शरीर समूह में 'यह मैं हूँ' इस भाँति अभिमान रखने के कारण उसका वैश्वानरत्व है। जैसा कि सुबोधिनी टीका इसकी व्याख्या में कहती है–

'सर्वप्राणिनिकायेष्वहमित्यभिमानवत्त्वात् वैश्वानरत्त्वम्।'

वैश्वानरः विराट् और पुरुष क्रमशः छान्दोग्य तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों में आए हैं अतएव प्रामाणिक हैं।

2. विविधराजमानत्वात् –विविध रूपों में (देव, मनुष्य, पशु, गिरि, नदी तथा समुद्रादि के रूप) विराज होने के कारण 'विराट्' कहा जाता है।

अस्येषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिष्यते।। 112।।

अनुवाद

इनकी यह समष्टि स्थूल शरीर (माता–पिता के खाये) अन्न (से उत्पन्न होने के कारण) का विकार होने के कारण अन्नमयकोश, स्थूल भोग का आश्रय होने के कारण स्थूल शरीर तथा (विषयभोगी होने के कारण) जाग्रत् कहा जाता है।

व्याख्या

जाग्रत् –इन्द्रियों के द्वारा विषयों की प्राप्ति होने से इसको जाग्रत् कहा जाता है। सुबोधिनी टीका भी इसी का समर्थन करती है–

'इन्द्रियैरर्थोपलब्धेष्च जाग्रदवस्थात्वं घटते।'

जागरणवस्था की इसी परिभाषा को शंकराचार्य भी मानते हैं। वे कहते हैं– 'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्।'

एतद् व्यष्टयुपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादि–प्रविष्टत्वात्।। 113।।

अनुवाद

(स्थूल शरीरों की) इस व्यष्टयुपाधि से उपहित चैतन्य, सूक्ष्म शरीरों को बिना त्यागे ही स्थूलशरीरों में प्रवेश करने के कारण विश्व कहलाता है।

व्याख्या

1. स्थूलशरीरादिप्रविष्टवात् –यहां स्थूल शरीर के बाद आदि शब्द निरर्थक है, क्योंकि शरीर के बाद अन्य कोई स्थूल उपाधि ही शेष नहीं रहती। तथा प्रविष्टत्वात् का अर्थ है सम्पूर्ण शरीर में रहने के कारण ही (जीव) विश्व कहलाता है। रामतीर्थ ने 'आदि' शब्दों को सार्थक सिद्ध करने के लिए अपनी टीका विद्वन्मनोरंजिनी में बड़ा प्रयत्न किया है–

''सूक्ष्मशरीरं कारणशरीरं तदपरित्यज्य स्थूलशरीरादौ तदपेक्षया स्थूलशरीरं लिंगशरीरं तदादिर्यस्य परमस्थूलशरीरस्येति तद्गुणसविज्ञानो बहुव्रीहिस्तस्मिन् प्रविष्टत्वात्।''

अर्थात् सूक्ष्मशरीर कारण शरीर है उसे बिना त्यागे स्थूलशरीरादि में कारण की अपेक्षा स्थूलशरीर लिंगशरीर आदि में परमस्थूलशरीर के उस (लिंगशरीर युक्त) परमस्थूलशरीर में प्रविष्ट होने वाला होने से वह 'विश्व' संज्ञा से अभिहित होता है।

2. विश्व –प्रविष्टत्वात् तथा विश्व यद्यपि दोनों एक ही 'विश्' धातु से निष्पन्न हैं किन्तु प्रविष्टत्वात् की 'विश्' धातु 'विश्वभाव' को नहीं कहती हैं बल्कि वह विश्व (सम्पूर्ण) शरीरों में अभिमानी होने के कारण 'विश्व' कहलाती है। रामतीर्थ 'सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद्विश्व इत्युक्तं भवति' कहकर इसे स्पष्टरूपेण समझाते हैं– ''जीव तीन उपाधियों वाला है। सुषुप्ति काल में उसकी उपाधि केवल अज्ञान होती है, स्वप्नावस्था में जागरणावस्था का वासनामय लिंगशरीर उपाधि होता है तथा जागरण काल में सूक्ष्मशरीर में संसृष्ट स्थूलशरीर उपाधि होता है तथा ऐसा होने से जीव पहले–पहले की उपाधि से विशिष्ट बाद–बाद की उपाधियों में प्रविष्ट होता है। इसीलिए सम्पूर्ण शरीरों में प्रविष्ट होने वाला होने से स्थूलशरीराभिमानी जीव की 'विश्व' संज्ञा होती है। प्रो० हिरियन्ना ने जीव को विश्वत्व से विज्ञापित कहा है– पर यह ठीक नहीं है।''

अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते।। 114।।

अनुवाद

इसकी भी व्यष्टि स्थूल शरीर, अन्नविकार होने के कारण अन्नमयकोश तथा जाग्रत कही जाती है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति कैसे होती है?
2. पंचमहाभूत कौन से हैं?

16.5 सारांष

स्थूल शरीरों की इस व्युष्त्युपाधि से उपहित चैतन्य, सूक्ष्म शरीरों को बिना त्यागे ही स्थूलशरीरों में प्रवेश करने के कारण विश्व कहलाता है। समष्टि स्थूल शरीर, माता–पिता के खाये अन्न से उत्पन्न होने के कारण का विकार होने के कारण अन्नमयकोश, स्थूल भोग का आश्रय होने के कारण स्थूल शरीर तथा विषयभोगी होने के कारण जाग्रत् कहा जाता है। समष्टि और व्यष्टि की तथा उन दोनों की

उपाधि से युक्त सूत्रात्मा तैजस की, वन और वृक्ष तथा उनसे अविच्छिन्न आकाश की तरह और सरोवर एवंजल तथा उसमें प्रतिबिम्बित आकाश की भांति अभिन्नता है।

16.6 कठिन शब्दावली

सुक्ष्म –लघु	**पंचवायु** – प्राण अपान ध्यान उदान और समान
हस्त – हाथ	**पाद** – पैर
पृथ्वी – धरती	**भव** –होना

16.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. सूक्ष्म शरीर
2. स्थूल भूत

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. विज्ञान, प्राण, मनोमयकोश को मिलाकर
2. जल, तेज, वायु, आकाश, पृथ्वी

16.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. वेदान्तसार, डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी एवं प्रो. किरणलता क्षत्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ – 250002।
2. वेदान्तसार, सं. रामशरण शास्त्री, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।
3. वेदान्तसार, डॉ. राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, बैंग्लो रोड, दिल्ली – 7।
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टल, दिल्ली।

16.9 अभ्यास प्रश्न

1. स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का सविस्तारपूर्वक वर्णन करें।
2. वेदान्तसार के अनुसार पंचीकरण सिद्ध करें।
3. सदानन्द कृत वेदान्तसार में पंचीकरण प्रक्रिया को स्पष्ट करें।
4. सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर) के स्वरूप का प्रतिपाद्य करें।
5. वेदान्तसार के अनुसार सृष्टि के क्रमिक विकास का विवेचन करें।
6. ''एतेषु कोशेषु .... सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते'' व्याख्या करें।

सप्तदष इकाई

अध्यारोप एवं अपवाद

संरचना

17.1 प्रस्तावना

17.2 उद्देश्य

17.3 अध्यारोप एवं अपवाद

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

17.4 वेदान्तसूत्र (115–143 तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

17.5 सारांष

17.6 कठिन शब्दावली

17.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

17.8 अनुषंसित ग्रन्थ

17.9 अभ्यास प्रश्न

17.1 प्रस्तावना

इस अध्याय के अन्तर्गत वेदान्तसार में अध्यारोप, अपवाद, प्रत्यगात्मा, प्रत्यगात्मा पर अध्यारोप एवं विवर्तवाद का निरुपण है। अद्वैत वेदान्त का मुख्य लक्ष्य जीव और ब्रह्म में ऐक्य प्रतिपादन करना हैं प्रमाता अधिकारी गुरु से उपदेश प्राप्त कर ब्रह्मदेवता बनकर ब्रह्ममय अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है।

17.2 उद्देश्य

- अध्यारोप ज्ञान
- अपवाद ज्ञान
- लक्ष्य–लक्ष्ण भाव सम्बन्ध

17.3 अध्यारोप एवं अपवाद

वेदान्तसार में अध्यारोप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है– 'असर्पभूतायां रज्जौ सर्पाररोपवद् वस्तुन्यवस्त्वरोपोऽध्यारोपः। वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप है, जैसे– असर्पभूत रज्जु में सर्प का आरोप। कभी–कभी ऐसा होता है कि घने अन्धकार में हम रास्ते में पड़ी हुई रस्सी को सर्प समझ लेते है। यह भ्रान्ति या प्रतीत पूर्वदृष्ट वस्तु से प्राप्त संस्कारों के कारण उन्हीं संस्कारों के वशीभूत होकर अन्यत्र उनका अभास कर लेने से होती है। पूर्व दृष्ट सर्प से प्राप्त संस्कारों के कारण अन्धकारवृत मार्ग में पड़ी हुई रस्सी का सादृष्यवशात् सर्प समझ लिया जाता है। इस प्रकार की भ्रमात्मक प्रतीति को अध्यारोप कहा जाता है।

अपवाद –अपवाद का अर्थ है निराकरण– अर्थात् वस्तु में अध्यारोपित अवस्तु का निराकरण। दूसरे शब्दों में इसे मिथ्या ज्ञान का बाध भी कहा जा सकता है। किसी वस्तु का ज्ञान हो जाने पर अज्ञान के कारण उस वस्तु पर आरोपित धारणायें बाधित हो जाती है। जैसे दीपक का प्रकाश आ जाने पर रज्जु में प्रतीत होने वाले सर्पत्व का निराकरण हो जाता है। केवल मात्र रज्जु का ज्ञान रह जाता है। इसी प्रकार अज्ञान के कारण जीव जगत् को सत्य समझ बैठता है परन्तु जब वह गुरु के उपसन्न होता है तथा गुरु का उपदेश सुनता है तो गुरू के उपदेश से तथा श्रवण मननादि साधनों के द्वारा विवेक के जागृत होने पर जगत् को मिथ्या समझने लग जाता है। उसे यह अनुभव हो जाता है कि इस संसार में ब्रह्म ही सद्रूप वस्तु है तथा सकल जड़समूह अवस्तु है। इस प्रकार का ज्ञान अध्यारोप–अपवाद की प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. रज्जू में सर्प का भ्रम क्या है?
2. अध्यारोप अपवाद से किन पदों का तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है?

17.4 वेदान्तसूत्र (115–143 तक)

तदानीमेतौ, विश्ववैष्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाष्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपंचकेन क्रमाच्छब्दस्पर्षरूपरसगन्धानाग्नीन्द्रोपेन्द्रयम प्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपंचकेन क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दांष्च न्द्रचतुर्मुखषंकराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रिसेन मनोबुद्धयहंकारचित्ताख्येनान्त रिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्संकल्पनिष्चयाहंकार्यचैतांष्च सर्वानेतान् 'स्थूलविष– याननुभवतो जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः' इत्यादिश्रुतेः।। 115।।

अनुवाद

उस समय में (जाग्रत अवस्था में) विश्व और वैश्वानर दिक्, वायु, सूर्य, वरुण तथा अश्विनीकुमारों से क्रमशः श्रोत्रादि (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण) पाँच इन्द्रियों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का तथा अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम और प्रजापति द्वारा क्रम से नियमित वाणी, हाथ, पैर, वायु तथा उपस्थ पाँच इन्द्रियों से क्रमशः बोलना, लेना, चलना, विसर्जन एवं आनन्द का तथा चन्द्र, ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु द्वारा क्रमशः नियन्त्रित मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त नामक चार अन्तरिन्द्रियों से क्रमशः संकल्प, निश्चय, गर्व, स्मरणरूपी सब स्थूल विषयों की अनुभूति करते हैं। इस सम्बन्ध में निम्न श्रुतिवचन प्रमाण हैं– 'जाग्रत् अवस्था युक्त (चैतन्य) ही बाह्य विषयों से अवगत है।'

व्याख्या

1. दिग्वातार्कवरुणाष्विभिः –भागवत में बताई गयी कल्पना के अनुसार इन्द्रियों के अभिमानी देवता की कल्पना मानी गई है।

2. तदानीम् –तदानीम् का तात्पर्य इससे पूर्वप्रसंगानुकूल 'जागरण' अवस्था है। पंचमहाभूतों के पंचीकृत हो जाने तथा स्थूल संसार की सृष्टि हो जाने पर वैश्वानर जाग्रत दशा वाला होता है और जब इन्द्रियों द्वारा विषयों की प्राप्ति हो जाती है, वह विश्व की जागरणावस्था है।

3. अन्तरिन्द्रिय चतुष्केण–आन्तरिक विचारों का कारणभूत इन्द्रिय अन्तरिन्द्रिय कहलाती है तथा 'तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्ति भेदेन तद् द्विधा। मनोविमर्शरूपंस्यादबुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका।' 'अनुसन्धानात्मिकान्तःकरण वृत्तिरश्चित्तम्।' अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिरहंकारः के अनुसार अन्तरिन्द्रियाँ चार हैं (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार)।

4. जागरित स्थानः –प्रस्तुत मन्त्र माण्डूक्योपनिषद् का तीसरा मन्त्र है जिसमें वैश्वानर का स्थान जगत् कहा गया है।

अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्टयोस्तदुपहितविष्ववैष्वानरयोष्च वनवृक्षवत्तद वच्छिन्नाकाषवच्च जलाषयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाषवच्च पूर्ववदभेदः।। 116।।

अनुवाद

यहां पर भी इन दोनों स्थूल व्यष्टि और समष्टि में तथा इन दोनों से उपहित विश्व और वैश्वानर में वन और वृक्ष तथा उससे आच्छन्न आकाश से समान एवं जलाशय व जल तथा उसमें प्रतिबिम्बित आकाश की तरह पूर्वोल्लेख के अनुसार ही अभिन्नता है।

व्याख्या

विश्व तथा वैश्वानर रूप स्थूल शरीरों से आकृष्ट चैतन्य ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरणों के द्वारा स्थूल विषयों का भोग करता है। इन दोनों में भी भेद केवल उपाधियों के द्वारा ज्ञात होता है। तात्त्विक वस्तु तो दोनों में वही एक चैतन्य है।

एवं पंचीकृतपंचभूतेभ्यः स्थूलप्रपंचोत्पत्तिः।। 117।।

अनुवाद

इस प्रकार पंचीकृत पाँच महाभूतों से स्थूलप्रपंच उत्पन्न होता है।

व्याख्या

जड़ प्रकृति का यह स्थूलतम स्वरूप है। इस प्रकार कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल प्रपंचों के एक दृष्टि के विषय होने से समष्टि रूप में एक महान प्रपंच होता है। इन प्रपंचों में रहने वाले, 'ईश्वर–प्राज्ञ', 'सूत्रात्मा–तैजस्' तथा 'वैश्वानर विश्व' इन सब में कोई वास्तविक भेद नहीं है। देखने में जो भेद हैं, वह केवल उपाधियों के कारण हैं।

एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपंचानामपि समष्टिरेको महान् प्रपंचो भवति। यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति यथा वाऽवान्तरजलाषयानां समष्टिरेको महान् जलाषयः।। 118।।

अनुवाद

जैसे– पृथक्–पृथक् वनों (वनभागों) का समुदाय एक महान् वन बन जाता है तथा जैसे भिन्न–भिन्न जलाशयों का समुदाय एक महान् सरोवर हो जाता है, उसी भाँति इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण प्रपंचों का भी समुदाय (उपाधि) एक महान् प्रपंच बन जाता है।

व्याख्या

एतेषां .... जलाषयः–जैसे अनेक आम्रवृक्षों का समूह आम्रवन, अनेक महुए के वृक्षों का समूह महुआवन तथा अनेक पलाशवृक्षों का समूह पलाशवन को सामूहिक रूप से कहने की विवक्षा होने पर उसे महावन कहा जाता है, उसी प्रकार कारणसृष्टि अज्ञानों की समष्टि है– सूक्ष्मसृष्टि सूक्ष्मशरीरों का समुदाय है तथा स्थूलसृष्टि स्थूल शरीरों का समूह है, इन तीनों को सामूहिक रूप से कहने की इच्छा से इसे एक महान् सृष्टि कहेंगे। यही विश्वप्रपंच कहलाता है, क्योंकि स्थूलसृष्टि के उत्पन्न हो जाने पर उसकी कारणरूपा सूक्ष्म तथा कारणसृष्टि भी स्थित रहती है।

एतदुपहितं वैष्वानरादीष्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तरवनावच्छिन्नाकाषवदवान्तरजलाषयगत –प्रतिबिम्बाकाषवच्चैकमेव।। 119।।

अनुवाद

इनकी उपाधि से उपहित वैश्वानर से ईश्वरपर्यन्त (कारणप्रपंच) चैतन्य भी अवान्तर वनों से आच्छन्न आकाश या अवान्तर सरोवरों में प्रतिबिम्बित आकाश की भाँति एक ही होता है (भिन्न नहीं)।

व्याख्या

एदुतपहितं .... एकमेव –जैसे एक ही महाकाश से आच्छन्न आम्रवन तथा पलाशवन में आच्छन्न आकाश में पार्थक्य प्रतीत होता है तथा एक महाकाश दो भिन्न–भिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित होने पर अलग–अलग प्रतीत होता है। किन्तु यथार्थतः अलग–अलग वनों से आच्छन्न तथा पृथक्–पृथक् तालाबों में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही रहता है, ठीक उसी प्रकार एक चैतन्य की कारणोपाधि से उपहित होने पर ईश्वर तथा प्राज्ञ और सूक्ष्मोपाधि से उपहित होने पर हिरण्यगर्भ और तैजस तथा स्थूलसृष्टि की उपाधि से युक्त होने पर वैश्वानर और विश्व कहलाने के कारण पृथक्–पृथक् प्रतीत होता है। जबकि वस्तुतः वनस्थित तथा जल प्रतिबिम्बित आकाश के समान उपाधि भेद के कारण चैतन्य भी भिन्न–भिन्न नहीं होता अपितु एक ही है। इसलिए तात्त्विक दृष्टि से ये सब एक ही (अभिन्न) हैं।

आभ्यां महाप्रपंचतदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायः पिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं 'सर्वं खल्लविदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य वाच्यं भवति विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति।। 120।।

अनुवाद

इस महाप्रपंच और उससे उपहित चैतन्यों से तप्त हुए लोहे के खण्ड के समान अनुपहित शुद्ध चैतन्य अभिन्न है 'यह सब ब्रह्म ही है' यह जो कहा जाता है वह इस कथन का अभिधा से प्राप्त वाच्यार्थ है तथा वही भिन्न होकर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का लक्ष्यार्थ हो जाता है।

व्याख्या

आभ्यां .... भवति–जैसे लोहे के गोले को आग में डाल देने से यह लाल हो जाता है तथा उससे जलने पर 'मैं लोहे से जल गया' इस प्रकार कहा जाता है लेकिन वास्तव में दाहकताशक्ति अग्नि में होती है, लोहे में नहीं तथा आग के संसर्ग से लोहे तथा आग दोनों का तादातम्याभ्यास होता है उसी भाँति महाप्रपंच तथा उससे अविच्छिन्न चैतन्य के साथ अन्योन्यतादात्म्याध्यासापन्न जो उपाधिशून्य (शुद्ध) है वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का वाच्यार्थ है तथा उक्त महाप्रपंच और उससे अविच्छिन्न चैतन्य के अन्योन्य तादात्म्याध्याय से शुद्ध चैतन्य को पृथक् मानने पर वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का लक्ष्यार्थ हो जाता है 'अयो दहति' में अयोगत अग्नि की लक्षणा से 'लोहे की अग्नि जलाती है' यह लक्ष्यार्थ मात्र उसी भाँति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की चैतन्यांश में लक्षणा के द्वारा सर्वप्रपंच तथा चैतन्या का एकत्व सिद्ध होगा।

एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः।। 121।।

अनुवाद

इस प्रकार वस्तु (ईश्वर चैतन्य) में सामान्य रूप से अवस्तु (महाप्रपंच) का आरोपरूपी अध्यारोप वर्णित किया गया।

व्याख्या

अनुपहित चैतन्य महाप्रपंच और तदुपहित चैतन्य से भिन्न है। अनुपहित चैतन्य के एक अंश में अज्ञान की कल्पना है, जिससे महाप्रपंच की उत्पत्ति होती है। पंचदशी में आया है–

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

इति कृष्णऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकशताम्।।

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमारोपयतीति विशेषतः उच्यते।। 122।।

अनुवाद

अब प्रत्यग् (अन्तरात्मा चैतन्य) में 'यह आत्मा है' यह आरोप विशेष रूप से आरोप कहा जा रहा है।

व्याख्या

प्रत्यगात्मनिः–जो बुद्धि, मन, इन्द्रियसमूह, शरीर तथा दृश्य जगत् का साक्षी तथा दृष्टा होने के कारण इन सब की अपेक्षा आन्तरिक है वह चैतन्य प्रत्यगात्मा कहलाता है। 'प्रत्यग्' का तात्पर्य है आन्तरिक तो इस प्रकार प्रत्यगात्मा का अर्थ हुआ 'अन्तरात्मा'। इसी 'अन्तरात्मा' अर्थ में 'प्रत्यगात्मा' शब्द कठोपनिषद् में प्रयुक्त हुआ है।

'कष्चिद् धीरः प्रत्यागात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन।'

अतिप्राकृतस्तु 'आत्मा वै जायते पुत्र' इत्यादिश्रुतेः स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टष्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति।। 123।।

अनुवाद

अतिसामान्य जन 'पुत्र ही आत्मा है' इत्यादि श्रुत्यनुसार अपने समान ही अपने पुत्र पर भी प्रेम देखने के कारण पुत्र के नष्ट–पुष्ट हो जाने पर 'मैं ही पुष्ट या नष्ट हो गया' इत्यादि अनुभव करने के कारण पुत्र को ही आत्मा कहते हैं।

व्याख्या

1. अतिप्राकृतः –का अर्थ है अत्यधिक साधारण (अनात्मज्ञ)। 'जब सभी मनीषी तथा सामान्य जन एकमत से पुत्रादि को ही आत्मा माने' सम्भवतः यही अध्यात्म चिन्तन के दर्शन के विकास की प्रथ्मावस्था नहीं कही जा सकती, किन्तु स्थूलता तथा दूरी के क्रमानुसार ही यहाँ अतिप्राकृतः (सबसे स्थूल होने के कारण) पूर्व कहा गया है।

2. स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात् –यह वचन पुत्रात्मवाद समर्थक है। अपने पुत्रों के प्रति मनुष्य अपनी ही भाँति प्रेम रखता है किन्तु कभी तो वह अपने से बढ़कर हो जाता है, इसी से मनुष्य स्वयं भूखा रहकर अपने पुत्रों को खिलाकर प्रसन्न होता है। इससे पुत्रों के प्रति सिद्ध हो जाता है तथा परम प्रेम का पात्र ही आत्मा होता है, इसीलिए पुत्रादि को आत्मा कहा गया है–

चार्वाकस्तु 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादिश्रुतेः प्रदीप्तगृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्षनात्स्थूलोऽहं कृषोऽहमित्याद्यनुभवाच्च स्थूलषरीरमात्मेति वदति।। 124।।

अनुवाद

चार्वाक मतानुयायी तो, 'वह पुरुष अन्न रस का विकार है' इत्यादि श्रुतिवचनानुसार जलते हुए घर में से अपने पुत्र को छोड़कर अपने शरीर के बाहर निकल आने को देखकर 'मैं मोटा', 'मैं पतला' इत्यादि अनुभव के आधार पर स्थूल शरीर को आत्मा कहते हैं।

व्याख्या

1. चार्वक–भारतीय भौतिकवादियों को चार्वाक की संज्ञा दी गयी है। उन्हें वृहस्पति का शिष्य भी कहा जाता है। ये आद्य को नहीं मानते। कुछ लोक इसकी व्युत्पत्ति के अनुसार चिर धातु से व्युत्पन्न मानकर खाना–पीन–मस्ती से रहने के उपदेष्टा लोगों को चार्वाक बताते हैं। हिट्ने के अनुसार (चारु + वाच्) जिनके विचार हमें मधुर–प्रिय लगते हैं वे चार्वाक हैं।

2. स वा एष पुरुषोन्नरसमयः –यह वाक्य पुत्रात्मवाद का खण्डन तथा स्थूलदेहात्मवाद का समर्थन करता है। अन्नरसमयः का अर्थ है– अन्नरस से उत्पन्न होकर उसी से धीरे–धीरे बढ़ने के कारण यह अन्नरस के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। पुरुष शब्द लोक में आत्मा के लिए तथा श्रुति इस वचन में अन्नरसमय देह के लिए प्रयुक्त हुआ है अतः स्थूल देह ही आत्मा है यह सिद्ध हो गया।

3. प्रदीप्तगृहात् निर्गमदर्षनात् –जलते हुए घर से अपने पुत्र को छोड़कर स्वयं निकल आने से अपने की अपेक्षा पुत्र के प्रति कम प्रेम दीख पड़ने से स्थूल शरीर ही आत्मा है यह प्रमाणित हो जाता है जैसा कि श्रुतिवचन भी है– 'आत्मा वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिय भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिय भवन्ति।' (अर्थात् पुत्रों के प्रयोजनार्थ पुत्र प्रिय नहीं होते अपितु अपने प्रयोजन के लिए पुत्र प्रिय होते हैं) उसी प्रकर 'तदेतत्प्रियः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादान्तरतरं यदयमात्मा।'

अपरष्चार्वाकः 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयूः' इत्यादि श्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोऽहं बधिरोऽहमित्याद्यनुभवा च्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति।। 125।।

अनुवाद

अन्य चावार्क लोग 'वे प्राण (इन्द्रियाँ) प्रजापति के पास जाकर कहने लगीं' इत्यादि श्रुत्यनुसार इन्द्रियों का अभाव होने पर शरीर चलनाभाव होने से 'मैं काना', 'मैं बहिरा' इत्यादि अनुभूतियों के कारण इन्द्रियों को आत्मा कहते हैं।

व्याख्या

1. तेह ....ऊचुः –उपनिषदों तथा वेदान्त में 'प्राण' शब्द बह्वर्थक है, लेकिन यहां प्रकरणवश इसका अर्थ इन्द्रिय है। वाक् आदि प्रजापति के पास जाकर पूछने में इन्द्रियों का चेतनत्व परमावश्यक है, अतः यहां अर्थापत्ति से 'इन्द्रिय' ही उचित अर्थ है।

2. इन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात् –प्रत्येक मनुष्य अपने को चेतन अनुभव करता है, अतः आत्मा अवश्य ही चेतन होगी। शरीर सुषुप्तिकाल में चेष्टाविहीन जड़ हो जाता है, अतः शरीर आत्मा नहीं हो सकता, इन्द्रियाँ ही चेतन हैं यह 'तेह प्राणाः प्रजापति पितरमेत्योचुः' से विदित हो जाता है। साथ ही चैतन्य से होने वाली शारीरिक चेष्टा–इन्द्रियों के होने पर होती है तथा सुषुप्तिकाल में इन्द्रियों के न होन पर बन्द हो जाती है अतः इन्द्रियों का चेतनत्व सिद्ध है।

3. कोणोऽहं ...... अनुभवाच्च –काना होना या बहिरा होना ये सब इन्द्रियों का धर्म है। लेकिन इन धर्मों की 'मैं काना हूँ' आदि में 'मैं' (आत्मा) का धर्म माना जाता है। अतः इन्द्रियाँ ही आत्मा है और शरीर का आत्मा होना गौण है।

4. इस सन्दर्भ में प्रस्तुत, विविध मत विचारों के बौद्धिक स्तरों से सम्बन्ध रखते हैं। उनकी कोई समय सम्बन्धी पूर्वापरता नहीं है। अरुन्धती प्रदर्शन न्याय से– पहिले स्थूल वस्तु का दर्शन कराकर फिर उसके आधार पर सूक्ष्म वस्तु का दर्शन यहां कराया गया है। **आचार्य शंकर** कहते हैं 'यथारुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां तारामुख्यां प्रथमम् अरुन्धती इति ग्राहयित्वा तां प्रत्ययाख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राह्यति तद्वत्।'

अपरष्चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' इत्यादिश्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगादहमषनायावानहं पिपासावान् इत्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति।। 126।।

अनुवाद

अन्य (प्राणात्मवादी) चार्वाक जन 'आन्तरिक आत्मा (इनसे) अतिरिक्त प्राणमय है इत्यादि श्रुतिकथनानुसार प्राणों का अभाव हो जाने पर इन्द्रियों के कार्य में असमर्थ हो जाने के कारण, 'मैं भूखा हूँ', 'मैं प्यासा हूँ' इत्यादि अनुभव करके 'प्राण ही आत्मा है' ऐसा कहते हैं।

व्याख्या

1. प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगात् –प्राण शब्द 'प्राण' के लिए आया है। इन्द्रियों की स्थिति प्राण पर आश्रित होने के कारण इन्द्रियाँ प्राण नहीं हो सकतीं। प्राण के क्षीण हो जाने पर, विद्यमान होने पर भी इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं और प्राण के संचार होने पर वे पुनः अपने विषयों को ग्रहण करने लगती हैं, इससे 'प्राण' ही आत्मा है।

2. अहम् अषनायावान् अनुभवाच्च –भूख तथा प्यास गणों के धर्म हैं, ये ही अहम् (आत्मा) को प्रतीत कराते हैं जैसा कि विद्वन्मनोरंजिनी कहती है– 'अशनायापिपासयोश्च प्राणधर्मत्वं प्रसिद्धमन्नपानयोरलाभे प्राणविच्छेददर्शनात्।' इसलिए प्राण ही आत्मा है। यह भूख और प्यास का अनुभव 'मैं भूखा हूँ', 'मैं प्यासा हूँ' आदि रूप में प्राणों के आधार से ही है।

अन्यस्तु चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं संकल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति।। 127।।

अनुवाद

अन्य (मनात्मवादी) चार्वाक 'आन्तरिक आत्मा मनोमय है' इत्यादि श्रुति के अनुसार मन के सुप्त हो जाने पर प्राणादि का अभाव हो जाने से 'मैं संकल्पवान् हूँ', 'मैं विकल्पवान् हूँ' इत्यादि अनुभव होने के कारण 'मन आत्मा है' ऐसा कहते हैं।

व्याख्या

मनसि सुप्ते प्राणादेः अभावात् –सुषुप्ति अवस्था में मन के सो जाने पर प्राणादि का भी अभाव हो जाता है (ज्ञान नहीं रहता)। इस प्रकार मन के जागृत रहने पर प्राणादि की सत्ता की अनुभूति होती है। इस अन्वयव्यतिरेक से प्राणादि का अस्तित्व मन पर आश्रित होने के कारण 'मन' ही आत्मा है। विद्वन्मनोरंजिनी भी इसकी व्याख्या करती है– 'मनसि सुप्ते विलीने प्राणादेरभावाद् दृतिवच्छ्वासोच्छ्वासदर्शनस्य द्रष्टुर्दृष्टयध्यारोपितत्वाद् इन्द्रियाभावेऽपि स्वप्नस्मृत्योर्मनसि सम्प्रतिपत्तेर्मनएवात्मेत्यर्थः। (मन ही आत्मा है)।

बौद्धस्तु 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इत्यादिश्रुतेः कुर्तृरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्त्ताहं भोक्तेतयाद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति।। 128।।

अनुवाद

बौद्ध लोग 'आन्तरिक आत्मा विज्ञानमय है (बुद्धि है)' इत्यादि श्रुति के अनुसार कर्त्ता के अभाव होने पर करण की शक्ति का अभाव हो जाने से 'मैं कर्त्ता', 'मैं भोक्ता' इत्यादि अनुभव से 'बुद्धि आत्मा है' ऐसा कहते हैं।

व्याख्या

कर्तुभावे करणस्य शक्त्यभावाद् –कुम्हार को कर्त्ता के अभाव में घट बनाने की सामर्थ्य नहीं प्राप्त होती, उसी प्रकार अधिष्ठाता विज्ञान के बिना मनादि इन्द्रियों में चिन्तन आदि चेष्टा की सामर्थ्य नहीं हो सकती। मन तो कुम्हार के चाक के समान करण मात्र है, उसका प्रयोगकर्त्ता विज्ञान (कुम्हार) के सदृश

है। यदि विज्ञान (कुम्हार) न हो तो मन (चाक) कुछ भी क्रिया (घट बनाने में) करने में समर्थ नहीं हो सकता अतः वही कर्त्ता विज्ञान आत्मा है।

प्राभाकरतार्किकौ तु 'अन्योऽन्तर आत्माऽनन्दमयः' इत्यादिश्रुतेर्बुद्धयादीनामज्ञाने लयदर्षनादहमज्ञोऽहमज्ञानीत्याद्यनुभावाच्चाज्ञानमात्मेति वदतः।। 129।।

अनुवाद

प्रभाकर और तार्किक लोग 'आन्तरिक आत्मा आनन्दमय है' इत्यादि श्रुतिवचनानुसार बुद्धि आदि का अज्ञान में लीन होना देखकर 'मैं आज्ञानी हूँ', 'मैं अज्ञ हूँ' इत्यादि अनुभवों के बल पर 'अज्ञान आत्मा है' ऐसा बताते हैं।

व्याख्या

बुद्धयादीना.......... अनुभवात् –सुषुप्तिकाल में बुद्धि आदि को अज्ञान रूप आत्मा में विलय दर्शन होने के कारण अज्ञान ही आत्मा है। मन एवं इन्द्रियों के विश्रान्त हो जाने पर किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता अतः उस अवस्था में आत्मा स्वगुणमुक्त होता है। इस भाँति प्रभाकर तथा तार्किकों के मतानुसार उस काल में वह ज्ञान हो ही नहीं सकता यह सिद्ध है। 'मैं अज्ञानी हूँ', 'मैं ज्ञानी हूँ' इससे यह विदित हो जाता है कि आत्मा में ज्ञान की स्थिति और अज्ञान का अभाव होता ही रहता है। इससे बौद्धों का विज्ञान को आत्मा मानना खण्डित हो जाता है तथा ये तार्किक और प्रभाकर आनन्द को आत्मा मानते हैं।

भाट्टस्तु 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाश सद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यं आत्मेति वदति।। 130।।

अनुवाद

1. भाट्टः –मीमांसाशास्त्र के दो विख्याताचार्य हुए, कुमारिल भट्ट और प्रभाकर। प्रभाकर का मत पहले दिया जा चुका है। भट्ट से तात्पर्य यहां कुमाररिलभट्ट आचार्य के मतानुयायी लोगों से है।

2. प्रज्ञानघन एवानन्दमयः –'आनन्दमय' का अर्थ है 'आनन्दप्रचुर'। इस श्रुतिवाक्य का भाव शंकराचार्य इस प्रकार करते हैं– स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीव सेयमवस्थाविवेकरूपत्वात् प्रज्ञानघन उच्यते। यथा रात्रो नैशेन तमसाविभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत्प्रज्ञानघन एव। एवशब्दान्न जात्यन्तरं प्रज्ञानव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः। मनसो विषयविषयताकारस्पन्दनायासदुःखाभावादानन्दमय आनन्दप्रायो नानन्द एव।।

अर्थात् स्वप्न और जायत अवस्था में होने वाले मन के स्पन्द प्रज्ञान हैं, वे जिस अवस्था में घनीभूत जैसे हो जाते हैं, वह सुषुप्ति की अवस्था अविवेकी होने के कारण प्रज्ञानघन कही जाती है। जैसे रात में अन्धकारवश सारी चीजें अविभाज्यमान लगती हैं तथा सब कुछ घनीभूत प्रतीत होता है उसी भाँति वह सुषुप्ति 'प्रज्ञानघन' अवस्था है। उस समय प्रज्ञानातिरिक्त अन्यजातीय वस्तु नहीं रहती है इसलिए मन का विषयविषयीभाव से स्फुरणयासदुःख का अवस्था में अभाव होने से यह प्राज्ञ 'आनन्दमय' (आनन्द प्रचुर) है 'आनन्द' ही नहीं है। अतः आत्मा का ज्ञानाज्ञानरूप होना प्रमाणित होता है।

3. सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाषसद्भावात्–सुषुप्तिकाल में ज्ञान और अज्ञान उभय विद्यमान होने से आत्मा में भी ज्ञानाज्ञान दोनों का अस्तित्व रहता है। सुषुप्ति में ज्ञानास्तित्व का कारण है सुषुप्ति में उठने के बाद 'मैं खूब अच्छी तरह सोया' यह अनुभव, सुषुप्तिकाल में अनुभव प्राप्त ज्ञान का ही विमर्शमात्र है। इसी के साथ–साथ 'ऐसा सोया कि कुछ जान नहीं सका' में अज्ञानास्तित्व स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। इस प्रकार सुषुप्ति में प्रकाश ज्ञान तथा अप्रकाश ज्ञान दोनों का अस्तित्व स्पष्टरूपेण प्रमाणित है।

अपरो बौद्ध 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौनासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति।। 131।।

अनुवाद

दूसरे (माध्यमिक मतावलम्बी) बौद्ध 'पूर्व में असत् ही था' इत्यादि श्रुति कथनानुसार सुषुप्ति अवस्था में सबका अभाव होने से 'मैं सुषुप्ति अवस्था में न था' उठने पर ऐसा निजाभावपरामर्शविषयक अनुभव होने से शून्य को आत्मा कहते हैं।

व्याख्या

1. शून्यमात्मेति वदति –माध्यमिक मतावलम्बी बौद्ध आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं करते। वे इसका लक्षण पूछे जाने पर शून्य कोटि बताते हैं। शून्य अर्थात् दृष्टा और दृश्य सर्वथाभाव तदनुसार आत्मा सबका अभावरूप है।

2. अहं सुषुप्तौ नासम् –अपनी सत्ता का भी भान न कराने वाली सुषुप्ति अवस्था में किसी प्रकार की अनुभूति न होने से आत्मा के अभाव का ही निश्चय किया जाता है।

3. असदेवेदमग्र असीत् –इसके बाद वाले श्रुतिवाक्य के द्वारा (ऐसा कैसे हो सकता है) 'भला असत् से सत् की उत्पत्ति हो सकती है' इस वाक्य के द्वारा इस पूर्व मत का निषेध हो जाता है किन्तु बौद्ध जन ने इस वाक्य से अपना स्वार्थ सिद्ध करके बिना पूर्वापर को सोचे उसे झट से सिद्धान्तरूपेण उद्धृत कर दिया लेकिन श्रुतियों का यह मत कदापि अभिमत नहीं है।

'The Bouddhas are said by Brahmanical controversialists to have been divided into four sects, Madhyamikas, Yogacharas, Sautratnikas and Vaibhashikas. Those referred to in the text would be the first two'.

एतेषां पुत्रादीनामनात्मवमुच्यते।। 132।।

अनुवाद

इन पुत्रादियों (पुत्रादि से लेकर शून्यपर्यन्त सब) में अनात्मत्व (आत्मा न होना) प्रतिपादित किया जा रहा है।

व्याख्या

एतेषां .... उच्यते–इस आत्मत्व अंश के प्रदर्शन का प्रयोजन है पुत्र से लेकर शून्यपर्यन्त किसी का भी वास्तविक आत्मा से सम्बन्ध नहीं है। इनमें पहले–पहले के मत उत्तर–उत्तर के मतवादियों के द्वारा खण्डित किए गए हैं। प्रत्येक वादी द्वारा पूर्वोक्त मत खण्डित किया गया है। अन्तिम शून्यात्मवाद को वेदान्तमत से खण्डित किया गया है।

उपर्युक्त बौद्धों के चारों वाद हिन्दू दर्शन में समय–समय पर विद्यमान थे, किन्तु यह कहना कठिन है कि वेदान्तसार में कहे गये बौद्ध सिद्धान्त बौद्धों ने कहां और कब प्रतिपादित किये। बौद्धों का तो सिद्धान्त है कि आत्मा है ही नहीं।

एतैरतिप्राकृतादिवादिभरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु,
पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तरश्रुतियुक्त्यनुभवाभासैरात्मत्वबाधदर्षनात्पुत्रा
–दीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव।। 133।।

अनुवाद

इन अतिसाधारण लोगों द्वारा उदाहरणस्वरूप कहे गये श्रुतिवचनों, युक्तियों तथा अनुभवाभासों में पूर्वपूर्वोक्त श्रुतियों, युक्तियों, व अनुभवाभासों को उत्तरोत्तर श्रुतिवचनों, युक्तियों एवं अनुभवाभासों द्वारा पुत्रादियों का आत्मत्व (आत्मा होना) बाधित हो जाने से पुत्रादिकों का आत्मा न होना स्पष्ट ही है।

व्याख्या

एतै........... स्पष्टमेव –इन लोगों ने अपने मतों का प्रमाणित करने के लिये जिन श्रुतियों को उद्धृत किया है वे उन अर्थों में नहीं उद्धृत की गयी है जो उनको अभीष्ट है अतः वे श्रुतियाँ श्रुतियों की प्रतीतिमान हैं तथा जो उन्होंने युक्ति दी है वे भी हेत्वाभासादि से दूषित होने के कारण युक्त्याभास तथा उनके द्वारा दिया गया अनुभव ही एकांगी होने से अनुभवाभास है, अतः श्रुत्याभास, युक्त्याभास तथा अनुभवाभास से पुत्रादि का आत्मा होना प्रमाणित नहीं हो सकता है।

किंच प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोमऽना अकर्त्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्या दिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तछु तियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिषून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव।। 134।।

अनुवाद

और 'आन्तरिक आत्मा अस्थूल, अचक्षुर, अप्राण, अमना, अकर्त्ता, चैतन्य प्रकाशस्वरूप नित्य है' इत्यादि प्रबल श्रुतियों के विरोधी होने के कारण पुत्रादि से शून्य पर्यन्त सबके जड़ तथा चैतन्याभासमात्र होने से घटादि के सदृश अनित्य होने के कारण 'मैं ब्रह्म हूँ' विद्वानों के अनुभव के प्राबल्य से तथा उन–उन श्रुतिवचनों, युक्तियों व अनुभवाभासों से बाधित होने के कारण पुत्रादि से शून्यपर्यन्त सब आत्मा नहीं हैं, अपितु प्रत्येक चैतन्य ही आत्मा है।'

व्याख्या

कुछ श्रुतियों के अनुसार पुत्रादि आत्मा है, कुछ श्रुतियाँ इनका विरोध करती हैं। इसलिये पुत्रादि की आत्मा होना भी बाधक श्रुतियाँ ही प्रामाणिक हैं तथा पुत्रादि की आत्मत्वसमर्थक श्रुतियाँ प्रामाणिक नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि श्रुतियाँ वेदवाक्य हैं। वेदवाक्य अप्रामाणिक हो ही नहीं सकता तो इसका समाधान यह है कि पुत्रादि की आत्मत्वसाधक श्रुतियाँ अप्रामाणिक हैं ऐसा नहीं बल्कि 'अस्थूलम् अमनां, अकर्त्ता' आदि श्रुतियों के विरोध से उसका स्वार्थ से कोई तात्पर्य नहीं बल्कि स्थूलारुन्धती न्याय से पूर्व श्रुतियों के निराकरण द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु के अवगत कराने में उनका तात्पर्य है। अरुन्धती अतिसूक्ष्म तारा है उसे जो नहीं पहचानता उसको इतने तारागणों में यह पहचानना सामान्य बात नहीं इसलिए इसके लिए युक्ति बताते हैं कि पहले उस व्यक्ति को चन्द्रमा दिखाकर उससे कहते हैं कि यही अरुन्धती है इसके बाद कहते हैं कि चन्द्रमा का निकटवर्ती तारा अनुन्धती है फिर कहते हैं कि उस (तारे) से भिन्न किन्तु उसके समीप के सात तारों के अरुन्धती कहते हैं। तत्पश्चात् उन सातों में से तीन को अरुन्धती कहकर उन तीनों में बीच वाने को अरुन्धती कहकर उनमें भी अतिसूक्ष्म तारे को अरुन्धती कहकर पहचान कराते हैं। यहाँ अरुन्धती को समझने के लिए पाँच वाक्यों को आधार बनाते हैं–

(1) तारा, (2) सात तारे, (3) तीन तारे, (4) तीनों में बीच वाला तारा। लेकिन पारस्परिक विरोधी अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण वे सब अप्रामाणिक नहीं होते क्योंकि समझाने वाले को समझाने की सामर्थ्यानुसार सोपान (सीढ़ी) आरोहण न्याय से उत्तरोत्तर समझाये जाने पर पूर्व–पूर्व का परित्याग करके फिर सबका तात्पर्य अरुन्धती प्रतिपादन में ही संकलित हुआ है। ठीक उसी प्रकार वेदान्त में भी 'अन्नमयः, प्राणमयः, मनोमयः, आनन्दमयः, विज्ञानमयः, आत्मा' आदि परस्पर विरुद्ध अर्थों के प्रतिपादक वाक्य उद्धृत किए गए हैं, लेकिन समझने वाले की सामर्थ्यानुसार क्रमशः पूर्व–पूर्व का परित्याग करके उत्तरोत्तर परम सूक्ष्म ब्रह्म का प्रतिपादन ही सबका अभीष्ट है। अतः सभी वेदवाक्य साक्षात् रूप से अथवा परम्परा से अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन कर्त्ता होने के कारण सभी प्रामाण्य हैं कोई विरूद्ध नहीं।

इस प्रकार का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतन स्वरूप वह आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप है– घटादि जड़ पदार्थों के प्रकाशन के लिये प्रकाश आवश्यक है पर आत्मा के चेतन होने के कारण इसको प्रकाशित करने के लिये कोई भी प्रकाश आपेक्षित नहीं है।

अतस्तत्तद्भासक नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसस्यत्यत्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः।। 135।।

अनुवाद

इसलिए 'तत्तत् वस्तुओं का प्रकाशक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य–स्वभाव आन्तरिक चैतन्य ही आत्मा है जो वस्तु (यथार्थ) है' ऐसी वेदान्त विद्वानों की अनुभूति है।

व्याख्या

1. शुद्ध –जन्म–बुढ़ापा–मरण आदि दुःखों से रहित–असंसारी, बन्धनों से विहीन मुक्त जीवात्मा का स्वरूप ही है, संसार की अवस्था में वह अज्ञानवश अपने को बन्धनयुक्त समझता है। जैसा कि– शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि। संसारमाया परिवर्जितो असि। आदि मनदालसा ने अपने बेटे सन्ध्या से कहा था।

2. बुद्ध –अपनी सत्ता को अभिव्यक्त करने के लिये किसी भी प्रकार के प्रकाश की जो अपेक्षा नहीं रखता। वह स्वतः प्रकाशबुद्ध है।

एवमध्यारोपः।। 136।।

अनुवाद

यही अध्यारोप है।

व्याख्या

वस्तु (यथार्थ) तत्त्व के स्वरूप को माया की आवरण शक्ति के प्रभाव से न देखकर और विक्षेप शक्ति के प्रभाव से उसी को भिन्न–भिन्न रूपों में समझना ही अध्यारोप है और यही अभ्यास भी कहा जाता है।

अपवादो नाम रज्जुविवर्त्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्त्तस्याव स्तुनोऽज्ञानादेः प्रपंचस्य वस्तुमात्रत्वम्।। 137।।

अनुवाद

(किसी सत्य) वस्तु में अज्ञानवश (असत्य) अवस्तु का अध्यारोप कर अज्ञानादि प्रपंचकारण अवस्तु न बनकर वस्तु मात्र में स्थान अपवाद है, जैसे रस्सी में साँप का मिथ्यारोप होने पर उसे दूर कर रस्सी का ज्ञान कराना (अववाद) है।

व्याख्या

1. अपवाद–किसी भी अयथार्थ (अवस्तु) के पीछे गुप्त वस्तु को बताना अपवाद है। बालबोधिनीकार आपदेव के अनुसार 'अवस्तुभूत (अज्ञानादिमिथ्या प्रपंच) का वस्तु (ब्रह्म) रूप से कथन अपवाद है।' –'अवस्तुभूतस्य वस्त्वात्म निर्देश।' विद्वन्मनोरंजिनी के अनुसार– 'कार्यस्य कारणमात्रसत्ताविशेषणं, कारणस्वरूपव्यतिरेकेण कार्यस्य असत्तावधारणं वापवादः।' तात्पर्य है कि समस्त कार्यसमूह का कारण में लय करके कारण मात्र की सत्ता को अवशिष्ट रखना अपवाद है या समस्त कार्यसमूह की कारण रूप से व्यतिरिक्त (भिन्न) कोई भी सत्ता नहीं है ऐसा अवधारण (निश्चय करना) अपवाद है।

2. रज्जुविवर्तस्य वस्तुमात्रत्वम्–जैसे जब रस्सी अपने स्वरूप को छोड़े बिना ही सर्प के आकार की प्रतीत होने लगती है तो वह सर्पाकृति रस्सी का विवर्त कहलाता है– उस रस्सी रूप विवर्त सर्पाकृति का अधिष्ठानभूत रस्सी मात्र रूप में रह जाना उसका अपवाद है वैसे ही चैतन्य के विवर्तरूप अज्ञानादिप्रपंच का अधिष्ठान रूप चैतन्यमात्र के रूप में रह जाना ही उसका अपवाद है।

तदुक्तम्–

सत्त्तवतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।। अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः।। इति।। 138।।

अनुवाद

यही बात निम्न कारिका में इस प्रकार कही गयी है–

'कोई वस्तु अपने रूप को त्यागकर किसी अन्य रूप को ग्रहण करती है तो वह विकारभाव कहलाती है। किसी वस्तु में अपने रूप के परित्याग के बिना दूसरी वस्तु का मिथ्याभास होना विवर्त कहलाता है।'

व्याख्या

सतत्त्वतैः इति।......... पूर्वोक्त अपवाद दो प्रकार से होता है– (1) परिणाम या विकार भाव, (2) विवर्तभाव। जब कोई वस्तु अपने स्वरूप को छोड़कर किसी दूसरे रूप को ग्रहण कर लेती है तो उसे परिणाम या विकारभाव कहते हैं जैसे दूध का दही रूप में परिवर्तित हो जाना विकार या परिणामभाव है, किसी वस्तु में अपने स्वरूप को न छोड़ते हुए दूसरी वस्तु की मिथ्या प्रतीति होना विवर्तभाव है जैसे रस्सी का स्वरूपपरित्यागपूर्वक साँप रूप में मिथ्या प्रतीति होना विवर्त है।

तथाहि एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातम् एतद् भोग्यरूपान्नपानादिकमेत–दायतनभूतभूरादिचतुर्दषभुवनान्येतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पंचीकृतभूतमात्रं भवति।। 139।।

अनुवाद

अतः ये दो भागों के भोक्ता, चारों प्रकार के सब स्थूल शरीर समुदाय और खाये हुए अन्नपानादि तथा इसके आधारभूत भूः, भुवः आदि चौदह लोक, उन लोकों का आधारभूत ब्रह्माण्ड–ये सब अपने कारणरूप पंचीकृत महाभूतों में विलीन हो जाते हैं।

व्याख्या

1. एतद् भोगायतनम् –सुख एवं दुःख की अनुभूति ही भोग है और उस सुखदुः खानुभवानुभूति भोग का स्थान भोगायतन कहलाता है। इस भोग की उपलब्धि स्थूलादि शरीरों में ही होती है, इसी से वे स्थूलादि शरीर भोगायतन कहलाते हैं।

एतानि शब्दादिविषयसहितानि पंचीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापंचीकृतभूतमात्रं भवति।। 140।।

अनुवाद

ये शब्दादि विषयों से युक्त पंचीकृत भूत, सूक्ष्म शरीर समुदाय एवं इनके सब अपने कारणरूप अपंचीकृत भूतमात्रों में ही विलीन हो जाता है।

एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपंचीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेण तत्कारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति।। 141।।

अनुवाद

ये सत्त्वादिगुणसम्पन्न अपंचीकृत महाभूत भी उत्पत्ति के उल्टे क्रम से अपने कारण अज्ञानोपाधि उपहित चैतन्यमात्र में विलीन हो जाता है।

व्याख्या

उत्पत्तिव्युत्क्रमेण–पंचभूतों की उत्पत्ति का जो क्रम कहा गया है उसके विपरीत क्रम से। इसका विपरीत क्रम पृथिवी आदि का परब्रह्म में विलीन हो जाना महाभारत में उल्लिखित है–

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे, पृथिव्याप्सु प्रलीयते।

ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते, ज्योतिर्वायौ प्रलीयते।

वायुष्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।

अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्किले सम्प्रलीयते।

अर्थात् पृथिवी जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में विलीन हो जाता है। आकाश अव्यक्त (मायाशक्ति) में लय हो जाता है तथा अव्यक्त निष्कल (निरंश) पुरुष (ब्रह्म) में लीन हो जाता है।

एतदज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यंचेष्वरादिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपम् तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति।। 142।।

अनुवाद

यह अज्ञानोपाधि से उपहित चैतन्य और ईश्वरादि, अपनी उत्पत्ति के आश्रयभूत उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य तुरीय ब्रह्ममात्र हो जाते हैं (ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं)।

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थषोधनमपि सिद्धं भवति।। 143।।

अनुवाद

इन दोनों अध्यारोपापवादों से तत् तथा त्वम् पदों का तात्पर्य भी स्पष्टीकृत हो जाता है।

व्याख्या

आभ्याम् .... भवति! –(इस भाँति) अध्यारोप तथा अपवाद से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाने पर कि सम्पूर्ण नामरूपात्मक संसार ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही यह सब नामरूपात्मक जगत् है। तो 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में तत् (परब्रह्म शुद्ध चैतन्य) और त्वम् (व्यष्टिरूप अज्ञानोपाधियुक्त चैतन्य) का तात्पर्य भी स्वयं ही विदित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञान एवं कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल की समष्टि तथा उसकी उपाधियुक्त चैतन्य सर्वज्ञतादि विशिष्ट ईश्वर, सूत्रात्मा और वैश्वानर चैतन्य तथा इनकी उपाधि से उपहित चैतन्य (तुरीय चैतन्य) इन सबका तत्तायः पिण्ड के समान एक रूप से अवभासित होना 'तत्' पद का वाच्यार्थ तथा अज्ञानोपहित ईश्वर चैतन्य का आधारस्वरूप जो उपाधिशून्य चैतन्य है उसका अज्ञान तथा उससे आच्छन्न ईश्वर चैतन्य से अलग होकर भिन्न–भिन्न प्रकाशित होना 'तत्पद्' का लक्ष्यार्थ है। इसी भाँति अभेद विवक्षा रूप से प्रकाशित होना त्वम् पद का वाच्यार्थ और व्यष्टिगतज्ञानादि और उसकी उपाधियुक्त जीव चैतन्य और उनके आधारस्वरूप उपाधिशून्य प्रत्यगात्मा तुरीय चैतन्य इन सबका भेद विवक्षा में अलग–अलग प्रतीत होना 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. वस्तु में अवस्तु का आरोप क्या होता है?
2. वस्तु तत्त्व के स्वरूप को क्या समझा जाता है?
3. अपवाद का अर्थ क्या है?
4. रज्जु में किस प्रकार की भ्रांति उत्पन्न होती है?
5. किसी भी अयथार्थ (अवस्तु) के पीछे गुप्त वस्तु को बताना क्या है?
6. महाभूत कितने हैं?

17.5 सारांष

वेदान्त के अनुसार जीव और ब्रह्म में अभिन्नता स्वीकार की गई है। वेदान्त का प्रसिद्ध सिद्धान्त है– जीवों ब्रह्मैव नामरः। अर्थात् जीव ब्रह्म ही है उससे भिन्न नहीं है। यदि 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति में पहुंच जाता है तब उसे ब्रह्मानुभूति हो जाती है। वह स्वयं भी ब्रह्ममय हो जाता है। इस प्रकार जीव में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। जीव और ब्रह्म में अन्तर अविद्या की उपाधि से समुद्भूत होता है। अविद्या का नाश ज्ञानोदय से होता है, अविद्या के नष्ट हो जाने पर जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता है।

17.6 कठिन शब्दावली

पृथ्वी – धरती

वायु – हता

स्वेदन – पसीने से उत्पन्न होने वाले

यत्र–तत्र –यहां–वहां

अग्नि – आग

जल – पानी

तेन –उनके द्वारा

च –तथा

17.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. अध्यारोप
2. तत् तथा त्वम्

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. अध्यारोप
2. माया की आवरण शक्ति
3. निराकरण
4. सर्पाकृति
5. अपवाद
6. पांच

17.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. वेदान्तसार, डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी एवं प्रो. किरणलता क्षत्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ – 250002।
2. वेदान्तसार, सं. रामशरण शास्त्री, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।
3. वेदान्तसार, डॉ. राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, बैंग्लो राड, दिल्ली – 7।
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टल, दिल्ली।

17.9 अभ्यास प्रश्न

1. वेदान्तसार के अनुसार अध्यारोप क्या है? वर्णित करें।
2. वेदान्तसार के अनुसार अपवाद की विवेचना करें।
3. सुखः–दुःख की अनुभूति क्या कहलाती है? वर्णित करें।
4. वेदान्तसार के अनुसार आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करें।

अष्टादष इकाई

महावाक्य

संरचना

18.1 प्रस्तावना

18.2 उद्देश्य

18.3 महावाक्य

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

18.4 वेदान्तसूत्र (143–155 तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

18.5 सारांष

18.6 कठिन शब्दावली

18.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

18.8 अनुषंसित ग्रन्थ

18.9 अभ्यास प्रश्न

18.1 प्रस्तावना

प्रायः चार महावाक्य बताए गए हैं। चार वेदों से एक–एक महावाक्य गृहीत हैं। ये हैं– (1) प्रज्ञानं ब्रह्म, (2) अहं ब्रह्मास्मि, (3) तत्त्वमसि, (4) अयमात्मा ब्रह्म। जीव को इस उच्च कोटि की अवस्था तक पहुँचाने का साधन 'महावाक्य' माने गये हैं। अद्वैत वेदान्त में इन महावाक्यों को संसार –सागर पार करा देने वाला जहाज कहा गया है। इनकी ज्ञान प्राप्ति पर से ही अद्वैत तत्त्व का सम्यक् ज्ञान हो सकता है।

18.2 उद्देश्य

- जीव को उच्च कोटि तक पहुँचाने का साधन – महावाक्य
- लक्ष्य–लक्षण भाव सम्बन्ध
- सम्बन्धत्रय

18.3 महावाक्य

वेदान्तसार में दो महावाक्यों 'तत् त्वमसि' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' का निरूपण किया है। विद्वानों के अनुसार सतत–त्वमसि महावाक्य को उपदेश वाक्य तथा अहं ब्रह्मस्मि, महावाक्य को अनुभव वाक्य माना जाता है। महावाक्यों के ज्ञान के बिन कोई भी साधक अद्वैत पुरुष को नहीं जान सकता इसलिए साधक के द्वारा इन्हें जानना आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः जैसे वेदों का सार गायत्री मन्त्र है वैसे ही अद्वैत

वेदान्त के सिद्धान्तों का सार महावाक्य है। महावाक्यों की संख्या के विषय में भेद पाया जाता है। महावाक्य विवरण नामक ग्रन्थ में इनकी संख्या बारह बताई गई है। परन्तु साधारणतया इनकी संख्या चार मानी जाती है। विद्यारण्य मुनि ने पंचदशी के महावाक्य विवेक प्रकरण में चार महावाक्यों का प्रतिपादन किया है, जो निम्नलिखित हैं–

1. प्रज्ञानं ब्रह्म–चैतन्य ही ब्रह्म है।
2. अहं ब्रह्मास्मि –मैं ब्रह्म हूं।
3. तत् त्वमसि– तुम वह हो।
4. अयामात्मा ब्रह्म –यह आत्मा ब्रह्म है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. प्रज्ञानं ब्रह्म किसके अन्तर्गत आता है?
2. सम्बन्ध कितने हैं?

18.4 वेदान्तसूत्र (143–155 तक)

तथाहि–अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रतं तप्तायः पिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति।। 144।।

अनुवाद

वह इस भाँति है– अज्ञानादि समष्टि (तथा) इससे उपहित सर्वज्ञ होने के कारण विशिष्ट चैतन्य एवं उसकी उपाधि से रहित शुद्ध चैतन्य ये तीनों तपे हुए लौहखण्ड के तुल्य एकता अवभासित होने के कारण 'तत्' पद का वाच्यर्थ (अभिधा से प्राप्त अर्थ) होता है।

एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति।। 145।।

अनुवाद

इस उपाधि से युक्त– उसका आश्रयभूत उपाधिरहित चैतन्य 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ (लक्षणा से प्राप्त अर्थ) होता है।

व्याख्या

तत्पदलक्ष्यार्थः–अज्ञान रूप समष्टि और उस अज्ञान से आवृत ईश्वर, हिरण्यगर्भ तथा वैश्वानर चैतन्य तथा इससे उपाधिशून्य जो अक्षर (अविनाशी) चिन्मात्र ये तीनों तप्तायः पिण्ड के समान एक ही हैं। यह 'तत्' पद का वाच्यार्थ होने पर अज्ञान और उसके कार्यरूप समस्त प्रपंच को सत्ता एवं स्फूर्ति प्रदात्री ईश्वरादि चैतन्य की आधारस्वरूपा जो चेतन एवं आनन्दरूप उपाधिशून्य चैतन्य वस्तु है वह 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ है।

अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहिताल्पज्ञत्वादि विशिष्टचैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायः पिण्डवदेकत्वेनाव –भासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति।। 146।।

अनुवाद

अज्ञानादि की व्यष्टि, उसकी उपाधि से सम्पन्न, अल्पज्ञ होना आदि विशेषणों से विशिष्ट चैतन्य (जीव) तथा उसकी उपाधि से शून्य– ये तीनों तपे हुए लौहपिण्ड के समान अनेकता प्रतीत होने के कारण 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ (अभिधा से प्राप्त) होते हैं।

व्याख्या

त्वम् पदवाच्यार्थः–व्यष्टिगत अज्ञान और उस अज्ञान में आवृत अल्पज्ञता आदि विशिष्ट जो प्राज्ञ–तैजस और विश्वचैतन्य और इनका आधार स्वरूप जो उपाधिरहित चैतन्य है ये तीनों तप्तायः पिण्ड के समान एक ही है। यह 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है।

एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति।। 147।।

अनुवाद

यह उपाधि (तथा) उससे उपहित का आश्रयभूत उपाधिरहित (शुद्ध चैतन्य) आन्तरिकात्मानन्दरूप तुरीय चैतन्य 'त्वम्' का (लक्षणा द्वारा प्राप्त) लक्ष्यार्थ होता है।

व्याख्या

त्वम् पदलक्ष्यार्थ –'अज्ञान आदि उपाधियों से युक्त प्राज्ञ– तैजसविश्व तथा इनका आधारस्वरूप जो उपाधिहीन प्रत्यगानन्द तुरीय चैतन्य से पृथक् है, यह 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है।' (लक्षणा से प्राप्त अर्थ है)।

अर्थ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं 'तत्त्वमसीति' वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति।। 148।।

अनुवाद

अब महावाक्यार्थ का वर्णन किया जा रहा है। यह 'तत्वमसि' (वह तू है) वाक्य तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्डैकार्थबोधक होता है।

व्याख्या

1. महावाक्यार्थ–प्रायः चार महावाक्य बताए गए हैं। चार वेदों से एक–एक महावाक्य गृहीत हैं। ये हैं– (1) प्रज्ञानं ब्रह्म, (2) अहं ब्रह्मास्मि, (3) तत्त्वमसि, (4) अयमात्मा ब्रह्म। इनमें से 'तत्त्वमसि' महावाक्य साक्षादुपदेश होने के कारण विद्वानों के मध्य बड़ा विख्यात है। वेदान्त में प्रायः इसी का व्याख्यान किया गया है। महावाक्य विवरण नामक ग्रन्थ में 11 वाक्य दिए गए हैं, यद्यपि 12 महावाक्यों के देने की प्रतिज्ञा की गई है।

2. अखण्डार्थ –जिसमें किसी भी दशा में अंश अंशीभाव आदि सम्बन्ध प्रायः नहीं उठते वह निर्णय ब्रह्म अखण्डार्थ है। जो स्वगत सजातीय एवं विजातीय भेदशून्य होने के कारण माया तथा उसके कार्यों से सर्वथा सम्बन्ध रहित है वह निर्गुण ब्रह्म इस अखण्डार्थ का तात्पर्य है।

सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः समानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विषेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षण –योर्लक्ष्यलक्षणभावष्चेति।। 149।।

अनुवाद

पदों में समानाधिकरण पदों के अर्थों में विशेषण विशेष्यभाव तथा आन्तरिक आत्मलक्षण पदों में लक्ष्यलक्षणभाव– ये तीन सम्बन्ध हैं।

तदुक्तम्–

'समानाधिकरण्यंच विशेषणविशेष्यता। लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् इति।।' 150।।

अनुवाद

कहा भी गया है–

आन्तरिक आत्मा (के) पदों एवं उनके अर्थों में समानाधिकरण्य, विशेषण–विशेष्यभाव तथा लक्ष्यलक्षणभाव (ये तीन) सम्बन्ध हैं।

समानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविषिष्टदेवदत्तवाचकसषब्दस्यैतत्कालविषिष्टदेवदत्तवाचकायंषब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च 'तत्त्वमसीति' वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यपरोक्षत्वादिविषिष्टचैतन्यवाचक त्वम्पदस्य चैकस्मिंष्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।। 151।।

अनुवाद

जैसे 'यह वह देवदत्त है' इस वाक्य रचना में तत्कालविशिष्ट (अतीत कालवर्ती) विशिष्ट देवदत्तबोधक 'स' (वह) इस पद का तथा एतत्कालविशिष्ट (वर्तमान कालस्थित) देवदत्त के वाचक 'अयं' (यह) शब्द का इस पिण्ड से तात्पर्य बोधक होता है, वैसे ही 'वह तू है' (तत्त्वमसि) इस वाक्य में भी परोक्षादि होने के कारण तथा विशिष्ट चैतन्य का अवभासक 'तत्' (वह) पद का व अपरोक्षतादियुक्त विशिष्ट चैतन्य ज्ञापक 'त्वम्' (तू) पद का एक चैतन्य में तात्पर्य व बोधक सम्बन्ध समानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

व्याख्या

समानाधिकरण्यम् –पृथक्–पृथक् अर्थ वाले पदों का एक ही अर्थ में तात्त्पर्यावबोध कराने वाला सम्बन्ध समानाधिकरण्य सम्बन्ध है। 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'तत्' पद का तत्कालद्देशविशिष्ट भूत अर्थ है तथा अयं शब्द का एतत्काल एतद्दर्श विशिष्ट रूप अर्थ है, इन दोनों पदों का देवदत्त पिण्ड रूप एक ही अर्थ द्योतक करना तात्पर्य है, इसलिए इस अर्थ का अवबोधक सम्बन्ध समानानिधकरण्य सम्बन्ध है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' पद का परोक्षत्व सर्वज्ञता आदि विशिष्ट रूप अर्थ है और 'त्वम्' का अपरोक्षता किंचिज्ञत्व आदि विशिष्ट भूत अर्थ है तथा इन दोनों पदों का एक चैतन्य रूप अर्थ को बोधित करना अभीष्ट है इसलिये तात्पर्य का अवबोधक सम्बन्ध समानाधिकरण्य सम्बन्ध हुआ। इस भाँति तत् तथा त्वम् दोनों पद एक अखण्डार्थ ब्रह्म को प्रतिपादित करते हैं।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायं शब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योऽन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये

तत्पदार्थप रोक्षत्वादिविषिष्ट चैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविषिष्टचैतन्यस्य चान्योऽन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।। 152।।

अनुवाद

जैसे उसी वाक्य में ('यह देवदत्त है' मैं) तत्कालवर्ती विशिष्ट देवदत्त के बोधक 'तत्' पद का एवं एतत् (वर्तमान) कालस्थित विशिष्ट देवदत्त का परस्पर भेदभाव होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है। उसी भाँति यहाँ भी 'तत्त्वमसि' (वह तू है) वाक्य में (तत्) शब्द का अर्थ परोक्षादि से विशिष्ट चैतन्य का तथा 'त्वम्' पद का अर्थ अपरोक्ष होने के कारण विशिष्ट चैतन्य में और परस्पर अभिन्न होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव है।

व्याख्या

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धः—'सोऽयं देवदत्तः' में अयं शब्द वाच्य जो यह एतत्काल, एतद्देश्य विशिष्ट देवता है वह सः इस तत् शब्दवाच्य तत्काल तद्देश्य विशिष्ट देवदत्त पिण्ड से इतर नहीं है जब इस भाँति बोध होता है तो तत् शब्द इदं का विशेषण है और इदं तत् का विशेष्य है अतः 'यह ही देवदत्त है' इस भाँति बोध होता है तथा तत्काल तद्देश्य विशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं तो अयं स का विशेषण और सः विशेष्य है इसीलिए परस्पर भेद व्यावर्त्तक होने से 'सः एवायम्' 'अयमेव सः' इस प्रकार सः तथा अयम् दोनो एक दूसरे के विशेषण विशेष्य होकर विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध से देवदत्त पिण्डरूप एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं। इस भाँति तत्त्वमसि मैं त्वम् पद वाच्य अपरोक्षता किंचिज्ज्ञातादि विशिष्ट चैतन्य वह 'तत्' पद वाच्य सर्वज्ञतादि विशिष्ट चैतन्य से अलग न होने के कारण विशेषण तथा 'त्वम्' पदार्थ व्यावर्त्व होने के कारण विशेष्य है। 'त्वम्' पदार्थ तत्पदार्थनिश्ठा भेद व्यावर्त्तक होने के कारण विशेषण तथा तत्पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य है। इस विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध से तत् तथा त्वम् ये दोनों पद चैतन्यरूप एकार्थ बोधक होने के कारण 'वही तू' 'तू ही वह' ऐसी प्रतीति कराते हैं।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थशब्दयोस्तदर्थयोर्वाविरुद्धतत्कालैतकाल—विशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वं पदस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविषिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः।। 153।।

अनुवाद

जैसे यह 'देवदत्त है' वाक्य में 'स' (वह) पद तथा उनके पदार्थों में एक—दूसरे से विरूद्ध तत् और एतत् कालवर्ती वैशिष्टय को छोड़कर सदृश देवदत्त के अंश के तात्पर्य को बोधित करता है वह लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है। उसी भाँति इन 'तत्त्वमसि' वाच्य में भी तत् एवं त्वम् शब्दों तथा उनके अभिप्रायों में परस्पर विरोध परोक्षत्वापरोक्षत्वादि की विशिष्ट को छोड़कर विरोधी चैतन्य का ज्ञापनकर्त्ता ही लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है।

व्याख्या

लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धः—'सोऽयं देवदत्त' में तत्काल तद्दश विशिष्ट और एत्काल एतद्देशविशिष्ट विरुद्धार्थ परित्याग द्वारा 'सः' और 'अयं' शब्द अविरुद्ध देवदत्तताविशिष्ट देवदत्त पिण्ड के साथ—साथ देवदत्तत्व विशिष्ट देवदत्त शब्द को लक्षित करते हैं अतः इनका लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाच्य में 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों का या पदार्थों का सर्वज्ञता अल्पज्ञतादिरूप विरूद्ध भाग छोड़ देने से अखण्ड चैतन्य के साथ पारस्परिक लक्ष्यलक्षणभाव संगत होता है अर्थात् तत् और त्वम् पद लक्षण हैं और अखण्ड चैतन्य लक्ष्य है। अतः लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है।

इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते।। 154।।

अनुवाद

यही भागलक्षण कही जाती है।

व्याख्या

भागलक्षण—इसी पूर्वोक्त लक्ष्यलक्षणभाव को भागलक्षणा भी कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रीय स्थूलों (तत्त्वमस्यादि वाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा) में जो भागलक्षणा के द्वारा चैतन्यावबोध कराया गया है, वह इसी का दूसरा नाम मात्र है। इसी को जहदजहल्लक्षणा भी कहते हैं अर्थात् कुछ भाग त्याग दिया जाय तथा कुछ अंश ग्रहण कर लिया जाय वह जहदजहल्लक्षण या (भागलक्षणा) कहलाती है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' शब्द का सर्वज्ञतादि विशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है 'त्वम्' शब्द का अल्पज्ञतादिविशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है। इन दोनों के विरोधी भागों सर्वज्ञत्व तथा अल्पज्ञत्व आदिभूत भाग को छोड़कर चैतन्य भाग मात्र का ग्रहण होता है तभी 'तत्' और 'त्वम्' दोनों एक उपखण्ड (अविपरीत) चैतन्य को बोधित करते हैं।

अस्मिन् वाक्ये नीलमुत्पलमितिवाक्यवद्वाक्यार्थो न संगच्छते।। 155।।

अनुवाद

इस वाक्य में (तत्त्वमसि में) 'नीलमुत्पलम्' (नील कमल) इस वाक्य के सदृश वाक्य का अर्थ (विशेषणविशेष्यभाव) नहीं हो सकता।

स्वयं आंकलन प्रष्न —2

1. महावाक्य कितने बताए गए हैं?
2. आन्तरिक आत्मा के सम्बन्ध कितने बताए गए हैं?
3. लक्षणा कितने प्रकार की है?
4. लक्ष्य—लक्ष्ण भाव को क्या कहा जाता है?

18.5 सारांष

मुख्यतः चार महावाक्य हैं— प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि एवं अयमात्मा ब्रह्म। इनका निरुपण वेदान्तसार में दिया गया है, जिनके सम्यक ज्ञान से ऐहिक एवं पारलौकिक सुख की प्राप्ति की जा सकती है।

18.6 कठिन शब्दावली

अपि – भी **क्षुत्करः –** भुख उत्पन्न

चैतः – स्मरण **दुःख –** क्लेश

इन्द्रिय – शरीर के वे अव्यव जिनके द्वारा यह शक्ति विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है

18.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रश्न –2

1. महावाक्य
2. तीन– समानाधिकरण, विशेषणविशेष्य भाव और लक्ष्य–लक्षण भाव

स्वयं आंकलन प्रश्न –2

1. चार
2. तीन
3. तीन प्रकार की
4. भागलक्षणा

18.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. वेदान्तसार, डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी एवं प्रो. किरणलता क्षत्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ – 250002।
2. वेदान्तसार, सं. रामशरण शास्त्री, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।
3. वेदान्तसार, डॉ. राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, बैंग्लो राड, दिल्ली – 7।
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टल, दिल्ली।

18.9 अभ्यास प्रश्न

1. सम्बन्धत्रय क्या है? वर्णन करें।
2. लक्षणा कितने प्रकार की है? सविस्तार वर्णन करें।
3. वेदान्तसार के अनुसार महावाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि' को स्पष्ट करें।
4. प्रज्ञानं ब्रह्म को स्पष्ट करें।

एकोनविंषति इकाई

तत्त्वमसि

संरचना

19.1 प्रस्तावना

19.2 उद्देश्य

19.3तत्त्वमसि

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 1

19.4 वेदान्तसूत्र (156–172 तक)

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 2

19.5 सारांष

19.6 कठिन शब्दावली

19.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

19.8 अनुषंसित ग्रन्थ

19.9 अभ्यास प्रश्न

19.1 प्रस्तावना

'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' शब्द का सर्वज्ञतादि विशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है 'त्वम्' शब्द का अल्पज्ञतादिविशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है। इन दोनों के विरोधी भागों सर्वज्ञत्व तथा अल्पज्ञत्व आदिभूत भाग को छोड़कर चैतन्य भाग मात्र का ग्रहण होता है तभी 'तत्' और 'त्वम्' दोनों एक उपखण्ड (अविपरीत) चैतन्य को बोधित करते हैं। (तत्त्वमसि वाक्य में) संसर्ग अथवा विशेषणविशेष्यभाव से वाक्यार्थ सम्मत नहीं है। विद्वद्वर्ग के अनुसार 'अखण्डैकरस' (यह महावाक्य तत्त्वमसि ब्रह्म का बोधक) अभिन्न ही वाक्यार्थ है।

19.2 उद्देश्य

- तत्त्वमसि ज्ञान
- विशेषणविशेष्य भाव ज्ञान
- परोक्ष एवं अपरोक्ष ज्ञान

19.3 तत्त्वमसि

वेदान्तसार में तत्त्वमसि महावाक्य के अन्तर्गत आता है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' शब्द का सर्वज्ञतादि विशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है 'त्वम्' शब्द का अल्पज्ञतादिविशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है। इन दोनों के विरोधी भागों सर्वज्ञत्व तथा अल्पज्ञत्व आदिभूत भाग को छोड़कर चैतन्य भाग मात्र का ग्रहण होता है तभी 'तत्' और 'त्वम्' दोनों एक उपखण्ड (अविपरीत) चैतन्य को बोधित करते हैं। (तत्त्वमसि वाक्य में)

तत्पद का वाक्यार्थ परोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य और त्वम् पद का वाच्यार्थभूत अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य जो एकत्व विवक्षित है, वह परोक्षता तथा अपरोक्षता रूप विरूद्ध भाग का त्याग के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। विरूद्ध अंश को त्यागे बिना उससे सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ की अजहल्लक्षणा के द्वारा ग्रहण करने पर विरोधपरिहार असम्भव है और विरोध का परिहार न हो सकने पर लक्षणा व्यर्थ ही हो जाती है, अतः इस वाक्य में अजहल्लक्षणा संगत नहीं हो सकती है। अतः जैसे 'सोऽय देवदत्तः', (यह वही देवदत्त है) यह वाक्य या उसका अर्थ तात्त्पर्यार्थ तत्काल एवं एतत्काल विशिष्ट देवदत्त वाक्यार्थांश में तात्कालिक एवं तत्कालिक भाग में विशिष्ट देवदत्तश में विरोध न होकर कालिक विरोध होने के कारण विरूद्धांश को त्यागकर अभिन्न देवदत्तपिण्डमांत्र को जहदजहल्लक्षणा बोधित करती, उसी भाँति 'तत्वमसि' वाक्य अथवा उसका वाक्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट (ब्रह्म) और अपरोक्षतादिविशिष्ट (जीव) लक्षणा वाक्यार्थांश के परोक्ष एवं अपरोक्षत्वांश में विशिष्ट चैतन्यांश में विरोध न कर परस्पर विरोध को छोड़कर अखण्ड चैतन्यमात्र को जहदजहल्लक्षणा सूचित करती है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. तत्त्वमसि किसके अन्तर्गत आता है?
2. तत्त्वमसि वाक्य में .... संगत नहीं है।

19.4 वेदान्तसूत्र (156–172 तक)

> **तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादिभेदव्यावर्तक–तयाऽन्योन्यविशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्तरविशिष्टस्यान्यतरस्यतदैक्यस्य वा वाक्यार्थ–त्वांगीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः संगच्छते।। 156।।**

अनुवाद

यहाँ पर (नीलमुत्पलम् वाक्य में) 'नील' शब्द का अर्थ नील गुण 'उत्पलम्' शब्द का अर्थ उत्पलद्रव्य है। (इन दोनों का शुक्लीभावादि) (गुणों) तथा वस्त्रादि (द्रव्यों) से भिन्न होने के कारण एक–दूसरे का विशेषणविशेष्यभाव संसर्ग (जो 'नील' गुण विशिष्ट है यही उत्पल है इस भाँति) इन दोनों का विशिष्ट वाक्यार्थ अभिन्न है इस विषय में संसर्ग वाक्यार्थत्व को स्वीकार (करने पर भी) में दूसरे प्रमाणों (प्रत्यक्षानुमानादि) से विरोधाभास आ जाने से वाक्यार्थ ठीक (संगत) है।

> **अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैत्पान्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्य चान्योऽन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविषिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वांगीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न संगच्छते।। 157।।**

अनुवाद

यहाँ पर 'तत्' शब्द का अर्थ परोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य एवं 'त्वम्' पद का अर्थ अपरोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य का अन्योन्याश्रय भेद के परस्पर पार्थक्य का कारण होने से विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से दूसरे (नीलमुत्पलम्) वाक्य के ऐक्य तथा वाक्यार्थ के स्वीकार होने पर प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों के विरोध होने के कारण वाक्यार्थ सम्भव नहीं हो सकता।

तदुक्तम्–

"संसर्गो वा विषिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः। अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः इति।। 158।।

अनुवाद

वह कथित है–

(तत्त्वमसि वाक्य में) संसर्ग अथवा विशेषणविशेष्यभाव से वाक्यार्थ सम्मत नहीं है। विद्वद्वर्ग के अनुसार 'अखण्डैकरस' (यह महावाक्य तत्त्वमसि ब्रह्म का बोधक) अभिन्न ही वाक्यार्थ है।

अत्र 'गंगायां घोषः प्रतिवसतीति' वाक्यवज्जहल्लक्षणापि न संगच्छते।। 159।।

अनुवाद

यहाँ पर 'गंगा में घोष है' (गंगायाम् घोषः प्रतिवसति) वाक्य के समान जहल्लक्षण द्वारा भी वाक्यार्थ सम्मत नहीं है।

व्याख्या

जहल्लक्षणा–शब्द की अर्थ साक्षात्शक्ति अभिधा कहलाती है तथा अभिधा से ज्ञातार्थ अभिधेय या वाच्यार्थ कहा जाता है लेकिन वाक्यस्थित पदों से जब मुख्य वाच्यार्थ असम्भव होता है तो उनका युक्तियुक्त अर्थ जिस शब्दशक्ति से किया जाता है वह लक्षणा कहलाती है। अभिधा अर्थ में अड़चन डालने पर ही यह लक्षणा होती है, इस प्रकार कर्त्ता तो अभिधेयार्थ का योग रहता है कभी नहीं और कभी अंशतः और कभी अंशतः नहीं भी रहता। इसी आधार पर लक्षणा तीन प्रकार की कही गई है। जिसमें अभिधेयार्थ का अभाव रहता है वह जहल्लक्षणा, जिसमें नहीं रहता वह अजहल्लक्षणा तथा जिसमें दोनों अर्थात् अभिधेयार्थ रहना तथा न रहना होता है जहदल्लक्षणा होती है।

तत्र तू गंगाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा संगच्छते।। 160।।

अनुवाद

वहाँ पर तो (तत्त्वमसि वाक्य में) गंगा तथा घोष के आराधेय भाव का लक्षण होने के कारण सम्पूर्ण वाक्यार्थ (अर्थ सम्मत होने से ही) भिन्न होने के कारण सम्पूर्ण वाक्यार्थ को परित्यक्त कर उससे (गंगा शब्द से) सम्बन्धित तटविषयगत लक्षणा से युक्त होने के कारण जहल्लक्षणा उचित है।

व्याख्या

'गंगायां घोषः प्रतिवसति' इस वाक्य में 'गंगायाम्' पद का अभिधेयार्थ है– गंगा की धार में और घोषः का अर्थ अहीरों का गाँव है। अतः वाक्यार्थ हुआ– गंगा की धार में अहीरों का गाँव स्थित है। यह वाक्यार्थ पूर्ण रूप से विरूद्ध होने के कारण असंगत है क्योंकि आज तक नदी की धार में किसी ने बसा हुआ गाँव नहीं देखा। बड़ी नाव पर एक–दो घर बनाए जा सकते हैं मगर पूरा गाँव नहीं और वह भी ठहरी हुई गंगा की धार में नहीं इसलिये गंगा तथा घोष का आधाराधेय सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ खण्डित हो जाता है। इस अवस्था में 'गंगा' पद के वाक्यार्थ का पूर्णतया परित्यागपूर्वक उससे सम्बद्ध 'गंगातट' में

लक्षणा उचित जान पड़ती है। अतः गंगायाम् का लक्ष्यार्थ 'गंगातटे' (गंगा के किनारे पर) हुआ, इस लक्ष्यार्थ की प्राप्ति तथा अभिधेयार्थ स्थित विरोध नष्ट हो जाने के कारण जहल्लक्षणा इस वाक्य में पूर्ण रूप से संगत हो जाती है।

अत्र तु परोक्षापरोक्षत्वादिविषिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद् भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्त्वाज्जहल्लक्षणा न संगच्छते।। 161।।

अनुवाद

यहाँ तो (तत्त्वमसि वाक्य में) परोक्षत्व अपरोक्षत्व विशिष्ट चैतन्यों के एकत्व के बोधक वाक्यार्थ का भावमात्र में विरोध हो जाने से भी अन्य भाग में लक्षणा के अयुक्त होने के कारण जहल्लक्षणा असम्मत हो जाती है।

व्याख्या

अत्र....... न संगच्छते—लेकिन 'तत्त्वमसि' वाक्य में जहल्लक्षणा संगत नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ पर 'त्' शब्द के अभिधेयार्थभूत परोक्षतादिविशिष्ट चैतन्य तथा 'त्वम्' शब्द के वाच्यार्थगत अपरोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य की एकत्वरूप को वाच्यार्थ हैं वे सर्वात्मनाविरूद्ध हैं, विरोध केवल परोक्षतादिविशिष्टता तथा अपरोक्षतादिवैशिष्ट्य इन अंशमात्र में है। शेष चैतन्यांश उभयसामान्य है परस्पर अविरूद्ध है। इसलिये लक्षणा करते समय विरूद्धांश को छोड़ना तो वांछनीय है किन्तु सामान्य चैतन्यांश का परित्याग अनपेक्षित है। इसलिए यहाँ (तत्त्वमसि वाक्य में) जहल्लक्षणा संगत नहीं होती।

न च गंगापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं तथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न संगच्छत इति वाच्यम्।। 162।।

अनुवाद

'जैसे गंगा' यह शब्द अपने अर्थ को छोड़कर तट शब्दार्थ की प्रतीति कराता है उसी भाँति यदि 'यत्' पद एवं 'त्वम्' पद या अपने अर्थ को त्यागकर 'त्वम्' पद या 'तत्' शब्द के अर्थ की प्रतीति न करा सकने के कारण जहल्लक्षण संगत नहीं हो सकती यह उचित नहीं।

व्याख्या

न च........ वाच्यम् —जहल्लक्षण 'तत्त्वमसि' वाक्यावबोधार्थ के लिये अनुपादेय है। किन्तु यह शंका खड़ी होती है कि जिस भाँति 'गंगायां घोषः प्रतिवसति' वाक्य में गंगा शब्द अपनी धाररूप वाच्यार्थ को त्यागकर अपने से क्रमबद्ध 'तीर' शब्द के वाक्यार्थ को बताता है उसी भाँति 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' शब्द परोक्षतादिविशिष्ट चैतन्य अंश को त्यागकर 'त्वम्' शब्द के अभिधेयार्थगत अपरोक्षतादिविशिष्ट चैतन्य को लक्ष्य करे। इस प्रकार जहल्लक्षणा से भी दोनों का एकत्व सिद्ध हो जायेगा अतः आप यहाँ जहल्लक्षणा के उपादेयत्व का निषेध क्यों कर रहे हैं।

तत्र तीरदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणत्या तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वं पदयोःश्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतर पदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात्।। 163।।

अनुवाद

वहाँ (गंगायां घोषः वाक्य में) तीर शब्द के न सुनाई देने के कारण व उसके अर्थ की प्रतीति न होने पर लक्षणा से उसकी प्रतीति की अपेक्षा होती है, 'तत्' तथा 'त्वम्' शब्दों के श्रूयमाण होने से उनके अर्थ की प्रतीति हो जाने पर लक्षणा से फिर एक पद द्वारा दूसरे शब्द का अर्थ–बोध कराने की अपेक्षा नहीं होती।

व्याख्या

नृसिंह सरस्वती अपनी टीका में लिखते हैं– श्रुतवाक्यस्य मुख्यार्थ विरोधे मुख्यार्थ सम्बन्धियश्रुत पदार्थे लक्षणेति सर्वजनसिद्धम्। अर्थात् श्रुतवाक्य के मुख्यार्थ में विरोध होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले अश्रुत पदार्थ में लक्षणा होती है– यह लोक प्रसिद्ध है।

तत्र 'शोणो धावति' इति वाक्यवदजहल्लक्षणापि सम्भवति।। 164।।

अनुवाद

यहाँ ('तत्त्वमसि' वाक्य में) 'शोणो धावति' (लाल दोड़ता है) इस वाक्य के सदृश अजहल्लक्षणा भी ठीक नहीं।

तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाच्क्यार्थस्य विरूद्धत्वात्तद्परित्यागेन तदाश्रया श्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति।। 165।।

अनुवाद

वहाँ लाल गुण के गमन लक्षण वाक्यार्थ का विरोध हो जाने से उसके त्याग द्वारा उसके आश्रयभूत घोड़ा आदि अर्थ लक्षणा से करने से उसकी अभिन्नता का निराकरण हो जाने के कारण अजहल्लक्षणा होती है।

व्याख्या

यहाँ लाल रंग दौड़ नहीं सकता है– अतः मुख्यार्थ बाध होने से शोध गुण के आश्रय द्रव्य अश्व को यदि लक्षणा से ग्रहण किया जाता है, तो विरोध का परिहार हो जाता है। यहाँ शोण के पद के वाच्यार्थ का परित्याग नहीं है अतः अजहल्लक्षणा संगत है।

अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविषिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरूद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपित द्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव।। 166।।

अनुवाद

यहाँ पर (तत्त्वमसि वाक्य में) तत्पद का वाक्यार्थ परोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य और त्वम् पद का वाच्यार्थभूत अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य जो एकत्व विवक्षित है, वह परोक्षता तथा अपरोक्षता रूप विरूद्ध भाग का त्याग के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। विरूद्ध अंश को त्यागे बिना उससे सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ की अजहल्लक्षणा के द्वारा ग्रहण करने पर विरोधपरिहार असम्भव है और विरोध का परिहार न हो सकने पर लक्षणा व्यर्थ ही हो जाती है, अतः इस वाक्य में अजहल्लक्षणा संगत नहीं हो सकती है।

न च तत्पदंत्वंपदंवास्वार्थविरूद्धांषपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वंपदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणांगीकरणमिति वाच्यम्।। 167।।

अनुवाद

यदि कहा जाय कि 'तत्' पद अथवा 'त्वम्' पद स्वपदार्थ विरूद्धांश को छोड़कर उभयसामान्यांश सहित तत् 'त्वम्' शब्दों के अर्थ को (लक्षणा से) प्रकट कर लिया जाये (तो यह ठीक नहीं) प्रकारान्तर से भागलक्षणा क्यों न स्वीकार कर ली जाय।

व्याख्या

अजहल्लक्षणा के अनुपादेय सिद्ध होने पर शंका करते हुए शंकाकार उपयोग प्रक्रिया बताते हुए कह रहा है— 'तत्' पद का वाच्यार्थ परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य इसमें परोक्षत्वादिविशिष्ट भाग 'त्वम्' के वाच्यार्थ से विरोधी है तथा 'चैतन्य' अंश अविरूद्ध है, अतः तत्पद का अपने 'परोक्षत्वादिविशिष्ट' विरूद्धांश को त्यागकर लक्षणा के द्वारा अविरूद्ध चैतन्यांशसहित त्वम् पद—वाच्यार्थ अपरोक्षताविशिष्ट चैतन्य लक्ष्यार्थ हुआ। अथवा 'त्वम्' पद अपरोक्षत्वादिविशिष्ट विरूद्धांश को त्यागकर लक्षणों से अविरूद्ध चैतन्यांशसहित 'तत्' पद के वाच्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट को लक्षित करने से लक्ष्यार्थ हुआ। अविरूद्ध चैतन्यांश परित्याग करने से अजहल्लक्षणा संगत होती है। इसलिये भागलक्षणा को स्वीकार करना अपेक्षित नहीं है।

एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थांन्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च।। 168।।

अनुवाद

एक पद के द्वारा अपने पदार्थ को छोड़कर दूसरे पद में अभिन्नार्थ प्रतीति में लक्षणा सम्भव नहीं हो सकती तथा दूसरे शब्द के द्वारा वह अर्थ (स्वयं) प्रतीति हो जाने पर फिर लक्षणा द्वारा उसे पुनः प्रतीत कराने की अपेक्षा नहीं रह जाती।

व्याख्या

(1) एक ही पद का अपने वाच्यार्थ से एक अंश (अविरूद्ध चैतन्यांश को लक्षित करना दूसरे पद के वाच्यार्थ को भी लक्षित कराना— इन दोनों को लक्षणा से ग्रहण करना असम्भव है। क्योंकि तत् एवं त्वम् पद का श्रवण पर लक्षणा से पूर्वपक्षी दो व्यापार करना चाहता है— (1) अविरूद्ध चैतन्य के अंश को लक्षित करना, (2) दूसरे पद के वाच्यार्थ को लक्षित करना। यह असम्भव है। रामतीर्थ के अनुसार— 'सकृच्छुतस्यैकस्य पदस्य युगपदुभयलक्षम् त्वासम्भवात्।' (3) अजहल्लक्षणा के असम्भव होने का दूसरा हेतु है तत् त्वम् पद सामान्य चैतन्यांश को लक्षित कराते हैं किन्तु दूसरे पद के वाक्यार्थ का बोध अभिधा से होता है तब लक्षणा द्वारा उसकी प्रतीति कराना अपेक्षित नहीं है। इस प्रकार अजहल्लक्षणा दोनों ही जहद् और अजहद् से असम्भव हो जाती है।

तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैत त्कालविशिष्ट देवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालैतत्काल विशिष्टत्वांषं परित्यज्याविरूद्धं देवदत्तशमात्रं लक्षयति तथा तत्त्वमसीति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविषिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरूद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविषिष्टत्वांशं परित्यज्याविरूद्धमखण्ड चैतन्यमात्रं लक्षयतीति।। 169।।

अनुवाद

अतः जैसे 'सोऽय देवदत्तः', (यह वही देवदत्त है) यह वाक्य या उसका अर्थ तात्त्पर्यार्थ तत्काल एवं एतत्काल विशिष्ट देवदत्त वाक्यार्थांश में तात्कालिक एवं तत्कालिक भाग में विशिष्ट देवदत्तश में विरोध न होकर कालिक विरोध होने के कारण विरूद्धांश को त्यागकर अभिन्न देवदत्तपिण्डमांत्र को जहदजहल्लक्षणा बोधित करती, उसी भाँति 'तत्वमसि' वाक्य अथवा उसका वाक्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट (ब्रह्म) और अपरोक्षतादिविशिष्ट (जीव) लक्षणा वाक्यार्थांश के परोक्ष एवं अपरोक्षत्वांश में विशिष्ट चैतन्यांश में विरोध न कर परस्पर विरोध को छोड़कर अखण्ड चैतन्यमात्र को जहदजहल्लक्षणा सूचित करती है।

व्याख्या

पंचदशी में इस महावाक्य का अर्थ निम्नलिखित रूप से प्रदर्शित किया गया है–

"एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वम् तदितीर्यते।।
श्रोतुदेहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वम्पदरितम्।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्"।।

अथाधुनाहं ब्रह्मास्मीत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते।। 170।।

अनुवाद

'अब मैं ब्रह्मा हूँ' इत्यादि अनुभव वाक्यों का वाक्यार्थ वर्णित किया जा रहा है।

व्याख्या

1. अथ–'मंगलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्यैष्वथो अथ' के अनुसार अथ–मंगल, अनन्तर, प्रारम्भ प्रश्न और कात्स्न्र्य पाँच अर्थों से उपयुक्त होता है यह अनन्तर अर्थ में है। विद्वन्मनोरंजिनी भी कहती है– 'उपदेशवाक्यनिरूपवानन्तर्यमथशब्दार्थः'।

2. अहं ब्रह्मास्मि–यह अनुभव वाक्य है, तत्त्वमसि उपदेश वाक्य है। अनुभव का अर्थ है– ब्रह्म से साक्षात्कार।

एवमाचार्येणाध्यारोपापवाटपुरस्सरं तत्त्वंपदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽ–धिकारिणोऽहं नित्यषुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकारा–कारिता चित्त वृत्तिरुदेति।। 171।।

अनुवाद

इस प्रकार आचार्य, अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा 'तत्' व 'त्वम्' शब्दों के अर्थों में शोध करके वाक्य के द्वारा सम्पूर्ण (अखण्ड) अर्थावबोधन हो जाने पर 'मैं अधिकारी हूँ' मैं नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव, परमानन्द, अनन्त अद्वय ब्रह्म हूँ, इस भाँति की अखण्डाकाराश्रित चित्तवृत्ति उदय करता है।

व्याख्या

1. अहं नित्यशुद्धबुद्धसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मि—नित्य पद से ब्रह्मा का अनिरूद्ध निवारण किया गया है— शुद्ध शब्द से ब्रह्म को अविद्यादिदोषशून्य बताया है, बुद्ध से स्वप्रकाशभूत होने से जड़ता आदि निषिद्ध किए गए हैं। मुक्त पद से सर्वोपाधिशून्यत्व तथा सत्य शब्द से मनश्वर—स्वभाव वाला कहा गया है। परमानन्द से निरतिशय, अविनाशी ब्रह्मानन्द सबसे बढ़कर है यह बताया गया है, अनन्त पद से देश, काल एवं वस्तु की दृष्टि से उसका अपरिछिन्न होना बोधित किया जाता है और अद्वय पद से अनेकता निषेधपूर्वक एकताबोध कराया जाता है।

2. अधिकारिणः —गुरु से अध्यारोपापवाद न्याय से 'तत्वमसि' वाक्यार्थ का स्पष्टीकरण करके अखण्डार्थ बोध करने पर जो शिष्य अधिकारी होता है, उसी अधिकारी शिष्य में अखण्डाकाराकारित वृत्ति उदित होती है।

3. अखण्डाकाराकारिता चत्तवृत्तिः—'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूप में अखण्ड ब्रह्म के स्वरूप को धारण करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है। क्योंकि ब्रह्म अपरोक्ष नित्य है, इसलिये यह वृत्ति साक्षात्काररूप अर्थात् अपरोक्ष की अनुभूति के रूप में होती है परोक्ष वस्तु के आकार को धारण नहीं करती।

सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते। तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकार्यकारणेऽज्ञाने बधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधित्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति।। 172।।

अनुवाद

वह चित्त के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित होती हुई अभिन्न प्रत्यग् अज्ञात, परमब्रह्मविषयक (उसमें स्थित) अज्ञान का ही बोध न करती है। तब वस्त्र (कार्य) के कारण रूप सूत्रों के दाह होने पर वस्त्रदाह के तुल्य अखिल (संसार) के कारणभूत अज्ञान के बाधित हो जाने पर चित्तवृत्ति भी बाधित (नष्ट) हो जाती है।

व्याख्या

1. अज्ञानमेव बाधते —सामान्यतः ज्ञान में बुद्धि की वृत्ति (अज्ञान निवारण) तथा फल (चित्त् प्रतिबिम्ब) या आभास दोनों ही लौकिक ज्ञान में जरूरी हैं, किन्तु ब्रह्मप्रत्यक्षीकरण में केवल वृत्ति =

तद्विषयक अज्ञान निवारण ही अपेक्षित है। चित्–प्रतिबिम्ब आभास की आवश्यकता इसलिये नहीं होती कि वह स्वयंप्रकाशमान् है। उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं।

2. चित्प्रतिबिम्बसहिता सती –चित्तवृत्ति में जो चिदात्मा प्रतिबिम्बित होता है वह चिदाभास या फल कहलाता है। इस चिदाभास से सम्पन्न होने के कारण ही चित्तवृत्ति अज्ञान निवारण में समर्थ होती है।

3. प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्म विषयीकृत –चिदाभास से उतपन्न होती हुई वह चित्तवृत्ति परब्रह्म को अपना विषय बनाती है। 'परम्' पद से अज्ञानोपाधि से उपहित कार्यब्रह्म निषिद्ध हुआ है, क्योंकि अज्ञानोपाधि वाला ब्रह्म 'अपरब्रह्म' शब्द से अभिहित किया जाता है। 'अज्ञातम्' शब्द से उसके विषय बनने (प्रमेय होने) को कहा गया है क्योंकि ज्ञात नहीं (अज्ञात) होता है वही प्रमेय हो सकता है तथा 'प्रत्यगभिन्न' से उसके तटस्थ होने का प्रतिषेध हुआ है। यहाँ ब्रह्म का विषय बनना केवल औपचारिक है। वृत्ति का ब्रह्म की ओर अभिमुख होना ही यहाँ अभिप्रेत है। जो चित्तवृत्ति गुरुपदेश से पूर्व बाह्य विषयों में लीन रहती थी, अभिमुख होती थी, वही वृत्ति आचार्योपदेश से अखण्डकाराकारित बनकर प्रत्यगात्मकभिन्न ब्रह्म की ओर अभिमुख होती है, यही उससे ब्रह्म का विषयीकरण है।

4. तदा पटकारणतन्तुदाहे चित्तवृत्ति अपि बाधिता भवति–अज्ञान के बाध हो जाने पर संशय होता है कि अधिकारी जब 'तत्त्वमसि) इत्यादि वाक्यों को सुनता है तो उसके तात्त्विक ज्ञान से अखण्ड चैतन्यवृत्ति के कारण प्रत्यग् चैतन्य स्थित अज्ञान भले ही विनष्ट हो जाये, किन्तु अज्ञान का कार्य जो सकल चराचर प्रपंच है, वह तो प्रत्यक्ष भासित होता ही रहेगा, इसलिये 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्म की स्थिति हो सकती है। इस शंका के निवारणार्थ उत्तर है कि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का भी नाश हो जाता है जैसे तन्तुरूप के जल जाने पर पट रूप कार्य भी नष्ट हो जाता है, उसी भाँति यहाँ भी अज्ञान कारण है तथा चराचर प्रपंच कार्य है, अतः जब अज्ञानरूपी कारण नष्ट हो जाएगा तो उसका कार्य चराचर प्रपंच भी भासित नहीं होगा। यदि वह कहे कि प्रपंच के विनष्ट होने पर भी अखण्डाकाराकारित वृत्ति तो शेष रहेगी ही, अतः फिर भी अद्वैतसिद्धि नहीं हो सकती तो इसका समाधान है, कि वह वृत्ति भी अज्ञान तथा उसके कार्यप्रपंच के अन्तर्गत ही है, इसलिए कारणीभूत अज्ञाननाश होने पर प्रपंच एवं वृत्ति दोनों ही नष्ट हो जाएंगे। इस प्रकार अद्वैतसिद्धि हो जाती है।

5. नृसिंह सरस्वती के अनुसार–'सा चित्तवृत्तिर्न शुद्धब्रह्मविषयिणी किन्त्वज्ञानविशिष्टप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मिविषयिणी' में चित्तवृत्ति के द्वारा अज्ञानविशिष्ट प्रत्यगात्मरूप परब्रह्म का विषयीकरण बताया गया है, जो युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि शास्त्रों में उपाधिविशिष्ट ब्रह्म अपरब्रह्म कहा गया है, परब्रह्म नहीं। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में भी उसे अपर ही कहा गया है–

"किं पुनः परं ब्रह्मकिमपरमिति। उच्यते, यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूललादिशब्दै–र्बह्मापदिश्ते तत्परम्। तदैव यत्र नामरूपादिविशेषण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते............. तदमरम्।" इससे यह भी स्पष्ट है कि उपाधिविशिष्ट ब्रह्म उपास्य होता है तथा उपाधिशून्य ब्रह्म ज्ञान का विषय होता है। प्रस्तुत

प्रकरण ब्रह्मज्ञानपरक है अतः उपाधिरहित ब्रह्म ही चित्तवृत्ति के विषयीकरणरूप से ग्रन्थकर्त्ता को अभिप्रेत .... उपाधि उपहित नहीं।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. तत्त्वमसि क्या है?
2. संसर्ग अथवा विशेषणविशेष्य भाव से क्या सम्मत नहीं है?
3. विशेषणविशेष्य भाव क्या है?
4. जहल्लक्ष्णा किसके लिए अनुपादेय है?

19.5 सारांष

महावाक्य में तत्त्वमसि का निरुपण किया गया है। जिसमें 'तत्' शब्द का सर्वज्ञतादि विशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है 'त्वम्' शब्द का अल्पज्ञतादिविशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है। इन दोनों के विरोधी भागों सर्वज्ञत्व तथा अल्पज्ञत्व आदिभूत भाग को छोड़कर चैतन्य भाग मात्र का ग्रहण होता है तभी 'तत्' और 'त्वम्' दोनों एक उपखण्ड (अविपरीत) चैतन्य को स्पष्ट करते हैं।

19.6 कठिन शब्दावली

पिण्ड –गोलाकार खण्ड **अहं ब्रह्मस्मि** –मैं ब्रह्म हूँ

त्वम् –तुम **ततः** –वह

वाक्यार्थः –अविघावृति से ज्ञात होने वाला वाच्यार्थ

आभासः –चैतन्य के आभास का

19.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न – 1

1. महावाक्य
2. जहल्लक्षणा

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. महावाक्य
2. वाक्यार्थ
3. सम्बन्ध
4. तत्त्वमसि

19.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. वेदान्तसार, डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी एवं प्रो. किरणलता क्षत्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ – 250002।
2. वेदान्तसार, सं. रामशरण शास्त्री, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।

3. वेदान्तसार, डॉ. राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, बैंग्लो राड, दिल्ली – 7।
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टल, दिल्ली।

19.9 अभ्यास प्रश्न

1. वेदान्तसार के अनुसार तत्त्वमसि का विवेचन करें।
2. परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व को सिद्ध करें।
3. वेदान्तसार के अनुसार विशेषणविशेष्य भाव को सिद्ध करें।
4. अत्र 'गंगायां घोषः प्रतिवसतीति' वाक्यवज्जहल्लक्षणापि न संगच्छते।। इस सूत्र की व्याख्या करें।

विंषति इकाई
षड्लिंग

संरचना

20.1 प्रस्तावना

20.2 उद्देश्य

20.3षड्लिंग

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 1

20.4 वेदान्तसूत्र (173–191 तक)

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 2

20.5 सारांष

20.6 कठिन शब्दावली

20.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

20.8 अनुषंसित ग्रन्थ

20.9 अभ्यास प्रश्न

20.1 प्रस्तावना

इस अध्याय के अन्तर्गत ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन का वर्णन है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवा ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म रूप ही है उससे भिन्न नहीं है। साधक की चितवृति सदा एकतत्त्व का अनुभव करती रहे ऐसा सम्भव नहीं है। यह अनुभव उसी समय तक रहता है जब तक गुरु के उपदेश का प्रभाव रहता है। विघ्नों से साधक को बचाने के लिए तथा ब्रह्मसाक्षात्कार कराने वाले साधनों का वेदान्तसार में उल्लेख मिलता है।

20.2 उद्देश्य

- उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फलार्थवाद और उपपत्ति नामक छः लिंग
- मन को ब्रह्म चिन्तन में लगाना
- चित्तवृत्तियों का आत्मा की ओर जाना

20.3 षड्लिंग

उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल अर्थवाद एवं उपपत्ति नामक (ये) छः लिंग हैं। लिंग का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य रूप जो (छिपा हुआ) अर्थ है, उसका बोध कराने के कारण उपक्रमादि लिंग कहलाते हैं व्युत्पत्ति इस प्रकार है– लीनमर्थं गमयतीति लिंगम। आत्मा साक्षात्कार के लिए वेदान्त में श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि ये चार साधन अंगीकार किए गए हैं।

षट्विधिलिंगों द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तसूत्रों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य निर्धारण करना श्रवण कहलाता है। उनमें (छः लिंगों में) से प्रकरण के प्रतिपाद्यार्थ तथा उसके आदि और अन्त का उपादान करना उपक्रम एवं उपसंहार (क्रमशः) कहलाते हैं जैसे छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरणप्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु 'एक ही अद्वैत तत्व' इस भाँति आदि में 'वह सब आत्मा का ही है' इस प्रकार अन्त में प्रतिपाद्य विषय का उपक्रम और उपसंहार (क्रमशः) किया है।

स्वयं आंकलन प्रश्न –1

1. अपूर्वता एवं फलअर्थवाद किसके भाग हैं?
2. श्रवण क्या कहलाता है?

20.3 वेदान्तसूत्र (173–191 तक)

> **तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि यथा दीपप्रभाऽदित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति, तथा स्वयंप्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपर ब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत्स्वोपाधिभूताखण्डचित्तवृतेर्बाधित्वाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रस्त्ववत्प्रत्य–गाभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति।। 173।।**

अनुवाद

उसमें (चित्तवृत्ति) में प्रतिबिम्बित चैतन्य भी जैसे दीपक का प्रकाश रवि के आलोक को अवभासित करने में असमर्थ होकर उससे अभिभूत होता है उसी भाँति स्वयं देदीप्यमान प्रत्यग्, अभिन्न, परब्रह्मावभासन में समर्थ न होने के कारण उससे पराभूत होकर अपनी उपाधिभूत खण्डरहित चितवृत्ति को नष्ट करके शीशे के न रहने पर मुख की छाया के मुखमात्र रह जाने के सदृश आन्तरिक आत्मा से अभिन्न परब्रह्ममात्र ही होता है।

व्याख्या

जैसे दीपक का प्रकाश सूर्य को प्रकाशित करने में असमर्थ होता है तथा सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होता है उसी भाँति चिदाभास जो ब्रह्म चैतन्य का प्रतिबिम्ब है तथा जिसकी सत्ता बिम्बरूप ब्रह्म चैतन्य पर आश्रित है, स्वयं चित्तवृत्तिभूत उपाधि की अनुगंत्री है वह उपाधिशून्य ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकती इसके विपरीत वह ब्रह्म चैतन्य द्वारा पराभूत हो जाता है। इसके साथ ही एक अन्य क्रिया होती है। चिदाभास की उपाधिस्वरूप चित्तवृत्ति जब अज्ञान तथा उसके कार्य समुदाय को नष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाती है तो उसमें स्थित चैतन्य प्रतिबिम्ब अपनी उपाधि के नष्ट हो जाने से अलग कहीं नहीं रहता केवल बिम्बस्वरूप ब्रह्म चैतन्य रह जाता है जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाले मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण के हटा देने पर पृथक् नहीं रहता, मुखमात्र ही रह जाता है। उपाधियुक्त अपनी उपाधि के नष्ट होने पर उपाधिशून्य शुद्ध स्वरूप में रहता है अतः द्वैत की किंचित् भी सम्भावना नहीं होती। इससे प्रमाणित है कि ब्रह्मज्ञानप्रक्रिया में चित्तवृत्ति तो उपयुक्त होती है, क्योंकि वह अज्ञान को विनष्ट करती है, किन्तु चिदाभास का कोई उपयोग नहीं है।

एवं च सति 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' 'यन्मनसा न मनुते' इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वांगीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात्।। 174।।

अनुवाद

और ऐसा होने पर 'मन से ही (वह) द्रष्टव्य है' 'जो मन के द्वारा नहीं जाना जाता' इस भाँति की दोनों श्रुतियों में अविरोधवृत्ति के व्याप्यत्व को स्वीकार करने से फलव्याप्यत्व का प्रतिषेधप्रतिपादन के कारण होता है।

व्याख्या

1. **मनसैवानुद्रष्टव्यम्** (तथा इसी की समर्थका 'मनसैवेमाप्तव्यम्') आदि श्रुतियों में जब इस प्रकार के वचनों द्वारा आत्मा को मनोगम्य कहा जाता है तो उस प्रसंग में 'मन' से वृत्तिग्राह्म है तथा जब यन्मनसा न मनुते ("यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसाहस") इत्यादि वाक्यों से आत्मा को मन और बुद्धि से अप्राप्य कहा जाता है तो वहाँ इन पदों से 'फल' को ग्रहण करना चाहिए। इस भाँति समझने पर इन श्रुतिवचनों में प्रतीत होने वाला विरोध नष्ट हो जाता है।

2. जब हम किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो क्रम से दो अवस्थाएं होती हैं– (1) वृत्ति व्याप्ति तथा (2) फल व्याप्ति।

तदुक्तम्–

'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिनिवारितम्। ब्रह्मण्यज्ञाननाषाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता'।। इति।। 175।।

अनुवाद

अतः कहा गया है–

'इसके लिए शास्त्रकर्त्ताओं द्वारा फल व्याप्यत्व निवारित किया गया है, लेकिन ब्रह्मस्थित अज्ञान के विनाशार्थ वृत्तिव्याप्यत्व आपेक्षित हैं'।

व्याख्या

1. **फलव्याप्तिः –**अन्तःकरण के विषय रूप में परिवर्तित होने पर उसमें प्रतिबिम्बित चिदाभास (चैतन्य) या उससे आच्छन्न चैतन्य के द्वारा उस विषय का साक्षात्कार फलव्याप्ति है। कहा भी है–
'बाह्येन्द्रियसन्निकृष्टार्थाकारबाह्यधीपरिणामामावच्छिन्नचिदंशकृतप्राकटयाश्रयत्वं फलव्याप्यत्वम्'।

2. **वृत्तिव्याप्तिः–**अन्तःकरण के चक्षु आदि द्वारा घटादि विषय देश में जाकर तत्तदाकार में परिवर्तित होने को वृत्ति कहते हैं। वेदान्तपरिभाषा के अनुसार–

'यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारनान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति, तथा तजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा घटादिविषयदेशं गत्वा घटादि, विषयाकारेण परिणमते, स एव परिणामो वृत्तित्युच्यते'।

स्वयं प्रकाषमानत्वान्नाभास उपयुज्यते इति च।। 176।।

अनुवाद

तथा स्वयं दीप्यमान होने के कारण आभास उपयुक्त है।

व्याख्या

चैतन्याभास उस वृत्ति में चैतन्य के प्रतिबिम्ब में रह जाता है। वह स्वयं ही प्रकाशयुक्त शुद्ध चैतन्त का ही अंश है, इसलिए उसे प्रकाशित न कर सकने के कारण उसी में विलीन हो जाता है। जैसे–

"अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासिद्धि निर्मलम्।

कृत्वा ज्ञानं स्वयं नरयेज्जलं कतकरेणुवत्।।"

अर्थात् गन्दे पानी को साफ करके कतकरेणु अपने आप जल में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार इसे भी समझना चाहिए।

जड़पदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति।। 177।।

अनुवाद

(किन्तु) जड़ पदार्थ (घट आदि) के आकार से आकारित वृत्ति इस से भिन्न विशेष है।

तथाहि अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिरज्ञात घटं विषयीकृत्य तद्ताज्ञाननिरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जड घटमपि भासयति।। 178।।

अनुवाद

'तथाहि यह घड़ा है' इस प्रकार अज्ञात घड़ा विषयक घट के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का उदय होने पर उसमें स्थित अज्ञान विनाश के पश्चात् अपने में स्थित चिदाभास के द्वारा जड़ भी प्रकाशित होता है।

तदुक्तम् –

'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्। तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्'।। इति।। 179।।

अनुवाद

यह कारिका भी कहती है–

बुद्धि तथा उसमें वर्तमान चिदाभास ये दोनों घड़े में व्याप्त रहते है। इनमें से धी (बुद्धि) के द्वारा अज्ञान दूर होता है एवं चिदाभास द्वारा घड़ा अभिव्यक्त होता है।

यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति।। 180।।

अनुवाद

जिस प्रकार दीपक का प्रकाश–मण्डल अन्धकार में स्थित घड़ा वस्त्रादि विषयों की ओर उन पर आवृत्तत तम को दूर करके अपने प्रकाश में उनको अभिव्यक्त करता है। (उसी भाँति) चैतन्यज्ञान की चित्तवृत्ति को नष्ट करके पुनः चिदामास द्वारा घटादिकों को प्रकाशित करती है।

व्याख्या

भासयतीति–यहाँ प्रयुक्त हुआ 'इति' पद अनुभव वाक्य के अर्थनिरुपण के अन्त का द्योतक है। जैसा कि विद्वन्मनोरंजिनी टीका भी कहती है–

''इति शब्दोऽनुभववाक्यार्थ निरुपणसमाप्त्यर्थः ।।''

एवंभूस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यंन्तं श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्ष्यन्ते।। 181।।

अनुवाद

इस भाँति के स्वरूप चैतन्य के साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, ध्यान, समाधि तथा अनुष्ठान का करना अपेक्षित होने के कारण उनको प्रदर्शित किया जा रहा है।

व्याख्या

आत्मा साक्षात्कार के लिए वेदान्त में श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि ये चार साधन अंगीकार किए गए हैं। इनमें प्रथम तीन को वृहदारण्यक भी कहता है– ''तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याय मुनिः।'' यहाँ 'पाण्डित्य' से श्रवण, बाल्येन से मनन तथा मुनि से निदिध्यासन का विधान किया गया है। समाधि का विधान श्वेताश्वतर उपनिषद् का निम्न मन्त्र सूचित करता है– ''तस्याभिध्यानाद्योजनात्तवभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।''

श्रवणं नाम षड्वधलिंगैरषैषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्।। 182।।

अनुवाद

षट्विधिलिंगों द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तसूत्रों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य निर्धारण करना श्रवण कहलाता है।

व्याख्या

1. **तात्पर्यावधारणम् –**यहाँ अवधारणा के अन्तर्गत विचार भी ग्राह्य हैं। अर्थात् समस्त वेदवाक्यों का अद्वैत ब्रह्म में ही तात्पर्य है इसका निश्चय विचारपूर्वक करना चाहिए, अन्धविश्वास से नहीं।

2. **श्रवणम्–**'अद्वितीय वस्तुनि' पद से 'न स्थानतोऽपि परस्पयोभ्यलिंग सर्वत्र हि' इस न्याय के अनुसार निवशिष्ट ब्रह्म ग्राह्य है तथा 'गतिसामान्यात्' (ब्रह्मसूत्र) अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्त–वाक्यों से होने वाला ज्ञान एक रूप है इस न्याय को आधार बना कर 'अशेषवेदान्तानाम्' कहा गया है।

लिंगानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि।। 181।।

अनुवाद

उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल अर्थवाद एवं उपपत्ति नामक (ये) छः लिंग हैं।

व्याख्या

लिंग का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य रूप जो (छिपा हुआ) अर्थ है, उसका बोध कराने के कारण उपक्रमादि लिंग कहलाते हैं व्युत्पत्ति इस प्रकार है– लीनमर्थं गमयतीति लिंगम।

सम्भवतः सर्वदर्शन में उद्धृत बृहत्संहिता का निम्न श्लोक सदानन्द द्वारा लिंगों को गिनाने का मूल प्रेरणास्रोत रहा है–

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।

अर्थवादोपपत्तीं च लिंगम् तात्पर्यनिर्णये।।"

तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुप्रक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम्।। 184।।

अनुवाद

उनमें (छः लिंगों में) से प्रकरण के प्रतिपाद्यार्थ तथा उसके आदि और अन्त का उपादान करना उपक्रम एवं उपसंहार (क्रमशः) कहलाते हैं जैसे छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरणप्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु 'एक ही अद्वैत तत्व' इस भाँति आदि में 'वह सब आत्मा का ही है' इस प्रकार अन्त में प्रतिपाद्य विषय का उपक्रम और उपसंहार (क्रमशः) किया है।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम्।। 185।।

अनुवाद

प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु का मध्य में पुनः–पुनः प्रतिपादन करना अभ्यास है– जैसे वहीं पर (छान्दोग्योपनिषद् में) अद्वितीय वस्तु के बीच में तत्त्वमसि वह तू है इस वाक्य का नौ बार प्रतिपादन किया है।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्।। 186।।

अनुवाद

प्रकरणप्रतिपादनीय अद्वितीय विषयवस्तु में किसी दूसरे प्रमाण का अविषयीकरण अपूर्वता है– जिस भाँति वहीं पर (छान्दोग्योपनिषद् में) अद्वितीय वस्तु के विषय में अन्य कोई प्रमाण नहीं है।

व्याख्या

वेदान्तियों तथा मीमांसकों के अनुसार अलौकिक होना ही शास्त्रोपदेश का वैशिष्टय है। तात्पर्य यह है कि शास्त्र की सफलता इसी में है कि वह अज्ञात को उपदिष्ट करे– 'अज्ञातज्ञापकं शास्त्रम्'। उपनिषदों से अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से उसका बोध नहीं हो सकता है– 'तं तवौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस वचन में पुरुष के औपनिषद विशेषण से उसकी उपनिषद् प्रमाणवेद्यता पर प्रकाश पड़ता है अथवा 'ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेन स्वव्यवहारिस्वातिरिक्त प्रमाणानपेक्षत्वाद् ब्रह्मणोऽपूर्वत्वमित्यर्थः' अर्थात् ब्रह्म

स्वयं प्रकाश होने के कारण अपने से अतिरिक्त किसी प्रमाण की अपेक्षा न होने से ब्रह्म की अपूर्वता प्रमाणित है।

फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते।। 187।।

अनुवाद

प्रकरणप्रतिपाद्य आत्मज्ञान अथवा उसके अनुष्ठान का उसमें (उस विषय में) श्रूयमाण प्रयोजन ही फल है। जैसे वहाँ (पूर्वप्रकरण में) 'आचार्यवान् पुरुष ही जानता है' उसके लिए तभी तक विलम्ब जानना चाहिए तब त कवह 'इससे (शरीर से) युक्त नहीं हो जाता।' इस प्रकार अद्वैत वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन बताया गया है।

व्याख्या

1. **तदनुष्ठानस्य**—यहाँ तद् का अर्थ बालबोधिनीकार के अनुसार ''ज्ञानानुकूलश्रवणाद्यनुष्ठानस्येत्यर्थः श्रवणाद्यनुष्ठानस्योपस्थिततत्वात्'' अर्थात् ज्ञान के अनुरूप श्रवण आदि के अनुष्ठान से तात्पर्य है, किन्तु विद्वन्मनोरंजिनीकार ने इसकी व्याख्या– ''तदनुष्ठानस्येति सगुणविद्याभिप्रायेणोक्तम्'' अर्थात् सगुण विद्या के अनुष्ठान से की है।''

2. **चिरं यावन्न विमोक्ष्ये**—'विमोक्ष्ये तथा सम्पत्स्ये' अन्यपुरुष के स्थान पर उत्तमपुरुष की क्रियाएं हैं अर्थात् जब तक मुक्त नहीं होता और सम्पन्न अर्थात् ब्रह्म में लीन नहीं होता है। यहाँ तस्य तावत् से फल का कथन है। वही अंश उदाहरण रूप से यहाँ अभीष्ट है।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञात विज्ञातम्' इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्।। 188।।

अनुवाद

प्रकरणप्रतिपादनीय वस्तु की यत्र–यत्र (जगह–जगह) प्रशंसा को अर्थवाद कहते हैं। जैसे वहीं पर (छान्दोग्य उपनिषद् में) 'तूने वह उपदेश (ब्रह्मस्वरूप) को पूछा, जिससे न सुना गया सुने हुए, अचिन्तित चिन्तन किए गए अज्ञात वस्तु बोधित वस्तु के सदृश हो जाती है' इस भाँति अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) की प्रशंसा (यहाँ) की गई है।

व्याख्या

अर्थवाद—प्रकरण प्राप्त वस्तु की स्थान–स्थान पर प्रशंसा अर्थवाद कही जाती है– उदाहरणार्थ– 'उततमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं अविज्ञातं विज्ञातम्' अर्थात् तूने उस सम्पूर्ण प्रपंचाधिष्ठान ब्रह्म स्वरूप को पूछा जिसके सुनने से बिना सुना हुआ भी, सकलप्रपंच सुना सा हो जाता है और जिस ब्रह्म के ज्ञान हो जाने से अज्ञात भी वस्तु ज्ञात हो जाती है। इत्यादि स्थलों पर अद्वितीय ब्रह्म की प्रशंसा हुई है। यही अर्थवाद है।

प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र–तत्र श्रूयमाणा युक्तिरूपपत्तिः। यथा तत्र तथा 'सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते।। 189।।

अनुवाद

प्रकरण में प्रतिपादन योग्य वस्तु को प्रमाणित करने के लिये यत्र–तत श्रूयमाण होने वाली युक्तियाँ उपपत्ति कहलाती हैं। उदाहरणार्थ वहाँ (पूर्व प्रकरण में) 'हे सौम्य! एक ही मिट्टी के पिण्ड से बनी हुई सब मिट्टी की वस्तुओं का ज्ञान होता है, उसके विकार (कार्य) केवल नाममात्र के पृथक्–पृथक् से हैं केवल मिट्टी ही सत्य है' इस भाँति अद्वितीय वस्तु ब्रह्मसाधन के लिए विकार (कार्य) की नाममात्र में युक्ति सुनाई देती है।

व्याख्या

उपपत्ति–प्रकरण प्रतिपाद्य विषय को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं वे उपपत्ति हैं। जैसे जगत् को ब्रह्म का विवर्त सिद्ध करने के लिए 'यथा सौम्य ऐका मृत्पिण्डेन' आदि युक्ति उपपत्ति है। इसी भाँति यह सब नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म का विवर्त है केवल नाममात्र के लिए पहाड़, नदी, पशु, मनुष्य आदि भेद हैं वस्तुतः सब एक ब्रह्ममात्र ही सत्य और अन्त में वही एकमात्र अवशिष्ट रहता है।

मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदानन्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्।। 190।।

अनुवाद

सुने गए, अद्वैत वस्तु को केवल वेदान्तानुगुण युक्तियों के द्वारा सतत (लगातार) चिन्तन को मनन कहते हैं।

व्याख्या

1. वेदान्तानुगुणयुक्तिभिः–वेदान्तदर्शन में केवल श्रुतियों के अनुरूपतार्क ग्रहणीय हैं। श्रुति निरपेक्ष नहीं अतः मानवबुद्धि के द्वारा कल्पित शुष्क तर्कों के निराकरणार्थ ऐसा कहा गया है।

"युक्त्वा सम्भावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत्।"

विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्।। 191।।

अनुवाद

विरूद्ध देहादि भावों से मुक्त अद्वैत वस्तु विषयक अविरूद्ध विचार–प्रवाह को निदिध्यासन कहते हैं।

व्याख्या

निदिध्यासन– विद्यारण्य निदिध्यासन का स्वरूप इस प्रकार अंकित करते हैं–

"ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते।।"

अर्थात् श्रवण तथा मनन के द्वारा जब आत्मा के बारे में किसी प्रकार का संशय न रहे तो आत्मा में समाहित चित्त की सदृश वृत्तियों का प्रवाह निदिध्यासन कहा जाता है।

2. विजातीय–बाह्य पदार्थों से लेकर बुद्धि तक सभी पदार्थ जड़ के कारण आत्मा विजातीय हैं अतः उनसे सम्बद्ध प्रतीतियों के भी विजातीय होने से उनका परित्याग करते हैं।

3. सजातीय–तब आत्माविषयक सजातीय प्रत्यय को तैलधारा के समान अवछिन्नरूप से प्रभावित करना निदिध्यासन है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. आत्मा साक्षात्कार के लिए वेदान्त में कितने साधन माने हैं?
2. लिंग कितने हैं?
3. उपक्रम क्या है?
4. निदिध्यासन क्या है?

20.5 सारांष

इस इकाई के अन्तर्गत षड्लिंग को वर्णित करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि छः लिंगों का मानव जीवन में क्या महत्व है? सृष्टि कल्याण के लिए छः लिंगों का विशेष योगदान है। (छः लिंगों में) से प्रकरण के प्रतिपाद्यार्थ तथा उसके आदि और अन्त का उपादान करना उपक्रम एवं उपसंहार (क्रमशः) कहलाते हैं जैसे छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरणप्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु 'एक ही अद्वैत तत्व' इस भाँति आदि में 'वह सब आत्मा का ही है' इस प्रकार अन्त में प्रतिपाद्य विषय का उपक्रम और उपसंहार (क्रमशः) किया है।

20.6 कठिन शब्दावली

ब्रह्माणि –ब्रह्मज्ञान के विषय में

आदित्य –सूर्य

घट –घड़ा

एकाग्र –ध्यान

एवम् – और

धी – बुद्धि

प्रयोजनम् – उद्देश्य

20.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. षड्लिंग
2. षड्विधिलिंगों द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तसूत्रों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य निरधारण करना

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. चार– श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि
2. छः– उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल अर्थवाद एवं उत्पत्ति
3. षड्लिंग
4. आत्म साक्षात्कार का साधन

20.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. वेदान्तसार, डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी एवं प्रो. किरणलता क्षत्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ – 250002।
2. वेदान्तसार, सं. रामशरण शास्त्री, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।
3. वेदान्तसार, डॉ. राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, बैंग्लो राड, दिल्ली – 7।
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टल, दिल्ली।

20.9 अभ्यास प्रश्न

1. ब्रह्मसाक्षात्कार के साधनों का वर्णन करें।
2. लिंग के कितने प्रकार हैं? वर्णन करें।
3. स्वयं प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते इति च।। इस सूत्र की व्याख्या करें।
4. उपक्रम एवं उपसंहार क्या है? वर्णन करें।

एकविंषति इकाई

समाधि

संरचना

21.1 प्रस्तावना

21.2 उद्देश्य

21.3 समाधि

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 1

21.4 वेदान्तसूत्र (192–214 तक)

- स्वयं आंकलन प्रष्न – 2

21.5 सारांष

21.6 कठिन शब्दावली

21.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

21.8 अनुषंसित ग्रन्थ

21.9 अभ्यास प्रश्न

21.1 प्रस्तावना

सविकल्पक और निर्विकल्पक दो समाधियाँ हैं। सविकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी का विलीन होना आवश्यक नहीं है। चित्तवृत्ति आत्मस्वरूप से उपरक्त होकर उसी में स्थिर हो जाती है परन्तु इस बात का ज्ञान होता रहता है कि ''मैं ज्ञाता हूँ, आत्मवस्तु ज्ञेय है, और ज्ञान की प्रक्रिया चल रही है।'' सविकल्पक समाधि को सम्प्रज्ञात तथा निर्विकल्पक समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। उनमें ज्ञाता, ज्ञातव्य का भेद ज्ञान होते हुए भी अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का अवस्थान सविकल्पक कहलाता है। ज्ञाता ज्ञानादिभेदभाव का लोप होकर केवल अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) में तदाकार से आकारितचित्तवृत्ति का अत्यधिक एकीभाव से स्थित होना निर्विकल्पक ज्ञान है।

21.2 उद्देश्य

- सविकल्पक समाधि ज्ञान
- निर्विकल्पक समाधि ज्ञान
- अष्टांग ज्ञान
- चित्तवृत्ति ज्ञान

21.3 समाधि

वेदान्तसार के अनुसार समाधि को दो भागों में बांटा गया है– सविकल्पक और निर्विकल्पक।सविकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी का विलीन होना आवश्यक नहीं है।

चित्तवृत्ति आत्मस्वरूप से उपरक्त होकर उसी में स्थिर हो जाती है परन्तु इस बात का ज्ञान होता रहता है कि ''मैं ज्ञाता हूँ, आत्मवस्तु ज्ञेय है, और ज्ञान की प्रक्रिया चल रही है।'' उनमें ज्ञाता, ज्ञातव्य का भेद ज्ञान होते हुए भी अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का अवस्थान सविकल्पक कहलाता है। जिस प्रकार कुम्हार के द्वारा बनाए गए मिट्टी के हाथी में हाथी की प्रतीति होने पर भी उसके मिथ्या होने का ही निश्चय होता है, सत्यता केवल मिट्टी की प्रतीत होती है, उसी भाँति अद्वैतकार चित्तवृत्ति में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भान होने पर भी उनकी असत्यता का निश्चय होता है, सत्यता केवल अद्वैत की ही भासित होती है। ज्ञाता ज्ञानादिभेदभाव का लोप होकर केवल अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) में तदाकार से आकारितचित्तवृत्ति का अत्यधिक एकीभाव से स्थित होना निर्विकल्पक ज्ञान है। (निर्विकल्पक समाधि अवस्था में) जलाकार से आकारित नमक की प्रतीति न होने से जलमात्र के आभास से सदृश अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) से आकारित चित्तवृत्ति के आभास से अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) मात्र प्रकाशित होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये इसके अंग हैं। योगदर्शन में 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' रूप में कथित ध्यान ही वेदान्तसार में सविकल्पक समाधि कहा गया है। वस्तुतः ध्यान की परिपाकावस्था ही सविकल्पक समाधि है। अष्टांग समाधि का अभ्यास करते समय उत्पन्न होने वाले विघ्न दो प्रकार के हैं– (1) आभ्यन्तर, (2) बाह्य। इस भाँति अवयवी (अंगी) निर्विकल्पक के लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद नामक ये चार विघ्न होते हैं।

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. सविकल्पक समाधि क्या कहलाती है?
2. निरविकल्पक समाधि क्या कहलाती है?

21.4 वेदान्तसूत्र (192–214 तक)

समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकष्चेति।। 192।।

अनुवाद

सविकल्पक और निर्विकल्पक दो समाधियाँ हैं।

व्याख्या

सविकल्पक समाधि–सविकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी का विलीन होना आवश्यक नहीं है। चित्तवृत्ति आत्मस्वरूप से उपरक्त होकर उसी में स्थिर हो जाती है परन्तु इस बात का ज्ञान होता रहता है कि ''मैं ज्ञाता हूँ, आत्मवस्तु ज्ञेय है, और ज्ञान की प्रक्रिया चल रही है।''

तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानदिविकल्पयानपेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारिता–याष्चित्तवृत्तेरवस्थानम्।। 193।।

अनुवाद

उनमें ज्ञाता, ज्ञातव्य का भेद ज्ञान होते हुए भी अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का अवस्थान सविकल्पक कहलाता है।

तदा मृन्मयगजादिभानेऽपि मृद्‌भानवद् द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते।। 194।।

अनुवाद

तब मिट्टी से बने हाथी आदि के भान होने पर भी मिट्टी की प्रतीति होने के सदृश द्वैत भान होने पर भी अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) का आभास होता है।

व्याख्या

जिस प्रकार कुम्हार के द्वारा बनाए गए मिट्टी के हाथी में हाथी की प्रतीति होने पर भी उसके मिथ्या होने का ही निश्चय होता है, सत्यता केवल मिट्टी की प्रतीत होती है, उसी भाँति अद्वैतकार चित्तवृत्ति में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भान होने पर भी उनकी असत्यता का निश्चय होता है, सत्यता केवल अद्वैत की ही भासित होती है।

तदुक्तम्—

'दृषिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्। अलेपकं सर्वगतं यद्द्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम्।। इति।। 195।।

अनुवाद

इसलिए कहा है—

'इसका साक्षिस्वरूप आकाश तुल्य है जो सदा ही एक रूप में ही प्रकाशित होकर अजन्मा, अविनाशी, एक, निर्लिप्त सर्वव्यापक तथा द्वैत है वही मैं ही इस प्रकार निरन्तर आनन्दस्वरूप परब्रह्म में हूँ।'

व्याख्या

(1) अलेपकम्—असंग, निरवद्य अथवा अविद्या आदि से रहित। **(2) सर्वगतम्** श्रुति के अनुसार— 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोत्तं मनः सह प्राणैश्चसर्वैः।' जो ब्रह्म से स्थावरपर्यन्त व्याप्त है, अनुस्यूत है। **(3) सतत् विमुक्तम्—**मैं सदैव से मुक्त हूँ कभी बंधा नहीं (श्रीमद्भागवत् के अनुसार— 'बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः। गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्।')

निर्विकल्पस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाष्चित्तवृत्तेर —तितरामेकाकीभावेनावस्थानम्।। 196।।

अनुवाद

ज्ञाता ज्ञानादिभेदभाव का लोप होकर केवल अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) में तदाकार से आकारितचित्तवृत्ति का अत्यधिक एकीभाव से स्थित होना निर्विकल्पक ज्ञान है।

व्याख्या

निर्विकल्पकः —इस समाधि का स्वरूप विद्यारण्य ने इस प्रकार अंकित किया है—

"ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकंगोचरम्।

निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते।।

यथा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा।

भगवानि ममेवार्थमर्जुनाय न्यरूप्यत्।।"

रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरंजिनी टीका में निर्विकल्पक को असम्प्रज्ञात समाधि बताया है। यह निरालम्बन होती है। अतः सालम्बन अभ्यास उसका साधन नहीं बन सकता।

तदा तु जलाकाराकारितवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वाकाराकारितवृत्त्यन —वभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते।। 197।।

अनुवाद

तब (निर्विकल्पक समाधि अवस्था में) जलाकार से आकारित नमक की प्रतीति न होने से जलमात्र के आभास से सदृश अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) से आकारित चित्तवृत्ति के आभास से अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) मात्र प्रकाशित होता है।

व्याख्या

''निर्विकल्पक समाधि में चित्तवृत्ति के निगृहीत हो जाने से उसका भान न होने पर भी अस्तित्व ही रहता है। समाधि से उठने पर स्मृति से वृत्तियों के सद्भाव का अनुमान किया जाता है।'' **—विद्यारण्य—पंचदषी 1/56**

ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशंका न भवति। उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः।। 198।।

अनुवाद

तब इसकी सुषुप्ति में अभेदशंका नहीं होती है। दोनों स्थलों में वृत्ति की अप्रतीति समान होने पर भी उनकी सत्ता एवं सत्ताभाव मात्र से इन दोनों में भेद की उपपत्ति होती है।

व्याख्या

1. जैकब के अनुसार, सुषुप्ति में यहाँ वृत्तियों का अभाव कहा है जबकि— 'तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिरानन्दमनुभवतः' से सुषुप्ति में अज्ञान वृत्तियों का अस्तित्व माना गया है। इसमें विरोध है। 'वस्तुतः' इनमें अविरोध है। सुषुप्ति में अन्तःकरण अपने कारणभूत अज्ञान में विलीन हो जाता है, अतः अन्तःकरण वृत्तियों का अभाव हो जाता है और अज्ञान का ही वृत्तियों से सुषुप्तिकालीन भोग सम्पन्न होता है। दोनों को एक समझना भ्रान्ति है।

अस्यांगानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः।। 199।।

अनुवाद

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये इसके अंग हैं।

व्याख्या

1. अंगानि —अंग की 'अंगयन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अंगानि' निष्पत्ति के अनुसार अर्थ है (निर्विकल्पक समाधि) के सहायक। ये पातंजल सूत्र में आठ बताए गए हैं—

''यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।''

तत्र 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'।। 200।।

अनुवाद

उनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह– ये यम हैं। आचार्य शंकर ने यम का स्वरूप इस भाँति बताया है–

"सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रयग्रामसंयमः।

यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः।।" (अपरोक्षानुभूति)

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।। 201।।

अनुवाद

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर की उपासना नियम हैं।

करचरणादिसंस्थानविषेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि।। 202।।

अनुवाद

हाथ पैर आदि के विशिष्ट लक्षणों के बोधक पद्म एवं स्वस्तिकादि ये आसन हैं।

रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः।। 203।।

अनुवाद

रेचक, पूरक, कुम्भक लक्षण युक्त– ये प्राणनिग्रह के उपाय प्राणायाम हैं।

इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः।। 204।।

अनुवाद

इन्द्रियों को अपने–अपने विषयों से निवृत्त कर लेना प्रत्याहार है।

अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा।। 205।।

अनुवाद

अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में अन्तरिन्द्रिय (मन, बुद्धि, चित्त) को लगा देना धारणा है।

व्याख्या

धारणा–पातंजल योगदर्शन के अनुसार 'देशबन्धश्चित्तस्यधारणा' धारणा है। **नृसिंह सरस्वती** कहते हैं– "सर्वेषां बुद्धिसाक्षितया विद्यमानेऽद्वितीयवस्तुनिचित्तनिक्षेपणं धारणा।" गरुड़पुराण में कहा है–

"प्राणायामैर्द्वादषभिर्यावत्कालः कृतो भवेत्।

स तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्।।"

बारह प्राणायाम करने में लगने वाले समय तक ब्रह्म में धारणा करनी चाहिए।

तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्।। 206।।

अनुवाद

उस अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में अन्तःकरण को रुक–रुककर प्रवृत्त करना ध्यान है।

व्याख्या

ध्यानम्–योगदर्शन में चित्तवृत्ति के तैलधारावत् एक लगातार प्रवाह को ही ध्यान कहा गया है– "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।"

शंकराचार्य के अनुसार 'ध्यान' इस प्रकार है–

"ब्रह्मैवास्मीति सद्वत्त्या निरालम्बतया स्थितिः।

ध्यानषब्देन विख्याता परमानन्ददायिनीः।।"

अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस भाँति सद्ब्रह्म विषयकावृत्ति से जो परमानन्ददायिनी निराश्रय स्थिति होती है वही ध्यान शब्द व्याख्यात है।

समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव।। 207।।

अनुवाद

सविकल्पक स्थिति ही समाधि कही जाती है।

व्याख्या

योगदर्शन में 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' रूप में कथित ध्यान ही वेदान्तसार में सविकल्पक समाधि कहा गया है। वस्तुतः ध्यान की परिपाकावस्था ही सविकल्पक समाधि है।

एवमस्यांगिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाष्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति।। 208।।

अनुवाद

इस भाँति अवयवी (अंगी) निर्विकल्पक के भय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद नामक ये चार विघ्न होते हैं।

व्याख्या

अष्टांग समाधि का अभ्यास करते समय उत्पन्न होने वाले विघ्न दो प्रकार के हैं– (1) आभ्यन्तर, (2) बाह्य। आभ्यन्तर प्रयत्न ही यहाँ चार प्रकार के कहे गये हैं।

लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा।। 209।।

अनुवाद

अखण्ड वस्तु के आश्रय लेने से (पूर्व) चित्तवृत्ति का निद्रावस्था को प्राप्त हो जाना लय है।

व्याख्या

समाधिकाल में चित्त द्वारा बाह्य विषयों का अभिनव करके प्रत्यगात्माभिमुख होने पर (लेकिन) उसे प्रत्यगात्मा के स्वरूप की प्रतीति न होने पर तन्द्रावश निद्रा प्राप्त हो जाने (की समाधि) को लय नामक विघ्न कहा जाता है।

अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तरन्यावलंबनं विक्षेपः।। 210।।

अनुवाद

खण्डरहित वस्तु (ब्रह्म) के आश्रय बिना चित्तवृत्ति का (किसी बाह्य सांसारिक विषय में) रुद्ध हो जाना विक्षेप है।

व्याख्या

जैसे समुद्री जहाज पर बैठा हुआ पक्षी किसी अन्य (श्रेष्ठ जहाज) का आश्रय पाने हेतु उड़े किन्तु आश्रय प्राप्ति न होने पर पुनः उसी जहाज पर लौट आता है, उसी प्रकार जब चित्तबाह्यविषयत्यागपूर्वक अखण्डात्मा की प्राप्ति हेतु अन्तर्मुख हो प्रवृत्त होवे किन्तु उसकी उपलब्धि न होने पर पुनः विषयों को सोचने लगे, तो इस समाधि का नाम विक्षेप है।

लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्ते रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः।। 211।।

अनुवाद

लय और विक्षेप का अभाव होने पर चित्तवृत्ति के रागादिवासना से स्तब्ध हो जाने के कारण अखण्ड वस्तु तक प्राप्त्याभाव कषाय है।

व्याख्या

नृसिंह सरस्वती इस कषाय नामक विघ्न का निरुपण इस प्रकार करते हैं– ''यथाराजदर्शनाय स्वगृहान्निर्गत्य राजमन्दिरं प्रविष्टस्य कस्यचित्पुरुषस्य द्वारपालनिरोधेन स्तब्धोभावस्तथा परित्यक्तबाह्यविषयस्याखण्डवस्तुग्रहणाय प्रवृत्तस्योबुद्धरागादिसंस्कारैः स्तब्धीभावादखण्डवरत्वग्रहणं कषाय इत्यर्थः।'' जैसे कोई राजा के दर्शनार्थ घर से निकलकर राजमन्दिर में जाते समय द्वारपाल द्वारा रोक दिए जाने पर स्तब्ध हो जाय उसी भाँति बाह्य विषयों का त्याग कर चित्त के अखण्ड वस्तु की ओर प्रवृत्त हो जाने पर उद्बुद्ध हुये रागादि द्वारा रोक दिये जाने पर स्तब्ध हो जाना ही कषाय नामक विघ्न है।

अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः। समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा।। 212।।

अनुवाद

खण्डहीन वस्तु तक न जाकर भी चित्तवृत्ति का सविकल्पक समाधि आनन्द में आस्वादन को रसास्वाद अथवा (सविकल्पक समाधि की दशा पार करने के उपरान्त) निर्विकल्पक समाधि का आरम्भ होते ही सविकल्पक आनन्द से ही सन्तुष्ट हो जाना रसास्वाद है।

व्याख्या

सविकल्पक समाधि में साधक अद्वितीय को न ग्रहण कर सकने के कारण नित्य आनन्दरस का आस्वादन न करने पर भी ब्रह्म प्रपंचरूप अनिष्ट की निवृत्तिमात्र से उत्पन्न होने वाले सविकल्पक आनन्द का ब्रह्मानन्द के भ्रम से आस्वादन करने को रसास्वाद कहा गया है। जैसा कि सुबोधिनी टीका में भी कहा है–

''सविकल्पसमाधावखण्डवस्त्वनलम्बनेन नित्यानन्दरसास्वादनाभावेऽप्यनिष्टबाह्यप्रपंचनिवृत्तिजन्यानन्दं सविकल्पकरूपं ब्रह्मानन्दभ्रमेणास्वादयति तद्रसास्वादनमित्यर्थः।''

रसास्वाद का जो द्वितीय लक्षण है सविकल्पक समाधि की अवस्था को पार करके निर्विकल्पक समाधि के आरम्भ होते ही उसकी अनिच्छा से अविकल्पानन्द से ही सन्तुष्ट होकर रमना।

''मग्नस्याब्धौ यथाक्षाणि विह्वलानि तथास्व धीः।

अखण्डैकरसं श्रुत्वा निष्प्रचारा बिभेत्यतः।।

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनम्।

साकारब्रह्मनिष्ठानामत्यन्तं भयभूमिचरे।।''

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते।। 213।।

अनुवाद

इस विघ्न चतुष्टय द्वारा होकर चित्त का वायुहीन स्थल पर अचलायमान दीपक सदृश अखण्ड चैतन्यमात्र में स्थित हो जाना निर्विकल्पक समाधि कहलाता है।

व्याख्या

जब अन्तर (मन) में ही विघ्नों का प्रादुर्भाव हो जाये तब उनके निवारण के लिये क्या उपाय हैं, यह अब क्रमशः योगीन्द्र सदानन्द जी बताते हैं।

तदुक्तम्–

'लये सम्बोधयेच्चितं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः। सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्।। नास्वादयेद्रसं तत्र निःस्संग प्रज्ञया भवेत्' इति। 'यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृत' इतिच।। 214।।

अनुवाद

कहा गया है – 'लय में चित्त को सावधान करे; विक्षेपयुक्त को शान्त करे, कषायरूपी बाधा होने पर सावधान होवे, फिर शमप्राप्त को स्थिर करके, सविकल्पकरस से अपने को प्रज्ञा द्वारा आसक्ति रहित करके, आनन्द का आस्वाद करे'। 'जैसे दीपक वायुहीन स्थान पर चलायमान नहीं होता उसी भाँति इस (चित्त) की उपमा दी गई।'

व्याख्या

1. **विक्षिप्तं ....** पुनः– गौडपाद कहते हैं ''उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः।''

2. **सकषायं विजानीयात् – रामतीर्थ** का कथन है– 'सकषायं चित्त विजानीयान् कलुषितं मे चित्तमिति विज्ञाय च समेऽद्वितीयचैतन्यात्मनि निवेशयेत्।' **शंकराचार्य** के अनुसार– 'एवं पुनः पुनरभ्यस्यतोलयात्सम्बोधितं विषयेभ्यश्च व्यावर्त्तितं नापि साम्यापन्नमन्तरालावस्यं सकषायं सरागं बीजसंयुक्तं मन इति विजानीयात्।'

3. **नास्वादयेत् प्रज्ञयाभवेत्**–सविकल्पक समाधि में योगी को तावन्मात्र आनन्द से अपने को कृतार्थ न समझकर उसके प्रति अनासक्ति भाव से अपनी विवेकिनी प्रज्ञा से सोचना चाहिये।

4. इस प्रकार योगी का चित्त वायुहीन स्थान में दीपक के समान निश्चल रहता है जैसा कि गौडपाद कहते हैं–

''यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।

अनिंगनमनाभास निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा।।''

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. सविकल्पक स्थिति क्या कहलाती है?
2. समाधि के कितने अंग हैं?
3. समाधि कितने रूपों में विभाजित है?
4. चित्तवृत्ति के चार विघ्न कौन–कौन से हैं?

21.5 सारांष

वेदान्तसार के अनुसार सविकल्पक और निर्विकल्पक दो समाधियां बताई गई हैं। सविकल्पक समाधि को सम्प्रज्ञात तथा निर्विकल्पक समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये इसके अंग हैं। उनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह– ये यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर की उपासना नियम हैं। हाथ पैर आदि के विशिष्ट लक्षणों के बोधक पद्म एवं स्वस्तिकादि ये आसन हैं। रेचक, पूरक, कुम्भक लक्षण युक्त– ये प्राणनिग्रह के उपाय प्राणायाम हैं। इन्द्रियों को अपने–अपने विषयों से निवृत्त कर लेना प्रत्याहार है। अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में अन्तरिन्द्रिय (मन, बुद्धि, चित्त) को लगा देना धारणा है। उस अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में अन्तःकरण को रुक–रुककर प्रवृत्त करना ध्यान है। सविकल्पक स्थिति ही समाधि कही जाती है।

21.6 कठिन शब्दावली

मृतिका –मिट्टी **गजः** –हाथी

अलेपकम् –अविधा आदि से रहित **विघ्न** –बाधा

प्रज्ञया –विवेक बुद्धि से **सोपमा** –वही उपमा

समाधि –मन को ब्रह्म में केन्द्रित करना

21.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. सम्प्रज्ञात
2. असम्प्रज्ञात

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. समाधि
2. आठ
3. दो– सविकल्पक और निर्विकल्पक
4. चार– लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद

21.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. वेदान्तसार, डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी एवं प्रो. किरणलता क्षत्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ – 250002।
2. वेदान्तसार, सं. रामशरण शास्त्री, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।

3. वेदान्तसार, डॉ. राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, बैंग्लो राड, दिल्ली – 7।
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टल, दिल्ली।

21.9 अभ्यास प्रश्न

1. वेदान्तसार के अनुसार समाधि कितने प्रकार की हैं? सविस्तार वर्णन करें।
2. समाधि के अंग कितने हैं? वर्णित करें।
3. अष्टांग समाधि का अन्यास करते समय उत्पन्न होने वाले विघ्नों का वर्णन करें।
4. 'समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति'।। इस सूत्र की व्याख्या करें।

द्वाविंषति इकाई

जीवन्मुक्ति

संरचना

22.1 प्रस्तावना

22.2 उद्देश्य

22.3 जीवन्मुक्ति

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 1**

22.4 वेदान्तसूत्र (215–226 तक)

- **स्वयं आंकलन प्रष्न – 2**

22.5 सारांष

22.6 कठिन शब्दावली

22.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

22.8 अनुषंसित ग्रन्थ

22.9 अभ्यास प्रश्न

22.1 प्रस्तावना

यहाँ जीवन्मुक्ति के (ब्रह्मज्ञान) साधन (अज्ञान निवारण) प्रक्रिया तथा (ब्रह्मसाक्षात्कार) परिणाम और (अज्ञानादि कार्य विनाश होने से सम्पूर्ण बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ होना) फल का निरुपण किया जा रहा है। अपने ही स्वरूप खण्डरहित ब्रह्मज्ञान द्वारा उनमें स्थित अज्ञान को दूर करके, अपने स्वरूपाखण्डब्रह्म के प्रत्यक्षभूत होने से अज्ञान और उससे उत्पन्न (कार्य) में एकत्रित कर्म, सन्देह विपर्यय आदि को नष्ट करके सम्पूर्ण बन्धनों से हीन ब्रह्म में निष्ठावान् (पुरुष) जीवन्मुक्त कहलाता है। स्वरूपाखण्ड ब्रह्मज्ञानेन में ब्रह्मज्ञान से तात्पर्य है ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान। तथा इस पूरे पद के द्वारा ब्रह्मप्रत्यक्षीकरण के साधन ब्रह्मज्ञान को बताया गया है। जिस (ब्रह्म) का श्रवण मनन आदि किया जाता है, उस परोक्ष ब्रह्मज्ञान को इस पद से अभिप्रेत समझना चाहिए। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के उत्पन्न होने पर पहले अज्ञान का विनाश होता है उसके पश्चात् ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, यहाँ अज्ञान विनाश से ही तात्पर्य है।

22.2 उद्देश्य

- ब्रह्म ज्ञान
- जीवन्मुक्ति ज्ञान
- अज्ञान निवारण

22.3 जीवन्मुक्ति

जीवन्मुक्ति के (ब्रह्मज्ञान) साधन (अज्ञान निवारण) प्रक्रिया तथा (ब्रह्मसाक्षात्कार) परिणाम और (अज्ञानादि कार्य विनाश होने से सम्पूर्ण बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ होना) फल का निरुपण किया जा रहा है। जीवन्मुक्त के संचित कर्म दग्ध हो जाते हैं केवल प्रारब्ध कर्म ही शिष्ट रहते हैं तथा क्रियमाण कर्म कर्तृताबुद्धि के न होने से बाधित हो जाते हैं अतः यहाँ पर संचित में क्रियमाण कर्म भी अन्तर्भूत हो जाते हैं।

बादरायण का निम्न सूत्र भी इसी भाव को प्रदर्शित करता है–

'तदधिगम उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।'

तथा –**'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु।'**

श्रुतियाँ भी इसी प्रकार का समर्थन करती हैं–

'यथा पुष्पकरपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पाप कर्म न श्लिष्यते।' ब्रह्मात्मज्ञान से मोक्ष प्राप्ति होती है अथवा नहीं ऐसी विकल्पयुक्त बुद्धि का होना ही संशय है या देहादिव्यतिरिक्त शुद्धचैतन्य आत्मन् के अस्तित्व में सन्देह करना संशय है। देहादि आत्मा पदार्थों में आत्मबुद्धि का होना या विपरीत ज्ञान होना विपर्यय है।

यद्यपि बन्धन युक्त तथा जीवन्मुक्त दोनों ही शरीरेन्द्रियादि से व्यवहार करते हैं तथा दोनों के शरीरेन्द्रियादि समान दोष वाले होते हैं तथापि वृद्ध व्यक्ति अज्ञानवश शरीरेन्द्रियादि के प्रति ममता तथा अहन्ता का भाव रखने से इनके द्वारा होने वाले कर्मों के प्रति कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के अभिमान से युक्त होता है। परिणामतः सुख–दुःख बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। जीवन्मुक्त अज्ञान विनाश हो जाने से कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के अभिमान से मुक्त होता है अतः पूर्व वासना से शरीरादि के द्वारा सम्पन्न होने वाले कर्मों तथा प्रारब्ध कर्मों का वह साक्षिमात्र होता है। दूसरों की दृष्टि में वह इन सबका भोक्ता मालूम होता है किन्तु वस्तुतः वह इनसे अलिप्त रहता है। इस प्रकार जीवन्मुक्त बद्ध और विदेहमुक्त दोनों से विलक्षण प्रमाणित होता है। प्रस्तुत वेदान्तसार के वाक्य द्वारा जीवन्मुक्त का बन्ध और विदेहमुक्त से भिन्नत्व प्रदर्शित किया गया है।

स्वयं आंकलन प्रश्न –1

1. वेदान्तसार के अनुसार जीवन मुक्ति का श्रेष्ठ साधन क्या है?
2. देहादि आत्मा पदार्थों में .... का होना या विपरीत ज्ञान होना विपर्यय है।

22.4 वेदान्तसूत्र (215–226 तक)

अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते।। 215।।

अनुवाद

अब जीवन्मुक्त का लक्षण बताया जा रहा है।

व्याख्या

यहाँ जीवन्मुक्ति के (ब्रह्मज्ञान) साधन (अज्ञान निवारण) प्रक्रिया तथा (ब्रह्मसाक्षात्कार) परिणाम और (अज्ञानादि कार्य विनाश होने से सम्पूर्ण बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ होना) फल का निरुपण किया जा रहा है।

जीवन्मुक्तो नाम स्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसंचितकर्मसंषयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः।। 216।।

अनुवाद

अपने ही स्वरूप खण्डरहित ब्रह्मज्ञान द्वारा उनमें स्थित अज्ञान को दूर करके, अपने स्वरूपाखण्डब्रह्म के प्रत्यक्षभूत होने से अज्ञान और उससे उत्पन्न (कार्य) में एकत्रित कर्म, सन्देह विपर्यय आदि को नष्ट करके सम्पूर्ण बन्धनों से हीन ब्रह्म में निष्ठावान् (पुरुष) जीवन्मुक्त कहलाता है।

व्याख्या

1. स्वरूपाखण्ड ब्रह्मज्ञानेन में ब्रह्मज्ञान से तात्पर्य है ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान। तथा इस पूरे पद के द्वारा ब्रह्मप्रत्यक्षीकरण के साधन ब्रह्मज्ञान को बताया गया है। जिस (ब्रह्म) का श्रवण मनन आदि किया जाता है, उस परोक्ष ब्रह्मज्ञान को इस पद से अभिप्रेत समझना चाहिए।

2. तदज्ञानबाधनद्वारा–'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के उत्पन्न होने पर पहले अज्ञान का विनाश होता है उसके पश्चात् ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, यहाँ अज्ञान विनाश से ही तात्पर्य है।

3. स्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृते–से ब्रह्मसाक्षात्काररूप साधन–परिणति को ही बताया गया है।

4. अज्ञानतत्कार्य.............. बाधितत्वात्–संचित कर्म का निरुपण विद्वन्मनोरंजिनी टीका में इस प्रकार दिया गया है– संचित कर्म ज्ञानोत्पत्तेः प्रागुत्पन्नमारब्धफलम्।' जीवन्मुक्त के संचित कर्म दग्ध हो जाते हैं केवल प्रारब्ध कर्म ही शिष्ट रहते हैं तथा क्रियमाण कर्म कर्तृताबुद्धि के न होने से बाधित हो जाते हैं अतः यहाँ पर संचित में क्रियमाण कर्म भी अन्तर्भूत हो जाते हैं। बादरायण का निम्न सूत्र भी इसी भाव को प्रदर्शित करता है–

'तदधिगम उत्तरपूर्वार्धयोरष्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।'

तथा –**'इतरस्याप्येवमसंष्लेषः पाते तु।'**

श्रुतियाँ भी इसी प्रकार का समर्थन करती हैं–

'यथा पुष्पकरपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पाप कर्म न श्लिष्यते।' ब्रह्मात्मज्ञान से मोक्ष प्राप्ति होती है अथवा नहीं ऐसी विकल्पयुक्त बुद्धि का होना ही संशय है या देहादिव्यतिरिक्त शुद्धचैतन्य आत्मन् के अस्तित्व में सन्देह करना संशय है। देहादि आत्मा पदार्थों में आत्मबुद्धि का होना या विपरीत ज्ञान होना विपर्यय है।

5. ब्रह्मनिष्ठ–इस पद की विभिन्न टीकाओं में व्याख्या इस प्रकार से प्राप्त होती है। विद्वन्मनोरंजिनी के अनुसार–

'ब्रह्मनिष्ठत्वं वेदान्तवेद्यब्रह्मात्मनावस्थिततत्वम्।'

सुबोधिनी का कथन है–

ब्रह्मणि निष्ठा तदेकपरता यस्य स ब्रह्मनिष्ठः।

अर्थात् ब्रह्मा में एकमात्र उसी में परायण हो जाना जिसमें वह है, वह ब्रह्मनिष्ठ है। लेकिन इस भाँति व्याख्या करने पर इस लक्षण की अतिव्याप्ति भक्त तथा साधक में भी हो जाती है क्योंकि ये भी एकमात्र ईश्वर के परायण होकर रहते हैं, इसलिये 'निष्ठा' का तात्पर्य 'तदेकपरता' के स्थान पर 'नितरां स्थितिः' – एकीभाव से स्थित हो जाना करने में अतिव्याप्ति दोष की प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

6. अखिलबन्धरहितः–अमुक्तव्यक्ति संसारगत बन्धनों से बद्ध रहता है, जब कि जीवन्मुक्त समस्त लौकिक एवं पारलौकिक बन्धनों की श्रृंखला को खण्डित कर निरन्तर सच्चिदानन्द ब्रह्म में अवस्थित रहता है। अतः बुद्ध लोगों से पृथक्ता प्रदर्शित करने के लिए ही यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिष्छिद्यन्ते सर्वसंषयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।' इत्यादिश्रुतेः।। 217।।

अनुवाद

यह श्रुति भी प्रमाणभूत है–

उस परावर कारण रूप दृष्ट होने पर जीवन्मुक्त से सब सन्देह निवारित हो जाते हैं, हृदयग्रन्थि टूट जाती है तथा इसके कर्म (बन्धन) क्षीण हो जाते हैं।

व्याख्या

1. स्वामी तुलसीदास भी इसी का समर्थन करते हैं–

'जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनाई।।'

अयं तु व्युत्थानसमये मांसषोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेणान्ध्यमान्द्यापटुत्वादि –भाजनेन्द्रियग्रामेणाषनायापिपसाषोकमोहादिभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यति। यथेन्द्रजालमिदमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति।। 218।।

अनुवाद

यह तो उठने के समय (ज्ञान से बोधरूप जागृत प्राप्ति होने पर) मांस, रक्त तथा मलमूत्रादि के भोजन देह द्वारा अन्धभाव, मन्द होना एवं अपटुत्व आदि के पात्र रूप इन्द्रिय समूह से तथा बुभुक्षा, पिपासा, शोक तथा मोहादि के पात्र रूप अन्तःकरण से पूर्व वासना के कारण किए जाने वाले कर्मों एवं ज्ञान विरूद्ध आरब्ध कर्मों के फलों को देखता हुआ भी अपने यथार्थभाव को छोड़ देने के कारण उन्हें यथार्थतः नहीं देखता। जैसे 'यह जादू है' इस प्रकार जानता हुआ जादू को देखते हुए भी 'यह वास्तविक नहीं' इस प्रकार सोचता हुआ (यथार्थ भाव से) उसे नहीं देखता।

व्याख्या

1. यद्यपि बन्धन युक्त तथा जीवन्मुक्त दोनों ही शरीरेन्द्रियादि से व्यवहार करते हैं तथा दोनों के शरीरेन्द्रियादि समान दोष वाले होते हैं तथापि वृद्ध व्यक्ति अज्ञानवश शरीरेन्द्रियादि के प्रति ममता तथा अहन्ता का भाव रखने से इनके द्वारा होने वाले कर्मों के प्रति कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के अभिमान से युक्त होता है। परिणामतः सुख–दुःख बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। जीवन्मुक्त अज्ञान विनाश हो जाने से कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के अभिमान से मुक्त होता है अतः पूर्व वासना से शरीरादि के द्वारा सम्पन्न होने वाले कर्मों तथा प्रारब्ध कर्मों का वह साक्षिमात्र होता है। दूसरों की दृष्टि में वह इन सबका भोक्ता मालूम होता है किन्तु वस्तुतः वह इनसे अलिप्त रहता है। इस प्रकार जीवन्मुक्त बद्ध और विदेहमुक्त दोनों से विलक्षण प्रमाणित होता है। प्रस्तुत वेदान्तसार के वाक्य द्वारा जीवन्मुक्त का बन्ध और विदेहमुक्त से भिन्नत्व प्रदर्शित किया गया है।

2. **अषनायापिपासाषोकभाजनेनान्तःकरणेन**–इन्द्रियात्मवादी द्वारा आत्मतत्व निरुपण के प्रकरण में 'अशनाय' तथा पिपासा को निरूपित किया जा चुका है। किन्तु इस प्रकरण में उन्हें अन्तःकरण का धर्म कहा गया है। प्रो. हिरियन्ना के अनुसार– 'यह स्पष्टतः सांख्यदर्शन का प्रभाव है।' सांख्यकारिका में पंचवायु (प्राणादि) अन्तःकरण की सामान्य व्यापार मानी गई हैं–

'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पंच।।'

अतः वस्तुतः प्राणादि के धर्म सांख्य के अनुसार अन्तःकरण के ही धर्म हुए, प्राणादि को अन्तःकरण का व्यापार कहने से अन्तःकरण में उनका अन्तर्भाव हो जाने से ही सांख्यीय सृष्टि–प्रक्रिया में प्राणादि पाँच वायु का कहीं भी अलग से उल्लेख नहीं किया गया है।

3. शरीरेन्द्रियादि की सत्ता प्रारब्ध कर्मों के अधीन है। जब तक प्रारब्ध कर्म अवशिष्ट हैं, तब तक शरीरादि नष्ट नहीं हो सकते। जैसे किसी शक्तिमान पुरुष द्वारा फेंका गया बाण तब तक नहीं रूक सकता जब तक कि उसका वेग कम नहीं हो जाता, वैसे ही जिस आरब्ध विपाक कर्म के फलस्वरूप यह शरीर उपलब्ध हुआ है उस कर्म का वेग जब तक क्षीण नहीं होता तब तक शरीरादि निवारण सम्भव नहीं है। ब्रह्मज्ञान भी उसके वेग को अवरूद्ध करने की सामर्थ्य वाला नहीं है। शंकराचार्य कहते हैं–

'ज्ञानोदयात् पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
अदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिष्योत्सृष्टाबाणवत्।।
व्याघ्रबुद्धया विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौः।
न तिष्ठिति छिनत्येत्व लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्।।'

श्रुति का कथन है–

'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये।।'

अर्थात् आचार्योपदेश से अविद्याभूत बन्धन से मुक्त हुये उस तत्त्वद्रष्टा के लिये सदात्मस्वरूप की प्राप्ति में उतने ही समय तक देर है, जब तक कि देहादि के कारणरूप प्रारब्ध कर्म का उपयोग द्वारा क्षय होकर देहविनाश नहीं है।

4. यद्यपि यह सत्य है कि तत्त्ज्ञान मिथ्याज्ञान को बाधित करता है तथापि मिथ्याज्ञान बाधित होने पर भी संस्कारवश कुछ काल तक अनुवर्तित होता रहता है। यथा भ्रमवश दीखने वाले दो चन्द्रमाओं का ज्ञान भ्रम की निवृत्ति होने पर संस्कारवश कुछ काल तक अनुवर्तित होता रहता है उसी प्रकार अज्ञानवश भासित होने वाले देहेन्द्रियादि के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर भी पूर्वसंस्कारों के कारण कुछ काल तक (प्रारब्धनाशपर्यन्त) उनका अनुवर्तन होता रहता है। जिस भाँति वस्त्र के जल जाने पर भी कुछ काल तक उसमें वस्त्रत्वबुद्धि अनुवर्तित होती रहती है उसी भाँति तत्वज्ञान से अविद्योत्पन्न देहादि के कारण बाधित हो जाने से उनका मिथ्यात्व निश्चय होने पर भी पूर्वसंस्कारों के कारण देहादि अनुवर्तित होते रहते हैं, यही 'बाधितानुवृत्ति' कहलाती है।

तत्वज्ञान की उत्पत्ति प्रारब्ध कर्मों पर आश्रित है।

'स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव' इत्यादिश्रुतेः।। 219।।

अनुवाद

'वह नेत्रों से युक्त होते हुये भी नेत्रहीन के सदृश, कर्णेन्द्रिय सम्पन्न होते हुए भी बहिरे के समान' इत्यादि श्रुतियाँ भी इस विषय में प्रमाण स्वरूप हैं।

व्याख्या

जैसे जला हुआ वस्त्र या इन्द्रजाल (जादू) के द्वारा निर्मित महल का मिथ्यात्वभान होने पर भी उनके सत्यत्व की प्रतीति कभी नहीं होती है, उसी भाँति अनादि विद्या के द्वारा कल्पित देहेन्द्रियादि का मिथ्यात्वभान होने पर भी परमार्थता की प्रतीति नहीं होती। इसी को प्रमाणित करने के लिए योगीन्द्र सदानन्द ने प्रस्तुत श्रुति उद्धृत की है। रामतीर्थ इस श्रुति की व्याख्या इस भाँति करते हैं–

"चक्षुरादिमानमपि प्रपंचरूपाद्यदषनाच्चक्षुरादिहीन इव भवतीत्यर्थः।"

अर्थात् जगत्प्रपंच के रूपादि का अदर्शन होने से वह जीवन्मुक्त चक्षु आदि इन्द्रियों से सम्पन्न होने पर भी इनसे रहित जैसा हो जाता है।

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के अनुसार–

"अपि च नैवात्र विवदितव्यं ब्रह्मविदा कंचित्कालं शरीरं ध्रियते, न वा ध्रियत इति। कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रतिक्षेपितुं शक्येत।"

उक्तंच–

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च पश्चन्नपि चाद्वयत्वतः। तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः, स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः" इति।। 220।।

अनुवाद

और भी कहा गया है–

'जो जाग्रत दशा में सुषुप्तावस्था में अद्वैतभान के समान द्वैत को विशेष नहीं जानता, जो (कर्मों को) करते हुए भी क्रियाहीन है। वही लोक में आत्मज्ञाता है अन्य कोई नहीं, यह निश्चित है।'

व्याख्या

प्रस्तुत श्लोक उपदेशसाहस्त्री से उद्धृत है, इसका भाव इस प्रकार है– जो ब्रह्म व आत्मा के एकत्व का प्रत्यक्षीकरण करने से समस्त भेदभाव शून्य होकर सुषुप्ति के समान जागरण समय में भी द्वैत का दर्शन नहीं करता वही आत्मवेत्ता है, क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का अभ्यास करने वाले की दृष्टि इतनी दृढ़मूल हो जाती है कि उसकी दृष्टि में ब्रह्मातिरिक्त का अभाव हो जाता है, जो लोकसंग्रह के लिए नित्यादि कर्म करता हुआ भी आत्मा के अकर्तृत्व का निश्चय होने से निष्क्रिय तथ सर्वथा अलिप्त रहता है वही आत्मवेत्ता है इससे भिन्न नहीं।

अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारबिहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा।। 221।।

अनुवाद

इसके (आत्मज्ञाता के ब्रह्म प्रत्यक्षीकरण से) पूर्व वर्तमान आहार, विहार आदि की अनुवृत्ति के सदृश शुभवासनाओं की ही अनुवृत्ति क्रियान्वित रहती है या शुभाशुभ की ओर से उदासीन भाव उत्पन्न हो जाता है।

व्याख्या

1. शुभाषुभयोरौदासीन्यं वा–जीव मुक्त में या तो शुभ वासनाओं का अनुवर्तन होता है या शुभाशुभ दोनों के प्रति उपेक्षा उत्पन्न हो जाती है। जीवन्मुक्त का यही उदासीनभाव संसार के प्रपंच से आत्यन्तिक अनासक्ति का परिचायक है।

2. 'ब्रह्मवेत्ता में सभी पवित्र आचार तथा पवित्र वासनायें अनुवर्तित होती हैं, जिनका अभ्यास उसने ज्ञानोदय से पूर्व बड़े लम्बे काल तक सतत किया है। उसमें शुभ वासनाओं के उदय तथा अनुवर्तन होने की सम्भावना ही नहीं क्योंकि उसकी अशुभ वासनायें साधक की दशा में ही अभ्यास से निवृत्ति को प्राप्त हो चुकी हैं।

तदुक्तम्–

'बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि। शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽषुचिभक्षण इति।।''
ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः' इति।। 222।।

अनुवाद

और कथित भी है–

''अद्वैत (अभिन्न ब्रह्म) के साक्षात् द्रष्टाओं को यदि यथेष्ट (इच्छानुसार) वृत्ति होती है तो कुक्कर सदृश तत्त्वसाक्षात्कर्त्ता को भी पवित्रापवित्र में भिन्नता नहीं होती है।''

''ब्रह्म के ज्ञान को त्याग करने वाला आत्मज्ञाता ही होता है अन्य नहीं।''

व्याख्या

1. बुद्धाद्वैत ....ऽषुचिभक्षण–ब्रह्मवेता ब्रह्मज्ञान से पहले जिस सदाचार तथा सद्विचार का अनुशीलन करता है, उसी का अनुसरण मुक्तावस्था में भी होता रहता है। इच्छानुसार आचरण के

परित्याग का संकल्प तो वह साधन शुरू करते समय ही कर चुकता है। साधन की सिद्धि यथेच्छ आचरण के परित्याग को इंगित करती है, इसलिए दीर्घकालीन अभ्यास से उसके इच्छानुसार आचरण करने के संस्कार भी प्रायः विनष्ट हो जाते हैं। इसी को वार्तिककार ने और अधिक स्पष्ट किया है–

'यो हि यत्र विरक्तः स्यान्नासौ तस्मिन् प्रवर्तते।

लोकत्रयाद्विरक्तत्वान्मुमुक्षुः किमितीहते।।

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति।

मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नाम्मूढस्तज्जिघत्सति।।

रागो लिंगमबोधस्य चित्त्व्यापारमभूमिषु।

कुतः शाड्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः।।'

2. यथेष्टाचरण– ''न मातृवधेन न पितृवधेन'' हत्वापि स इमॉल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।''

इत्यादि उद्धृत वाक्य ब्रह्मवेता में यथेष्टाचरण के लिए उद्धृत किए जाते हैं। वे केवल उसकी प्रशंसा करने के लिए ही हैं। इनसे यह अर्थ प्राप्य नहीं कि ज्ञानी को इस लोक की हिंसा करनी चाहिए अपितु इसका भाव तो केवल यह है कि यदि उससे ये कर्म प्रारब्ध के कारण भी बनें तो भी वह उनसे मुक्त ही रहता है।

3. ब्रह्मवित्त्वं चेतरः–'जब मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ' इस प्रकार का अभिमान साधक द्वारा व्यक्त कर दिया जाए तभी वह सच्चा तत्त्वद्रष्टा आत्मवेता बनता है। श्रुति के अनुसार–

''यदिमन्यते सुवेदेति भद्रमेवापि नूनं वेत्थ ब्रह्मणोम् रूप''।।

केनोपनिषद् में ''वास्तविक ब्रह्मज्ञानी कौन होता है'' बताया गया है–

''यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।''

जिसका यह निश्चय है कि ब्रह्मज्ञान विषय न होने के कारण जानने योग्य नहीं है यह यथार्थतः ब्रह्म का बोध प्राप्त है क्योंकि यह ब्रह्म को अविषय रूप से प्रत्यात्मा के रूप में जानता है तथा जो 'मैंने ब्रह्म को जान लिया वह मिथ्यावक्ता है वह ब्रह्मज्ञानी नहीं है।' जिसे ब्रह्मज्ञातत्व का अभिमान है। वह ब्रह्मवेत्ता नहीं हो सकता तथा जो ब्रह्मज्ञान के अभिमान से शून्य है वही यथार्थतः ब्रह्मज्ञान को जानता है।

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनानयद्वेष्टत्वादयः सद्गुणाष्यालंकारवदनुवर्तन्ते।। 223।।

अनुवाद

उस समय (जीवन्मुक्त दशा में) अभिमानरहितादि ज्ञान के साधन और द्वेषहीनतादि सद्गुणों से आभूषणों की भाँति अनुवर्तित रहते हैं।

व्याख्या

'अमानित्वमहिंसाक्षान्तिरार्जवम्' रूप से वर्जित अमानित्वादि सभी साधन तथा सद्गुण जीवन्मुक्त दशा में आभूषण के सदृश शोभित होते हैं। ब्रह्मज्ञानी इनका सम्पादन करने की आवश्यकता नहीं रखता है। क्योंकि इनका सम्पादन तो विविदिषासंन्यास में ही आवश्यक है विद्वत्संन्यास में नहीं। विद्वत्संन्यास में तो ये सब पूर्वसिद्धत्ववश लक्षण रूप से अलंकार के समान अनुवर्तित होते रहते हैं।

तदुक्तम्–

'उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टत्वादयो गुणाः। अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः'।। इति।। 224।।

अनुवाद

अतः कहा है–

आत्मज्ञानी के लिए द्वेषहीनतादि गुण (अपने आप लक्षणरूप में) बिना यत्न के प्रकट हो जाते हैं वे उसके साधनरूप नहीं होते।

व्याख्या

जीवन्मुक्त अवस्था में अमानित्वादि सब पूर्व से ही सिद्ध होते हैं, इसलिए उनमें अपने को नियुक्त करने की अपेक्षा नहीं रह जाती, सब स्वभावतः ही अनुवर्तित होते रहते हैं। इनके निवृत्त न होने का एक कारण है कि निवृत्ति शास्त्र से ये विरुद्ध नहीं हैं उनका परिगणन नहीं है। जीवन्मुक्त में अविद्या लेश की सत्ता के कारण जब अज्ञानकृत प्रारब्ध तथा शरीरादि पर्यन्त की निवृत्ति नहीं होती है, तब ज्ञानविरोधी अमानित्वादि की निवृत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है जिसमें शुभाशुभ के प्रति समदृष्टि यथेष्टस्वरूप सर्वदा अभाव तथा अमानित्वादि साधनों तथा सद्गुणों के बिना प्रयत्न से स्वाभाव से ही अनुवृत्ति परिभाषित होती है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है।

किं बहुनाऽयं देहयात्रामात्रार्थमिच्छनिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनु–भवन्नन्तः करणाभासादीनामवभासकः संस्तदवसानेप्रत्य गानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्य संस्काराणमपि विनाशात्परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिल भेदप्रतिभासरहितम–खण्डब्रह्मावतिष्ठते।। 225।।

अनुवाद

इससे अधिक क्या, यह देह यात्रामात्र के हेतु, कामना, अनिच्छा अथवा अन्यों की आकांक्षा से प्राप्त कराए गए सुखदुःखलक्षणस्वरूप प्रारब्ध (कर्मों) के फलों की अनुभति कराते हुए कारण (इन्द्रियों) के आभासादि को आलोकित करते हुए, उसकी समाप्ति पर आन्तरिकात्मानन्दस्वरूप परब्रह्म में प्राण के लीन हो जाने पर अज्ञान तथा उसके कार्य संस्कारों का विनाश हो जाने से परम कैवल्य (मोक्ष) आनन्दैकरस, सकल भिन्नताओं के आभास से रहित होकर खण्ड रहित ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

व्याख्या

1. इच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि–आरब्धफलान्यनुभवन्–स्वेच्छा प्रारब्ध, अनिच्छा प्रारब्ध तथा परेच्छा प्रारब्ध– इस भाँति प्रारब्ध का भोग तीन प्रकार से होता है।

(अ) स्वेच्छा प्रारब्ध–न्यायपूर्वक जीविका अर्जन में कष्ट अंगीकार करना स्वेच्छा प्रारब्ध है। इन्हें करने के लिए जो अन्तःप्रेरणा होती हैं, प्रारब्ध उसका कारण है।

(आ) अनिच्छा प्रारब्ध–मार्ग में जाते समय बिजली गिर जाना, कोई मुल्यवान् वस्तु प्राप्त हो जाना, जमीन खोदते समय अपार गड़ा हुआ धन मिल जाना आदि सुख रूप भोग जिसको प्राप्त करने की मन में सम्भावना या इच्छा न थी अनायास ही देवकृपा से अपने आप प्राप्त हो गया अनिच्छा प्रारब्ध है।

(इ) परेच्छा प्रारब्ध –बिच्छू का डंक मार देना, जानबुझ कर किसी के द्वारा सताया जाना, आदि दुःख रूप भोग तथा डाक्टर के द्वारा रोगी का रोग निवारण कर दिया जाना, बिना अभिलाषा के दूसरे की सम्पत्ति प्राप्त हो जाना आदि सुखरूप भोग– जो दूसरे ही इच्छा से उपलब्ध होते हैं वे परेच्छा प्रारब्ध कहलाते हैं।

जीवन्मुक्त प्राणी भी इस तीन प्रकार के प्रारब्ध भोग से निर्लिप्त नहीं है। भिक्षा के लिए घूमना उसका स्वेच्छा प्रारब्ध, समाधि दशा में शिष्यों द्वारा अन्नादि दिया जाना परेच्छा प्रारब्ध तथा समाधि दशा में अथवा व्युत्थान काल में पहाड़ से लुढ़क जाना, कांटा लग जाना आदि अनिच्छा प्रारब्ध है।

2. अज्ञानत्कार्यसंस्काराणामपिविनाशात्–जीवमुक्त के प्रारब्ध फल भोग समाप्ति के पश्चात् उसके ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं जीवमुक्ति में प्रारब्ध कर्मनाश न होने से अज्ञानलेश की सत्ता का अनुमान होता है, किन्तु विदेहमुक्ति में वह अज्ञान लेश भी नष्ट हो जाता है। इसका नाश हो जाने से उसके कार्यरूप उसके संस्कार आदि भी नष्ट हो जाते हैं। इस भाँति परममुक्ति के कारण शरीर रूप अज्ञान, लिंग शरीर रूप प्राण तथा स्थूलशरीर सभी आत्यन्तिक रूप से नष्ट हो जाते हैं।

3. परमकैवल्य–जन्मान्तर के कारण स्वरूप त्रिविध कर्मों से संचित कर्म तो ज्ञान से ही नष्ट हो जाते हैं इसलिए देहान्तर प्राप्ति का कोई भी हेतु न होने से वह मुक्त पुरुष परमकैवल्य ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म का ही त्रिकालाबधित अस्तित्व होने से तथा नान्मत्त्व से अविद्या निर्मित होने से ब्रह्म की परमकैवल्य कहा जाता है।

4. आनन्दैकरस –वह परकैवल्य ब्रह्म हमेशा एकरस विशुद्ध आनन्दमात्र होता है, इसलिए आनन्दैकरस कहलाता है।

5. अखिलभेदप्रतिभासरहित–अज्ञानवश सम्पूर्ण भेदाभासों से सर्वथा शून्य होने के कारण वही ब्रह्म अखिलभेदप्रतिभासरहित कहा जाता है।

6. अन्तःकरणाभासादीनामवभासकः–यहाँ 'आभास' का अर्थ प्रतीत न होकर 'विषयाकार वृत्ति' है। जीवन्मुक्त इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की विषयाकारितवृत्तियों का साक्षिरूप से दर्शक होता है।

7. देहयात्रामात्रार्थम् –जीवन्मुक्त केवल शरीर स्थिति के लिए ही भोग्य प्रारब्ध फलों का भोग करता है, इन्द्रियों से तृप्त होने के लिए नहीं।

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' अत्रैव समवलीयन्ते 'विमुक्तष्च विमुच्यते इत्यादिश्रुतेः' ।। 226 ।।

अनुवाद

'उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते', 'यहीं पर अविलीन हो जाते हैं' तथा फिर मुक्ति प्राप्त कर मुक्त हो जाता है, इत्यादि श्रुतियाँ यही कहती हैं।

व्याख्या

1. मृत्युकाल में सामान्य शारीरियों के प्राण उत्क्रमण करते हैं किन्तु निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कर्ता तत्त्वदर्शी के नहीं, क्योंकि उसके समस्त कर्मों का अभाव हो जाने से गमन का कोई कारण नहीं रह जाता है। जैसा कि भाष्यकार ने भी लिखा है–

''तस्य कर्माभावे गमनकारणाभावात् प्राणा वागदयः नोत्क्रामन्तिनोर्ध्व क्रामन्ति देहात्''

गीता भी कहती है–

''शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युक्रामतीश्वरः।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाषयात्।।''

2. **अत्रैव समवलीयन्ते** –जीवन्मुक्त के प्राण इस प्रत्यगभिन्न परमात्मा में लीन हो जाते हैं। उसके प्राण सामान्य शारीरियों की भाँति ऊर्ध्वगमन न करके अपने कारणभूत परब्रह्मरूप में एकीभाव लय को प्राप्त होता है जैसे समुद्र में उठने वाली लहरें समुद्र में ही लीन हो जाती हैं।

3. **विमुक्तष्च विमुच्यते**–विल्सन Essay on the religion of the hindus में लिखता है–

"Though illusion has not really real existence, yet possesses apparent existence and so it is capable of taking the soul captive and again, the Vedantins say, that as illusion is only apparent so the soul's being fettered practical that is as illusion is false so the soul's being fettered is likewise false. Neither was the soul ever actually fettered nor is it now fettered, nor has it to be emancipated".

वह जीवनमुक्त इस लोक में ही अविद्याकृत कर्म और काम के बन्धनों से विमुक्त होकर विमुक्त (जीवनन्मुक्त) होता हुआ ही विमुक्त (विदेहमुक्त) हो जाता है (पुनः शरीर धारण नहीं करता)। वृहदारण्यक के अनुसार–

''यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समष्नुते।।''

सुबोधिनी टीका में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है–

''अयं जीवन्मुक्तो जीवन्नेव दृश्यमानाद्रागद्वेषादिबन्धनाद्विशेषेण मुक्तः सन् वर्तमानदेहपाते सति भाविदेहबन्धनाद्विशेषेण मुच्यते।।''

योगवासिष्ठ में इस विदेहमुक्ति तथा जीवन्मुक्ति में भेद प्रदर्शित करते हुए कहा गया–

''जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालासात्कृते।

भवत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव।।''

विदेहमुक्ति के पश्चात् जन्ममरण रूप संसार–चक्र आत्यन्तिक–रूप से निवृत्त हो जाते हैं इसलिए मुक्त को अन्य शरीर धारण नहीं करना पड़ता है।

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. तत्त्वज्ञान किसे बाधित करता है?
2. मुक्ति की अवस्थाएं कितनी हैं?
3. जीवन्मुक्त हुए जीव को क्या धारण नहीं करना पड़ता?
4. स्वरूपाखण्ड ब्रह्मज्ञानेन में ब्रह्मज्ञान से क्या तात्पर्य है?

22.5 सारांष

यद्यपि यह सत्य है कि तत्त्ज्ञान मिथ्याज्ञान को बाधित करता है तथापि मिथ्याज्ञान बाधित होने पर भी संस्कारवश कुछ काल तक अनुवर्तित होता रहता है। यथा भ्रमवश दीखने वाले दो चन्द्रमाओं का ज्ञान भ्रम की निवृत्ति होने पर संस्कारवश कुछ काल तक अनुवर्तित होता रहता है उसी प्रकार अज्ञानवश भासित होने वाले देहेन्द्रियादि के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर भी पूर्वसंस्कारों के कारण कुछ काल तक (प्रारब्धनाशपर्यन्त) उनका अनुवर्तन होता रहता है। जिस भाँति वस्त्र के जल जाने पर भी कुछ काल तक उसमें वस्त्रत्वबुद्धि अनुवर्तित होती रहती है उसी भाँति तत्वज्ञान से अविद्योत्पन्न देहादि के कारण बाधित हो जाने से उनका मिथ्यात्व निश्चय होने पर भी पूर्वसंस्कारों के कारण देहादि अनुवर्तित होते रहते हैं, यही 'बाधितानुवृत्ति' कहलाती है।

22.6 कठिन शब्दावली

तत्वदृषाम् –तत्व ज्ञान को जानने वाले
यथेष्टाचरणम् –स्वेच्छाचरण
अयत्नतः –परिश्रम के बिना ही
विमुक्तश्च –मुक्ति प्राप्त करना
विमुच्यते –मुक्त हो जाना
अपवर्ग –कैवल्य (मोक्ष)

22.7 स्वयं आकलन प्रष्नों के उत्तर

स्वयं आंकलन प्रष्न –1

1. ब्रह्मज्ञान
2. आत्मबुद्धि

स्वयं आंकलन प्रष्न –2

1. मिथ्याज्ञान को
2. दो
3. अन्य शरीर
4. ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान

22.8 अनुषंसित ग्रन्थ

1. वेदान्तसार, डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी एवं प्रो. किरणलता क्षत्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ – 250002।
2. वेदान्तसार, सं. रामशरण शास्त्री, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।

3. वेदान्तसार, डॉ. राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, बैंग्लो राड, दिल्ली – 7।

4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टल, दिल्ली।

22.9 अभ्यास प्रश्न

1. वेदान्तसार के अनुसार मुक्ति की अवस्थाओं का सविस्तार वर्णन करें।
2. वेदान्तसार के अनुसार जीवन्मुक्ति का लक्षण बताएं।
3. जीवन्मुक्ति के पश्चात् जीव पुनः शरीर धारण क्यों नहीं करता? स्पष्ट करें।
4. 'स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव' इत्यादिश्रुतेः।।इस सूत्र की व्याख्या करें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कष्चित्दुःखभाग्भवेत्।।

। ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।